बौद्धदर्शन की पृष्ठभूमि में

न्यायशास्त्रीय ईश्वरवाद

लेखक

डा० किशोरनाथ झा

रीडर

गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद-२

प्रकाशन

सिद्धिरस्तु प्रकाशन

नई दिल्ली

अन्तरङ्ग मित्र द्वारा प्राप्त अनुदान से प्रकाशित
बौद्ध दर्शन की पृष्ठभूमि में न्यायशास्त्रीय ईश्वरवाद

ISBN : 978-81-957865-8-9

प्रकाशक : सिद्धिरस्तु प्रकाशन, नई दिल्ली

पुस्तक प्राप्ति स्थान : किशोर नाथ झा
ग्राम. बिट्ठो पो. सरिसब पाही
जिला. मधुबनी ८४७४२४ (विहार)
मो. न. ७७६५८१७१८८, ९४३१४७३६८३

संस्करण : द्वितीय संस्करण २५० प्रति (२०२३) ई०

मूल्य : चार सौ (४००) रुपये मात्र

मुद्रक : एकेडमी प्रेस, दारागंज
प्रयागराज–२११००६
मो. ९४१५२१४७८८

समर्पण

जिनके श्री चरणों में बैठकर वात्सल्य-लाभ के साथ
विद्या-सरोवर में अवगाहन का सौभाग्य मिला,
उन
परम श्रद्धास्पद गुरुवर्य प्रो० श्री अनन्तलाल ठाकुर
महाशय
(भूतपूर्व निदेशक, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना को)

सविनय सपर्पित

- किशोरनाथ झा

इस द्वितीय संस्करण का आमुख

१९९० के दशक मे इसका प्रथम संस्करण मित्रों तथा गुरुजनों के आग्रह पर मैंने प्रकाशित किया था। इसकी सारी प्रतियाँ बिक गयीं या उपहृत हुई तो भी विद्वज्जनों की मांग पत्र आता रहा। किसी आत्मीय व्यक्ति ने आदर पूर्वक इसके प्रकाशनार्थ व्यय भार भी स्वीकार किया तब टालना संभव नहीं हुआ। वार्धक्य एवं अस्वास्थ्य के कारण प्रूफ स्वयं नहीं देख सका। मित्रवर प. श्री जीवेश्वर झा (इलाहाबाद) तथा पण्डित वर डॉ. काशीनाथ झा (प्राध्यापक, नन्दन संस्कृत महाविद्यालय ईसहपुर, मधुबनी) के सहयोग से प्रूफ संशोधन हो सका। दोनों ही विद्वानों का मैं आभार स्वीकार करता हूँ।

मैं आत्मीय मित्रवर सम्मान्य श्रीमान् सुरेन्द्रमणि त्रिपाठी का (एकेडेमी प्रेस के संचालक) तथा उनके सहयोगी कर्मचारी का कृतज्ञ हूँ। इन्होंने धैर्य पूर्वक अनेक प्रूफ देकर यथा संभव परिशुद्ध छपाई की व्यवस्था की।

मय्यवे जीर्णतांयातु यत्त्वयो पकृत्ते सुधीः।

मैं कृतज्ञ हूँ तथा आशीर्वाद देता हूँ सिद्धिरस्तु प्रकाशन को विशेषकर चि.श्री उज्ज्वल झा को जिन्होने इसमें अनेक प्रकारों की सहायता की है। इस संस्करण में अस्वास्थ्य वश मैं प्रूफ स्वयं नहीं देख सका अतः त्रुटियाँ अवश्य हुई होगी। सुधी पाठकों से निवेदन है कि मित्र की दृष्टि से देखने का अनुग्रह करेंगे। शिव की तरह दोषों को गले में छिपाकर गुणों को शिर से धारण करें।

गुण दोषौ वुधौ गृहणन्निदुक्ष्वेड़ा विवेश्वरः।
शिरसा शलाघतेपूर्व कर कण्ठे नियच्छति।।

इति

सुधीजनों का स्नेहाधीन
किशोर नाथ झा

प्राक्कथन

सबसे पहले मैं अपने इष्टदेवी के चरणों में कोटिशः प्रणाम अर्पित करता हूँ जिनकी अनुकम्पा से मेरा यश शोधप्रबन्ध आज प्रकाशित होकर सुधी पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है।

मै यहाँ प्रधान रूप से 'जनकल्याण ट्रस्ट' दरभंगा के संस्थापक तथा महाराज कामेश्वर सिंह, राजदरभंगा के भगिनीपति होने के नाते 'ओझा जी के' नाम से सुपरिचित, उदारचेता, अपने पितृव्यचरण, स्वर्गीय मुकुन्द झा जी का स्मरण करना चाहूँगा, जिनकी सदिच्छा तथा तत्परता इसके प्रकाशन के मुख्य हेतु है। क़ाश! आज वे जीवित होते।

मुझे वह शुभ दिन १६ मई, ७५ ई. खूब याद है जिस दिन पितृव्य, चरण ने रुग्णावस्था में अकस्मात् मुझे बुलाकर पूछा था कि तुम्हारा शोध प्रबन्ध प्रकाशित क्यों नहीं होता है? उसके प्रकाशन के लिए तुम क्या सोच रहे हो? 'जनकल्याण ट्रस्ट' से इसके प्रकाशनार्थ अनुदान के लिए आवेदन क्यों नहीं करते? आदि। उन्होने रुचि लेकर मुझसे इसके लिए आवेदन कराया तथा आवेदन पर अपनी अनुशंसा भी लिखी। इसके पहले मैं जनकल्याण ट्रस्ट को जानता भी नहीं था। मैं समझता हूँ कि प्राक्तन पुण्य के साथ-साथ मेरे निष्कारण शुभचिंतक आदरणीय **डा० रामकरण शर्मा जी, कुलपति,** कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय का प्रच्छन्न रूप से इस प्रकाशन में हाथ रहा है। पितृव्यचरण से उक्त वार्ता के ठीक एक दिन पहले आदरणीय डा० शर्मा साहब उक्त विश्वविद्यालय के किसी कार्य के लिए मेरे पितृव्यचरण से मिलने प्रयाग आए थे। रोग से असमर्थता के कारण पितृव्यचरण ने अपने प्रतिनिधि रूप में मुझे ही उनके स्वागत सत्कार आदि का भार सौंपा था। यद्यपि उन दोनों की बातचीत के समय मैं वहाँ अनुपस्थित रहा तथा डा० शर्मा साहब से इस विषय में पहले कभी बात भी नहीं हुई थी तथापि सम्भव है कि मेरे पुण्योदय के प्रभाव से आदरणीय डा० शर्मा साहब ने उस समय मेरे शोध प्रबन्ध के प्रकाशन का जिक्र उनसे किया हो। अन्यथा उसी दिन पितृव्यचरण ने मुझे बुलाकर यह बात क्यों

चलाई, इसका कार्य कारणभाव नहीं बैठता है। अतः इसमें मैं अपने अन्तःकरण को ही प्रमाण मानता हूँ तथा डा० शर्मा साहब के समक्ष नत मस्तक हूँ।

'जनकल्याण ट्रस्ट' के अधिकारियों ने ढाई हजार रुपये का अनुदान देकर मुद्रण के अधिकांश व्यय भार से मुझे मुक्त किया हैं इस उदारता के लिए मैं उस ट्रस्ट के सभी सदस्यों का कृतज्ञ हूँ। तथा हार्दिक आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

समय के अन्तराल में अनेक दिन बाधाओं के उपस्थित होने पर ट्रस्ट के संस्थापक की आदरणीया पुत्रवधू आयुष्मान् **श्री शंकर झा की माँ** ने अनुदान के हस्तगत कराने में जो सहायता की है, उनकी यह महती कृपा अविस्मरणीय है–

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।

मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे पूज्यचरण प्रोफेसर **श्रीमान् अनन्तलाल ठाकुर** जैसे लगनशील विद्याव्यसनी का सान्निध्य प्राप्त हुआ। उनके श्रीचरणों में बैठकर न केवल विद्या का ही उपार्जन मैं कर सका अपितु लोकयात्रा के पथ का आलोकमय पाथेय भी प्राप्त किया। इनका वात्सल्यपूर्ण व्यवहार, शिष्य के हृदय में रुचि जगाकर स्थिरता से अध्यापन का कौशल, सदाचार के पालन में उत्कट आग्रह, शिष्यों की शुभचिन्ता के प्रति जागरूकता तथा स्वभाव का सारल्य आदि सद्गुण निकट स्थित व्यक्ति को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकते हैं। यहीं मुझे मिथिला संस्कृत शोध संस्थान, दरभंगा के मेरे सभी अध्यापकों का स्मरण हो रहा है, जिनके आशीर्वाद आज भी मेरे संबल है तथा जिन लोगों ने मुझ जैसे शिष्य को भी विद्या के आलोकमय सौरभ से सुवासित किया है। डा० **बाबूजी मिश्र** का कुसुमाञ्जलि पढ़ाना तथा **पण्डित श्री शोभाकान्त जयदेव झा** के प्रमाणवार्तिक –अलंकार के अध्यापन का स्मरण कर आज भी मन पुलकित हो उठता है। अपने दीक्षागुरु तथा अक्षरारम्भ से लेकर व्याकरण की अंतिम विषयक शिक्षा के प्रदाता पितृव्यचरण **पं० श्री चन्द्रमाधव झा** का स्मरण भी हो जाताहै। जिनका रक्षणावेक्षण बाल्यकाल से ही मुझे मिला है। इस सभी गुरुजनों का सौहार्दपूर्ण व्यवहार तथा धैर्यपूर्वक बिलम्ब करके भी शास्त्रीय मर्मों का सरल रीति से शिष्यों में संक्रान्त करा देना स्पृहणीय तथा अनुकरणीय है। मुझे इस बात का गर्व है कि मेरे गुरुओं में महाकवि कालिदास के आदर्श गुरु का स्वरूप अनायास ही प्राप्त है। मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने गुरु के विषय में कहा है–

जन कल्याण ट्रस्ट के संस्थापक मुकुन्द झा जी



जातो बेहटमूलसत्करमहावंशेऽवदाते प्रधीः
बिट्ठोवासिगणेशदत्ततनयो मान्यः सतां श्रोत्रियः।।
जामाताथ रमेश्वरस्य मिथिलाभूपालचूडामणेः।
दीनार्तोद्धरणार्थशक्ति सुमतिः श्रीमान्मुकुन्दो जयेत्।।

शिलष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां-
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।

इन गुरुचरणों के प्रति मुझ जैसा अकिंचन शिष्य प्रणामाञ्जलि के अतिरिक्त कुछ दे ही क्या सकता है?

मैंने न्यायविद्या पैतृक संपत्ति के रूप में पायी है। पूज्य पिता पण्डित श्री कृष्णमाधव झा से ही न्यायविद्या का अभ्यास आरम्भ किया, जिसे आज भी यथावसर चलाता आ रहा हूँ, इनके प्रति किसी प्रकार की औपचारिकता न संभव है, न शोभा ही देती है। **आचार्य उदयन** ने तो ईश्वर में भी पिता का रूप देखा है-

स्वाम्यं यस्य निजं जगत्सु जनितेष्वादौ ततः पालनं
व्युत्पत्तेः करणं हिताहितविधिव्यासेधसम्भावनम् ।
भूतोक्तिः सहजा कृपा निरुपधिर्यत्नस्तदर्थात्मक-
स्तस्मै पूर्वगुरूत्तमाय जगतामीशाय पित्रे नमः।।

एक दुर्लभ वस्तु बौद्ध आचार्य शुभगुप्त की ईश्वरभंगकारिका का भोट (तिब्बती भाषा) से संस्कृत में पुनर्निर्माण; पुण्यश्लोक, परमगुरु, महामहोपाध्याय स्वर्गीय **विधुशेखर भट्टाचार्य** द्वारा सम्पन्न हुआ था, जो पहले कभी भी प्रकाशित नहीं हो सका। गुरु परम्परा से अपने गुरुदेव के माध्यम से वे कारिकाएँ मुझे प्राप्त हुई। मैंने यथामति यहाँ उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है। सुधी पाठक ही इसके तथ्यातथ्य के विवेचन में प्रमाण हैं। इस ईश्वरभंगकरिका के उपयोग के लिए मैं परमगुरु के चरणों में शतशः प्रणाम अर्पित करता हुँ। यहीं पितृगुरु, महामहोपाध्याय स्वर्गीय **फणिभूषणतर्कवागीश** जी के चरणों मे भी प्रणतिपरम्परा प्रस्तुत करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनकी बंगभाषामयी न्यायदर्शन की व्याख्या से मैं बहुत उपकृत हूँ। यह व्याख्या अपने आप में न्यायशास्त्र का विश्वकोष ही है। स्वनामधन्य महामहोपाध्याय **डा० सर गंगानाथ झा** कृत न्यायदर्शन के अंग्रेजी अनुवाद से भी मेरा उपकार हुआ है। अतएव उनके चरणो में भी मेरा शतशः नमन अर्पित है।

यहाँ आत्मीय जनों के प्रति भी कृतवेदिता का ज्ञापन मेरा कर्तव्य है, जिनकी अनेक प्रकार की सहायता मुझे इसके लेखन एवं प्रकाशन के समय उपलब्ध हुईं है। इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय है सारस्वतबन्धु डा० **गयाचरण त्रिपाठी** जी

(प्राचार्य), **डा० जगन्नाथ पाठक**, **डा० राघव प्रसाद चौधरी**, **डा०माया मालवीय**, (व्याख्याता) **पंडित श्री जीवेश्वर झा** (सहायक संग्रहाध्यक्ष), **श्री रामानन्द थपल्लियाल** (पुस्तकालय सहायक) गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, **डा० हरिहर झा**, प्रवाचक, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरूपति तथा **डा० श्रीनारायण मिश्र**, प्राध्यापक , संस्कृत विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी। इन लोगों ने सुअवसर सत्परामर्श, संवर्द्धना, उत्साह तथा सम्पादन संबन्धी विविध सहायता प्रदान कर मुझे अनुगृहीत किया है।

इस पुस्तक के लेखन से प्रकाशन तक मेरी धर्मपत्नी का जो सहायता पूर्ण योगदान रहा है, वह सर्वथा संस्मरणीय है। इन्होंने इस अवधि में मुझे केवल अनिवार्य गृह कार्यो के भार से ही मुक्त नहीं रखा अपितु इस ग्रन्थ के लिए आवश्यक सामग्री के संकलन में भी सर्वदा सोत्साह हाथ बंटाया। परिवार के अन्य सदस्यों ने जो इस प्रकाशन में योगदान किया है। तदर्थ वे सभी हार्दिक शुभाशीर्वाद के पात्र हैं।

बहुत सावधानी के बाद भी पुस्तक के मुद्रण में कुछ दोष रह गये हैं। एतदर्थ विद्वान् पाठकों के समक्ष क्षमा-याचना ही शरण है। हिन्दी भाषा में इस विषय की प्रायः यह प्रथम पुस्तक है, जिसमें न्यायवैशेषिक तथा बौद्धन्याय के ईश्वरवाद संबन्धी तलस्पर्शी विवेचना का प्रयत्न किया गया है। विद्वान् पाठकों से निवेदन है कि पुस्तक में विवेचित विषय के युक्तायुक्तत्व पर अपना मत व्यक्त करते हुए लेखक को सूचित करें, जिससे कि सुधी पाठकों के द्वारा अभिव्यक्त आवश्यक तथ्यों पर आगामी संस्करण में अवधान दिया जा सके।

अन्त में मनोयोग पूर्वक इसके मुद्रण में सहयोगी सम्मान्य **श्री सुरेन्द्र मणि त्रिपाठी जी**, व्यवस्थापक एकेडेमी प्रेस, इलाहाबाद मेरे साधुवाद के पात्र हैं। इस ग्रन्थ को इस रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय इन्हीं को है।

विजयादशमी (वि० सं०२०३५)
बिट्ठो

विनयावनत
किशोरनाथ झा
रीडर
गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
मोतीलाल नेहरू पार्क, इलाहाबाद-२

विषय-सूची

भूमिका

'न्याय कुसुमांजलि' के अवतरण में ईश्वर चर्चा के प्रयोजन का प्रतिपादन करते हुए **आचार्य उदयन** ने कहा है कि ईश्वर जाति, गोत्र, प्रवर,चरण, कुल, तथा धर्म की भाँति संसार के प्रारम्भ से ही सुप्रसिद्ध है। किसी न किसी प्रकार के तत्काल प्रसिद्ध धार्मिक तथा दार्शनिक सम्प्रदाय एवं जन साधारण भी ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते रहे हैं। इनमें से किसी सम्प्रदाय की ईश्वर मान्यता यदि शास्त्र प्रमाण पर आधारित रही है तो कोई युक्तियों पर ही इसे निर्भर मानता रहा है। किसी ने ईश्वर में दृढ़ विश्वास के कारण इसकी उपासना की तो किसी ने इसके अस्तित्व में अपना सन्देह भी प्रकट किया। भारतीय दार्शनिक संप्रदायों में ईश्वरवाद के क्रमिक विकास का इतिहास अति विचित्र एवं रोचक है। इनमें भी युक्तिवादी नैयायिकों का मतवाद विशेष आलोचनीय है। **आचार्य उदयन** के समय से उनकी **न्यायकुसुमांजलि** ईश्वरवाद के प्रतिष्ठापक अद्वितीय ग्रन्थ रूप में विद्वत् समाज में आदर पाया है। आधुनिक काल में उदयन के पूर्ववर्ती ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के परिचय सुलभ होने से प्राचीन नैयायिक तथा दार्शनिकों में ईश्वरवाद का प्रचार तथा प्रसार किस प्रकार हुआ था–इसका स्वरूप बहुत अंश तक गवेषक विद्वानों के समक्ष प्रकाशित हो सका है। अतएव ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में न्यायशास्त्रीय ईश्वरवाद का अध्ययन अब सरल हो गया है।

दार्शनिक सम्प्रदायों के परस्पर खण्डन मण्डन के ऐतिहासिक क्रम ने आजकल गवेषकों की दृष्टि आकृष्ठ करना आरम्भ किया है। इसमें नैयायिक तथा बौद्ध दार्शनिकों का पारस्परिक सम्बन्ध तथा उसी के आधार पर उन दोनों सम्प्रदायों की अभिवृद्धि का चित्र विशेष आलोचना की अपेक्षा रखता है। सनातन न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक युग का इतिहास अन्धकार से आच्छन्न है। **महर्षि गौतम** के न्यायसूत्र में सबसे पहले शास्त्र का जो रूप परिलक्षित होता है, उसमें प्राचीन आचार्यों की देन अवश्य ही रही है। न्याय सूत्रों की गहराई से देखने पर यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है। न्यायशास्त्र में ईश्वरवाद की सम्भवतः ऐसे ही किसी प्राचीन नैयायिक सम्प्रदाय की देन रही है। गौतम दर्शन में प्रावादुक मतों

की चर्चा में प्रसंग वश तीन सूत्रों में ईश्वरवाद का अवतरण हुआ है, जो क्रमशः न्यायसूत्र की व्याख्या परम्पराओं में एवं न्याय के प्रकरण ग्रन्थों में पल्लवित, पुष्पित तथा फलित हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी धारा का विशेष आलोचन लेखक का उद्देश्य है।

इस प्रसंग में निरीश्वर वादी बौद्धों की दृष्टि भी विशेष आलोचना की अपेक्षा रखती है। **भगवान् बुद्ध** ने ईश्वर के विषय में मौन धारण कर लिया है। इस प्रस्थान के आदि काल में ईश्वर की चर्चा नहीं के बराबर थी। महायान के उद्भव और प्रचार के साथ साथ युक्तिशास्त्र का अध्ययन एवं प्रयोग की आवश्यकता बौद्धों को अनुभव हुई। क्रमशःबौद्ध के विभिन्न वाद ग्रन्थों की रचना हुई। इनमें प्रधानतःन्याय सम्मत षोडश पदार्थों का उल्लेख पूर्णतया अथवा आंशिक रूप से होता रहा है। यह निश्चित है कि शून्यवादी बौद्ध बाह्य और आभ्यन्तर तत्त्वों के यथार्थवादी नैयायिक की दृष्टि से अपनी दृष्टि भिन्न रखते हैं एवं परस्पर विरोधी है। किन्तु युक्तिशास्त्र के क्षेत्र में बौद्ध दार्शनिकों ने बहुत दूर तक न्यायशास्त्र की शृंखला का अनुसरण किया है। नवीन आविष्कृत बौद्ध के वादग्रन्थों के अध्ययन से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। पदार्थों की संख्या लक्षण और अवान्तरविभाग आदि में दोनों सम्प्रदायों के आदि काल में विशेष सादृश्य परिलक्षित होता है। इस विषय में रोम के पण्डित गुसेफ दुच्ची महाशय तथा महापण्डित **राहुल सांकृत्यायन** ने जो आविष्कार एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। वह सर्वथा श्लाघनीय है।

वात्स्यायन कृत **न्यायभाष्य गौतम दर्शन** के उपलब्ध व्याख्यानों में सबसे प्राचीन है।इससे पहले उक्त दर्शन का एक भी टीका ग्रन्थ लिखा गया था या नही– इसका निश्चय नहीं हो सका है। किन्तु सूत्रकार के बाद वात्स्यायन के काल तक न्यायशास्त्र में जितनी प्रगति हुई है– इसका चित्र वात्स्यायन ने अपने भाष्य में उपनिबद्ध कर दिया है। साथ–साथ विभिन्न बौद्ध मतों का उल्लेख और सयुक्तिक खण्डन करते हुए इन्होंने तत्काल पर्यन्त बौद्ध तथा नैयायिक के बीच हुए विचार विमर्शों का स्वरूप अंशतः उद्घाटित किया है। बौद्धों के विभिन्न अवान्तर प्रस्थानों में योगाचार विज्ञानवाद सम्प्रदाय ने युक्तिशास्त्र का अधिक अनुसरण किया है। इसका दार्शनिक साहित्य की मूल संस्कृत में तथा तिब्बती में अनूदित होकर सुरक्षित है। **उद्योतकर का न्यायवार्त्तिक** तथा उपलब्ध तात्कालिक ग्रंन्थान्तर की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य **वसुबन्धु** तथा उनके शिष्य **दिङ्नाग** आदि ने अपने अपने ग्रन्थों में वात्स्यायन के मतों का विशेष विवेचन के साथ खण्डन किया है।

दिङ्नाग के **प्रमाणसमुच्चय** में न्याय के पदार्थों का विवरण कम मिलता है। किन्तु वैशेषिक पदार्थो का तो स्पष्टतः अनुसरण किया ही गया है। उदाहरण स्वरूप कहा जा सकता है कि दिङ्नाग से प्राचीन बौद्ध आचार्य प्रमाण के चार तथा हेत्वाभास के पाँच प्रकार मानते रहे, जो न्याय सम्प्रदाय के अनुरूप है। किन्तु दिङ्नाग ने प्रमाण के दो भागों तथा हेत्वाभास के तीन भागों को माना है। जिसे वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसरण का सुस्पष्ट प्रमाण कहा जा सकता है। **दिङ्नाग** ने न्यायशास्त्र में एक नवीन युग की सृष्टि की है। अतएव मध्ययुगीय भारतीय तर्कशास्त्र के जनक के रूप में इनकी प्रतिष्ठा विद्वत्समाज में चली आ रही है। न्याय-सम्प्रदाय में **शंकर, अविद्धकर्ण, विश्वरूप, अध्ययन भाविविक्त** तथा **वाचस्पति के गुरु त्रिलोचन** आदि न्यायशास्त्र के व्याख्याकार के रूप में उद्धृत हुए हैं। इनमें से कितने व्यक्ति न्यायबार्तिककार से प्राचीन भी रहे होंगे। बौद्ध एवं जैन सम्प्रदायों के ग्रन्थों में इन लोगों के ग्रन्थ संदर्भ इतस्ततः उद्धृत है। यहाँ संबद्ध सन्दर्भों का पर्यालोचन भी यथास्थान किया गया है। न्यायवार्तिककार **उद्योतकर** ने अपने **न्यायवार्तिक** में **वसुबन्धु** तथा **दिङ्नाग** आदि बौद्ध आचार्यों के मतों का खण्डन करके **वात्स्यायन** के पक्ष को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया है। **दिङ्नाग** के प्रशिष्य **धर्मकीर्ति** ने **प्रमाणवार्तिक** आदि ग्रन्थों में **उद्योतकर** तथा तात्कालिक नैयायिक आचार्यो के मतों को उठाकर खण्डन किया है। **न्यायमंजरीकार त्रिलोचन** के शिष्य **वाचस्पति** मिश्र ने न्यायवार्तिक की तात्पर्य टीका तथा अन्यान्य ग्रन्थों में धर्मकीर्ति के मतों को उठाकर खण्डन किया है और अपना मत स्थापित किया है। **वाचस्पति** के बाद न्याय सम्प्रदाय में आचार्य उदयन का आविर्भाव हुआ। उनके ग्रन्थों में **प्रज्ञाकर, ज्ञान श्रीमित्र** तथा रत्नकीर्ति नामक बौद्ध आचार्यो के मतों का खण्डन उपलब्ध होता है। सौभाग्य का विषय है कि **महापंडित राहुल सांकृत्यायन** के भगीरथ प्रयत्न से धर्मकीर्ति के **प्रमाण वार्तिक पर प्रभाकर गुप्त** की व्याख्या व्याख्यालंकार ज्ञानश्रीमित्र एवं रत्नकीर्ति की निबंधावली दीर्घकाल के बाद उपलब्ध हुई है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से **उद्योतकर** के समसामयिक विभिन्न अज्ञातपूर्व न्यायाचार्यो का परिचय भी उपलब्ध हो सका है। **ज्ञानश्रीमित्र तथा रत्नकीर्ति** के निबंधो में **वाचस्पति** की मान्यताओं के विशेष विवेचन तथा **उदयन** के ग्रन्थों में इन दोनों ही बौद्ध आचार्यो के मतों के खण्डन की तुलना करने से न्यायशास्त्र के इतिहास की अंधकारमय स्थिति पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। यहाँ इन ग्रन्थों में उपलब्ध ईश्वरवाद सम्बंधी सन्दर्भों का यथासंभव उपयोग किया गया है।

आचार्य उदयन के बाद वैदेशिक आक्रमण से नालन्दा तथा विक्रमशिला प्रभृति बौद्धविद्या केन्द्रों के विध्वंस हो जाने से प्राचीन न्यायशास्त्र की प्रगति में भी अवरोध हो गया। परवर्ती काल में नैयायिकों ने मीमांसक तथा वेदान्ती आदि से प्रतिस्पर्द्धा करके ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। किन्तु उपयुक्त प्रतिस्पर्धी के अभाव में शास्त्र की अग्रगति पूर्ववत नहीं हो सकी। परवर्ती काल में मिथिला तथा बंगदेश में नैयायिकगण विभिन्न उपसंप्रदायों में विभक्त होकर शास्त्र में वृद्धि करने लगे। इससे न्यायशास्त्र के विषय में सूक्ष्मता तथा तलप्रवेशिता आयी।

यह ग्रन्थ न्यायशास्त्र में ईश्वरवाद की गति तथा प्रकृति के निर्धारण में सीमाबद्ध है। फलतः न्यायसूत्र से लेकर **आचार्य उदयन** की न्यायकुसुमाञ्जलि तक की प्रधानतया यहाँ आलोचना की गयी है। परिशिष्ट में परवर्ती कालीन न्यायशास्त्र में ईश्वरवाद के रेखाचित्र का निर्माण मात्र सम्भव हो सका है। प्रस्तुत विषय के परिष्कार में न्यायसूत्र से लेकर **आचार्य उदयन** की **कुसुमांजलि** एवं **तात्पर्यपरिशुद्धि** पर्यन्त ग्रन्थ समूह का अध्ययन पर्याप्त सामग्री उपस्थित करता है। बौद्ध दर्शन के क्षेत्र में भी इससे संबद्ध **प्रमाणवार्त्तिक** तथा **तत्वसंग्रह** आदि ग्रन्थों का अध्ययन नितान्त सहायक सिद्ध. हुआ। अनुपलब्ध न्याय तथा बौद्ध ग्रन्थों के इतस्ततः उपलब्ध सन्दर्भ समूह ने भी विवेच्य विषय को सर्वथा परिपुष्ट किया है।

अनेक शताब्दी की परम्परा में परस्पर संश्लिस्ट आचार्यो के गवेषणा लब्ध विषयों के प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि बौद्ध तथा न्यायदर्शन का पारस्परिक सम्बंध बहुत घनिष्ठ रहा। एक से दूसरा प्रभावित हुआ है। प्रयोजन के अनुसार आचार्यो ने पूर्ववर्ती मत तथा सम्प्रदाय का परित्याग करके नवीन मार्ग को अपनाया है। प्राचीन मान्यताओं के समर्थन के लिए नूतन व्याख्या सरणि का आविष्कार भी किया है, केवल कल्पना के आधार पर यहाँ किसी भी विषय को उपस्थित नहीं किया गया है। प्रत्येक पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष की ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक आधार प्रायः प्राप्त है। अति दुरूह किन्तु अपेक्षित विषयों के तात्विक तथा ऐतिहासिक पुनः संघटन में लेखक के परिश्रम पूर्वक किये गये विवेचन की सफलता विद्वान पाठकों के विचार पर निर्भर है। विभिन्न मूलों से प्राप्त ईश्वरवाद संबन्धी ध्वंसावशेषों के एकत्रीकरण और यथायोग्य विन्यास के लिए यथामति प्रयत्न किया गया है। आशा है कि न्यायशास्त्रीय अन्यान्य विषयों की भी ऐसी आलोचना यथावत् की जायेगी। वर्तमान शतक के प्रारम्भ से बौद्ध दर्शन की पृष्ठभूमि में न्यायपदार्थो का विशिष्ट विवेचन विद्वानों ने

यत्र तत्र प्रारम्भ किया। ज्ञानश्रीमित्र, रत्नकीर्ति तथा शुभगुप्त के ग्रन्थों में उपलब्ध एवं अन्यत्र दुष्प्राप सामग्री समूह का प्रचलित ग्रन्थों में समाविष्ट ईश्वरवाद के साथ संश्लिष्ट करने की चेष्टा में मुझ जैसे सामान्य व्यक्ति का पदस्खलन संभव है तथापि विषय के गौरव से प्रेरित होकर ही इसमें लेखक की प्रवृत्ति हुई है। साध्यानुसार विषय विवरण तथा विभिन्न मतों के सम्बंध-स्थापन एवं उसके निर्णय में त्रुटि नहीं होने देने की चेष्टा की गयी है। अन्त में वाचस्पति का निम्नलिखित पद्य ही मेरा भी परितोष करता है।

आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मादीनाम्।
रथ्योकमिव गंगाप्रवाहपातः पवित्रयति।।

–(भामती–मंगलाचरण)

किशोरनाथ झा

प्रथम अध्याय

अनुच्छेद (१)

दार्शनिक ईश्वरवाद का मूल

भारतीय सभ्यता के आदि भाग में वैदिक ऋषिगण अपार शक्ति सम्पन्न विभिन्न देवताओं की स्तुति करते थे। इसका उदाहरण **ऋग्वेद** आदि प्राचीनतम ग्रन्थों में सुरक्षित है। सर्वप्रथम इन्द्र, अग्नि तथा वायु आदि प्राकृतिक वस्तु समूह देवता रूप में प्रतिष्ठित हुए। क्रमशः प्राकृतिक वस्तुओं में अधिष्ठित अधिदेवता विशेष की कल्पना हुई। इस तरह वैदिक देवताओं की संख्या क्रमशः बढ़ती गई, पक्षान्तर में क्रमशः एकेश्वरवाद की ओर भी प्रगति होने लगी। ऋग्वेदं में **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** सुनने में आया। पश्चात् अवान्तर वैदिक साहित्य में इसी एकदेवतावाद का प्रचार हुआ। निरुक्तकार **यास्क** ने भूलोक, अन्तरिक्षलोक तथा **द्युलोक** गत स्थान भेद के कारण पहले देवताओं के तीन प्रकारों का वर्णन किया है। तथा उन देवों को शरीरी एवं असीम शक्ति सम्पन्न कहा है। किन्तु बाद में इन्होंने भी एकेश्वरवाद की पुष्टि की है।[१] सर्वानुक्रमणिकाकार **शौनक** का कहना है कि वेदों में केवल एक ही देवता की स्तुति की गई है और वह देवता सूर्य हैं। उपनिषदों का एक ब्रह्मवाद भी इसी परम्परा की चरम परिणति है।

वैदिक युग के मध्य भाग में प्रत्येक वैदिक मन्त्र का सम्बन्ध यज्ञ से स्थापित किया गया। कहा जाता है कि वेद मन्त्र यज्ञात्मक क्रिया में ही सार्थक है। जिसका सम्बन्ध यज्ञ से नहीं है, वह निरर्थक है।[२] किन्तु उपनिषत् साहित्य में इस यज्ञवाद का प्राधान्य क्रमशः शिथिल होता गया, तथा ज्ञानवाद का उदय हुआ, जो आत्मवाद तथा परमात्मवाद का उद्भव एवं विकास रूप है। इस समय में यज्ञों की आध्यात्मिक व्याख्या होने लगी एवं विभिन्न धर्मों तथा दार्शनिक प्रस्थानों का उद्भव होता गया। इन प्रस्थानों के उद्भव में बहुलांशतः वैयक्तिक ईश्वरवाद ने भित्तिभूमि का काम किया। इस प्रसङ्ग में पौराणिक त्रिदेववाद की मान्यता का आविर्भाव अविस्मरणीय है। पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश इन तीनों देवताओं की कल्पना की गई है। किसी पुराण में यदि एक देवता का प्राधान्य है, तो बहुत स्थलों में अपर दो देवताओं की निन्दा नहीं की गयी है। अथ च तीनों देवताओं में ऐक्य प्रतिपादन का प्रयास भी निपुणता के साथ किया गया है।

---

१. महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। निरुक्त ७।२।५।

२. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। मी. सू.१।२।१

दार्शनिक प्रस्थानों में उपलब्ध ईश्वरवाद की पृष्ठभूमि वैदिक तथा पौराणिक देववाद ही रही होगी। किसी दर्शन में यदि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान तथा विश्वस्त्रष्टा एक ईश्वर युक्तियों के द्वारा प्रतिपादित है, तो अपर दर्शन सप्रमाण ईश्वर का खण्डन भी करता है। किसी किसी दर्शन की प्रारम्भिक स्थिति में ईश्वरवाद की चर्चा नहीं हैं, किन्तु पश्चात् दृढ़तापूर्वक इसका प्रतिष्ठापन हुआ है। न्याय दर्शन का स्थान इसी वर्ग में है।

प्रकृत में न्यायशास्त्रीय ईश्वरवाद के विकास के विवेचन से पहले सम सामयिक विभिन्न दर्शनों में स्थित ईश्वरवाद की ओर विहंगावलोकन करना आवश्यक प्रतीत होता है। साधारणतः दार्शनिक सम्प्रदायों को वैदिक एवं अवैदिक रूप दो भागों में विभक्त किया जाता है। पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदांत), सांख्य, पातञ्जल योग, न्याय तथा वैशेषिक –ये छह सम्प्रदाय वैदिक दर्शन माने जाते हैं। तथा चार्वाक, जैन एवं बौद्धों का दर्शन अवैदिक कोटि में आता है। इनके अतिरिक्त भी कितने दर्शनों की गणना प्रसिद्ध है। यथा पाशुपत, शैव, पूर्णप्रज्ञ, पञ्चरात्र तथा वैखानस आदि। एक दर्शन में भी दृष्टिभेद के कारण विभिन्न उपसम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई। यथा वेदान्त का अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत आदि। फलतः ईश्वर के स्वरूप निर्णय में तथा इसके अस्तित्व को लेकर खण्डन–मण्डन में विचार का पार्थक्य होता गया। सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिसम्पन्न, संसार का कर्त्ता ईश्वर प्रधानतया शिव तथा विष्णु रूप में कल्पित होता है। इस दृष्टि से ईश्वरवादी दर्शनों को दो भागों में रखा जा सकता है, शैव दर्शन तथा वैष्णव दर्शन।

अति प्राचीन भागवत सम्प्रदाय विष्णु को पुरूषोत्तम रूप में देखता है। भगवान् विष्णु वेद में प्रसिद्ध आदित्यों का अन्यतम है। यही समय–समय पर भिन्न–भिन्न अवतार लेकर संसार का देख रेख करता है। शात्वतदेशीय क्षत्रियों में इसकी उपासना प्रचुर रूप में प्रचलित हुई थी। व्याकरण **महाभाष्य**[१] तथा विभिन्न प्राचीन शिलालेखों में इसी को वासुदेव रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह वासुदेव भगवान् विष्णु का अवतार था। मथुरा के क्षत्रिय वसुदेव का पुत्र श्रीकृष्ण भी वासुदेव ही है। जो कंस का शत्रु था तथा युद्धभूमि कुरुक्षेत्र में अर्जुन का सारथि रहा और वही श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेशक हैं। यहाँ दार्शनिकों में वैमत्य रहने पर भी साधारण बुद्धि से भी इस उपर्युक्त सिद्धान्त की प्रतीति होती है। कहीं–कहीं प्रति वासुदेव की कल्पना मिलती है, जिससे शाश्वत्वतों की देवता वासुदेव श्रीकृष्ण से भिन्न प्रतीत होता है। किन्तु महाभारत में बलदेव, प्रद्युम्न तथा अनिरूद्ध के साथ इस वासुदेव को लेकर चतुर्व्यूह की कल्पना की गई है।[२] इस कल्पना में संबद्ध भगवान् वासुदेव ऐतिहासिक

---

१. वासुदेवार्जुनाभ्यां वृञ् ४।३।१८। पा०सू० भाष्य।

२. म. भा. (गीता प्रेस) १२।३३९, २५,३६,४१,७२–७३।

श्रीकृष्ण से अभिन्न है–इस मत को विद्वानों की मान्यता प्राप्त है। वासुदेव ने गीताशास्त्र का प्रवचन किया था, जो भागवत धर्म का प्रतिपादक होकर भी सर्व सम्प्रदाय मान्य ईश्वरवाद के व्यापक रूप में प्रसिद्ध है।

ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के प्रतिपादक गीताशास्त्र में ईश्वर की उदार कल्पना मिलती है। यहाँ ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता तथा सर्वात्मक प्रतिपादित है। कहा जाता है कि श्रीकृष्ण ने उपनिषदों का दोहन करके गीता रूप सार का संग्रह किया।[१] भगवद्गीता परमेश्वर को जीवों के शुभ एवं अशुभ कर्मों के प्रयोजक कर्त्ता रूप में प्रतिपादित करती हैं। अतएव श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि "इन नृपतियों को हमने पहले ही मार दिया था। अतएव हे अर्जुन! तुम यहाँ निमित्त मात्र हो। वस्तुतः कार्य का सम्पादन मैंने ही किया है।[२] न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं नहीं था अथवा तुम (अर्जुन) नहीं था, अथवा ये राजा लोग नहीं थे, और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे। इस उपदेश में अहं पद से परमात्मा विवक्षित है। अतएव **आचार्य रामानुज** ने यहाँ कहा है–**यथा अहं सर्वेश्वरः परमात्मा नित्य इति नात्र संशयः।**[३]

गीता के तृतीय अध्याय में २२ से ३० श्लोक पर्यन्त श्रीकृष्ण ने अपना ईश्वरत्व स्पष्ट प्रतिपादित किया हैं।

हे अर्जुन! मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है[४] यह उक्ति जीव तथा ईश्वर में भेद प्रतिपादित करती है। क्योंकि जीवात्मा कर्मों का कर्त्ता है और ईश्वर को कुछ करणीय नहीं है। 'उत्तम पुरूष तो कोई और है, जो तीनों लोको में प्रवेश करके सबों का धारण तथा पोषण करता है।' वह अव्यय, ईश्वर तथा परमात्मा शब्द से पुकारा जाता है।[५] इस उक्ति में ईश्वर को त्रिलोक का धारण कर्त्ता एवं अव्यय रूप कण्ठतः उपपादित किया गया है।

१.सर्वोपनिषदों गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। गीतामहात्म्य।
२.मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।
भगवदगीता ११।१३।
३.न त्वेवाहं जातु नासम् न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्। भगवदगीता। २।१२।
४.न मे पार्थोऽस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन। भगवदगीता ३।२२
५. गीता १५।१७

पुरुष इस शरीर में स्थित होकर भी कुछ और ही है।वह साक्षी होने से उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबको धारण करने वाला होने से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता, बह्मा आदि का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्द धन होने से परमात्मा है।[१] यहाँ ईश्वर का स्वरूप स्पष्ट ही है।

न्यायशास्त्र सम्मत ईश्वर के साथ भगवद्गीता में प्रतिपादित ईश्वर की तुलना से ज्ञात होता है कि संसार के सृष्टिकर्ता के विषय में दोनों का बहुत अंश में भावगत ऐक्य है। भगवद्गीता में प्राप्त ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व विषयक वाक्यों को यहाँ उद्धृत किया जाता है, जो उपर्युक्त कथा का पोषक एवं प्रमाण है।

'गुण और कर्मों के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरे द्वारा रचे गये है।[२] यहाँ ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व स्पष्ट है। इसी तरह 'मैं सम्पूर्ण जगत्' का उत्पत्ति तथा प्रलय रूप हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण हूँ।[३] सर्वज्ञ अनादि सब के नियन्ता सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वस्तुओं के धारण तथा पोषण करने वाला अचिन्त्य स्वरूप, सूर्य के सदृश नित्य सेवन चेतन, प्रकाश रूप, अविद्या से रहित, परमात्मा का स्मरण करना चाहिए।[४] इस उक्ति से परमात्मा का सृष्टिकर्तृत्व पुष्ट होता है। हे अर्जुन! मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चर तथा अचर रूप सकल संसार की रचना करती है।[५] इस सम्पूर्ण जगत् का धारण करने वाला एवं कर्मों के फल देने वाला पिता, माता और पितामह मैं हूँ।[६] मैं उत्पत्ति तथा प्रलय रूप हूँ और सकल संसार का आधार हूँ एवं अविनाशी कारण मैं ही हूँ।[७]

अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान कीर्ति और अपकीर्ति आदि प्राणियों में नाना प्रकार के भाव मुझसे ही होते हैं।[८] मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ।[९] हे अर्जुन ! मैं सकल भूतों का कारण हूँ।[१०] हे अर्जुन ! ऐश्वर्यशाली तथा क्रांन्तियुक्त जो वस्तुएँ देखने को मिलती है, वह मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई है।[११] हे महात्मन्! ब्रह्मा के भी आदिकर्त्ता और सर्बों में श्रेष्ठ आपको कैसे प्रणाम नहीं करें। हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास ! जो सत् असत् तथा इन दोनों से भिन्न अक्षर है, वह आपही हैं।[१२] जल, वायु, अग्नि, यम, वरुण, चन्द्र और प्रजाओं का स्वामी ब्रह्मा है और आप इस ब्रह्मा के भी पिता हैं। अतएव आपको मेरा सहस्त्र प्रमाण स्वीकार हो।[१३] इत्यादि भगवद्गीता की उक्तियाँ ईश्वर के सृष्टि कर्तत्व को सिद्ध करता है।

---

१. गीता-१३।२२, २ गीता-४।१३, ३. गीता-७।६, ४. गीता-८।९, ५. गीता ९।१०, ६. गीता-९।१७, ७. गीता-९।१८, ८. गीता १०।५, ९.गीता-१०।८, १०. गीता-१०।३९, ११. गीता-१०।४१, १२. गीता-११-३७, १३. गीता- ११।३६

यद्यपि प्रधानतः शिववाचक ईश्वर तथा महेश्वर शब्द गीता में (१३/२३ तथा १८/१६) विष्णु के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु विष्णु तथा शिव में यह सामञ्जस्य परवर्ती काल के प्रभाव का फल प्रतीत होता है।

ऋग्वेद में रुद्र की स्तुति आती है। वैदिक देवताओं में इसका अधिक प्राधान्य नहीं हैं। रुद्र पथ, प्रान्तर एवं पशुओं के पालक देवता रूप में वर्णित है। वह शस्त्र धारण करता है तथा मनुष्य एवं गाय आदि का नाश भी करता है, **यजुर्वेद** का रुद्राध्याय इसके विभिन्न दैवी शक्तियों का वर्णन करता है। कहा गया है कि इसी रुद्र की कृपा से पशुओं की रक्षा होती है। तथापि यह कुलुञ्च कर्मार, निषाद तथा तस्कर आदि का अधिपति है। यह संसार का रक्षक है, गिरिशायी, कृत्तिवास, पशुपति, कपर्दी, शर्व तथा भव आदि नामों से इसका उल्लेख हुआ है।

अथर्वद में रुद्र का स्वरूप इससे भी उन्नततर है। यहाँ विभिन्न रूपों में शिव का उल्लेख मिलता है। शिव द्विपद एवं चतुष्पद प्राणियों का अधिपति है। सहस्राक्ष अतिवेद्धा, अभिन्नलक्ष्य जातुधानों का संहारक, स्तुति करने वालों का रक्षक पिनाकधारी तथा राजा रूप में इसी रुद्र का प्रतिपादन वहाँ किया गया है। यहाँ रुद्र को अग्नि से अभिन्न भी कहा गया है। भव, शर्व महादेव पशुपति तथा सदाशिव आदि भी इसी रुद्र के नामान्तर है। भव ब्रात्यो का तथा पूर्व दिशा का अधिपति है। एवं उग्र उत्तर दिशा का, रुद्र अधोदिशा का, महादेव ऊर्ध्व दिशा का तथा ईशान विदिशाओं का (नैऋत्य तथा ईशान आदि का) अधिपति है।[१] प्रतीत होता है कि लौकिक व्यवहार में शिव की अष्ठ मूर्तियों की कल्पना का बीज यहाँ निहित है। पञ्चभूत, सूर्य, चन्द्र तथा यजमान रूप शिव की अष्टमूर्त्तियों का विवरण महाकवि कालिदास के **अभिज्ञान शाकुन्तलम्** नाटक के नान्दी श्लोक में एवं विभिन्न शैवग्रन्थों में उपलब्ध होता है। आजकल भी शिव की अष्टमूर्तियों की पूजा देखी जाती है।

उपनिषद् साहित्य में **श्वेताश्वतर उपनिषद्** बहुत प्राचीन नहीं होने पर भी इस प्रसंग में अपना पृथक् स्थान रखता है। **श्वेताश्वतर** विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का संगम स्थल है। **ऋग्वेद** तथा **यजुर्वेद संहिता**, **मुण्डक** एवं **कठ** आदि **उपनिषदों** से मन्त्रों का उद्धरण यहाँ उपस्थित किया गया है। विभिन्न विषयों को परस्पर मिलाकर एकेश्वरवाद मूलक दर्शनों को खड़ा करने में इसका ही श्रेय है। साथ-साथ **योग** एवं **सांख्य** मतवादों का संकलन भी यहाँ देखा जाता है। यद्यपि रुद्र, शिव, ईशान तथा महेश्वर शब्दों का वाच्य शिव ही इसका प्रधान प्रपिपाद्य है। तथापि यह उपनिषद् किसी सम्प्रदाय विशेष से संबद्ध नहीं है। **शंकर** तथा **रामानुज** आदि आचार्यो ने अपने अपने ग्रन्थों में इसके मन्त्रों का उद्धरण प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। सांख्य, योग, न्याय

१. अथर्ववेद -१५।५।१ से ७ मन्त्र।

एवं वैशेषिक ग्रन्थों में श्वेताश्वतर का व्यवहार उपजीव्य रूप में किया गया है। इस उपनिषद के अनुसार हर (शिव) एकमात्र देवता है तथा वह अक्षर पुरुष है। वह अक्षरों पर आधिपत्य करता है।[१] ईश्वर एक, अव्यय तथा माया का अधिपति है। यह अपनी शक्तियों से प्रत्येक लोक को वशीभूत करता है। और यह एकाकी ही उद्भव और प्रलय में सांसारिक व्यवस्था को अपनी शक्ति से स्वाधीन रखता है। इसके ज्ञाता अमर होते हैं।[२] रुद्र एक है, द्वितीय नहीं। वह अपने सामर्थ्य से त्रिभुवनों का शासन करता है। वह प्रत्येक प्राणी के अन्त में वर्तमान है। वह सम्पूर्ण भुवनों की रचना, रक्षा तथा संहार भी करता है।[३] परमात्मा को सब ओर नेत्र हैं सब तरफ मुख हैं। हाथ और पाँव भी इनके सब ओर है। वह परमात्मदेव आद्य भूलोक तथा द्युलोक की रचना करता है।[४] वह (परमात्मा) इन्द्र आदि देवताओं की उत्पत्ति का और विभूतियों का कारण हैं। वह संसार का अधिपति तथा सर्वज्ञ है।[५] रुद्र की मूर्ति पुण्यों को प्रकाश करने वाली है तथा कल्याण स्वरूप एवं प्रसन्न है।[६] उससे प्रार्थना की जाती है कि वह अपने हाथ में जो संहार का वाण रखा है, उसे कल्याणकर बनावें।[७] ईश्वर इस विराट रूप संसार से भिन्न है तथा महान् एवं व्यापक है।[८] यही एक विश्व का परिवेष्टा या उपसंहर्ता है। इससे बढ़कर और कोई नही है। इससे सूक्ष्मतर तथा महान् भी कोई नहीं है। जो अपनी महिमा में प्रकाशमान होता हुआ वृक्ष के समान निश्चल भाव से स्थित है, उसी पुरुष से यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है।[९] ईश्वर सर्वव्यापक तथा सभी प्राणियों के अन्तःकरण में विद्यमान है। अतएव सर्वगत तथा मंगलरूप है।[१०] ईश्वर अनादि है, सर्वव्यापक है तथा सम्पूर्ण लोकों का उत्पादक है।[११] दो सुन्दर पक्षियाँ परस्पर मैत्री से एक ही वृक्ष पर इकट्ठा होकर रहती है। एक ही वृक्ष को दोनों सेवती है, उन दोनों में से एक उसके स्वादिष्ट फलों का उपभोग करती है और दूसरी उसे नहीं पाकर केवल देखती रहती है। यहाँ पक्षी से क्रमशः जीवात्मा तथा परमात्मा ही विवक्षित है।[११] ईश्वर मायावी है। यह सम्पूर्ण जगत् उस माया विशिष्ट ईश्वर के एक देश में व्याप्त है।[१३] परमेश्वर ही ब्रह्मा आदि देवताओं का उत्पत्ति का कारण है और इस विश्व का स्वामी है। ईश्वर देवताओं का स्वामी है तथा सम्पूर्ण भू आदि लोक में स्थित है। यह परमेश्वर सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है। इस संसार के कर्त्ता भोगदायक तथा कल्याण रूप ईश्वर के ज्ञान से जीव परम शान्ति का लाभ करता है। यही ईश्वर अतीतकाल में सम्पूर्ण भुवन का रक्षक था और आज भी विश्व का स्वामी तथा भूतों में छिपा हुआ है[१३] ब्रह्मा आदि ईश्वरों के भी महान् ईश्वर देवताओं के भी सर्वोत्कृष्ट स्वामी, प्रजापतियों के भी पति तथा भुवनों के स्वामी को हम स्तुति करते हैं। इसकी महेश्वरता के वर्णन में कहा गया है कि ईश्वर का न शरीर है न इन्द्रियाँ है। उससे बढ़कर कोई नहीं है। उसकी पराशक्ति सबको अपने वश में करती है[१४] एक ही परमात्मा सभी प्राणियों में स्थित है, वह कर्मों का

---

१. श्वेता० उप० १।१०।, २ श्वेता० उप०३।१ ।, ३. श्वेता उप०३।२, ४. श्वेता० उप०३।३।
५. श्वेता उप.३।४, ६. श्वेता उप.३।५, ७. श्वेता उप.३।६, ८. श्वेता उप.३।७,
९. श्वेता.उप.३।९, १० श्वेता उप.३।११, ११. श्वेता उप.४।४।, १२. श्वेता उप.१।०४।,०६
१३. श्वेता. उ.३। १४. ४।६। श्वेता उप.४।१२-१५।, . श्वेता० उप.६।७-८।

अधिष्ठाता है तथा सबों का साक्षी हैं, वह अद्वैत तथा निर्गुण है। परमात्मा एक है, अद्वितीय है तथा सभी प्राणियों का बीज है। परमात्मा नित्यों में नित्य हैं, चेतनों के चेनत है तथा जीवों की काम पूरी करता है। परमात्मा के प्रकाश से ही सूर्य तथा चन्द्रमा आदि का प्रकाश होता है।[१] ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है, विश्व का वेत्ता है, आत्मयोनि है, स्वयम्भू है, सम्पूर्ण विद्याओं का भण्डार है तथा संसार के मोक्ष, बन्ध और स्थिति का कारण है।[२]

पुनश्च, शिव के स्वरूप वर्णन के बिना उसके तत्त्वज्ञान के विना जन्म तथा मृत्यु के पाश से मुक्त होना सम्भव नहीं है। सांख्य तथा योग विधि की भी यही उपयोगिता है एवं प्रतीत होता है कि औपनिषदिक आत्मा के साथ परमात्मा का अस्तित्व भी श्वेताश्वतर को मान्य है।

केन उपनिषद् के उमा हैमवती उपाख्यान में प्रतिपादित ब्रह्म भी रुद्र शिव के साथ अभिन्न है क्योंकि रुद्र शिव की शक्ति मानी गई है।

अथर्वशिरस उपनिषद में ब्रह्मा तथा विष्णु के साथ रुद्र का अभेद कल्पित है। यहाँ भी विश्व की सृष्टि तथा संहारकर्त्ता रूप में रुद्र वर्णित हैं। उसका अपर नाम ईशान है। कारण वह ईशानियों के अधिपति है। प्रसंगवश यहाँ पाशुपत शास्त्र में प्रसिद्ध भस्मस्नान तथा भस्मलेपन प्रभृति का उल्लेख है, तथा पाशुपत में विमोक्षण की प्रशंसा की गई है।

महाभारत में विभिन्न सन्दर्भों में शिव की चर्चा मिलती है। वन पर्व में किरात रूपी शिव को सन्तुष्ट करके अर्जुन ने पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति की थी। सौप्तिकपर्व में अश्वत्थामा शिव की कृपा से ही पाण्डव शिविर में धृष्टद्युम्न आदि का विनाश कर सके। शान्तिपर्व में श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को रुद्र के यज्ञभाग प्राप्ति का विवरण सुनाया है। अनुशासनपर्व में शिव की सहस्रनाम स्तुति मिलती है। साथ-साथ शिव के माहात्म्य का बोधक उपाख्यान भी उपलब्ध है। शिव उपासना के साथ इतस्ततः शिवलिंगोपासना का विवरण भी मिलता है। लिंग शब्द के एक विशेष अर्थ को लेकर बहुत विद्वानों ने सम्पूर्ण शैवप्रस्थान को ही हेय दृष्टि से देखा है। **ऋग्वेद** में शिश्नदेवों का उल्लेख आता है किन्तु एक आध उल्लेख पर निर्भर करके सम्पूर्ण शैव प्रस्थान की निन्दा करना उचित नहीं है। भारत भूमि के प्रत्येक प्रान्त में अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप में शिव पूजा की धारा प्रवहमान है। संस्कृत भाषा में लिंग शब्द का अर्थ चिह्न या प्रतीक है। दार्शनिक दृष्टि से जैसे प्रणव ब्रह्म का प्रतीक है, इसी तरह शिवलिंग महादेव का प्रतीक है।

○

---

१. श्वेता. उ. ६।११-१४।, २. श्वेता० उप० ६:१६।

अनुच्छेद-२
दार्शनिक सम्प्रदायों में ईश्वरवाद (विहगावलोकन)

दार्शनिक सम्प्रदायों में ईश्वरवाद की चर्चा के लिए यहाँ प्राचीन होने से सर्वप्रथम पाशुपत प्रस्थान का उल्लेख उचित है। पाशुपत मत को पुराण आदि में साधारणतः अवैदिक कहा गया है। किन्तु उपलब्ध **पाशुपतसूत्रों** की चर्चा से इसकी पुष्टि नहीं होती है। **पाशुपतसूत्रों** में सद्योजात, वामदेव अघोर, तत्पुरुष और ईशान के मन्त्र **तैत्तिरीयश्रुति** प्रभृति से संगृहीत है। इस सूत्र के **कौण्डिन्य** कृत **भाष्य** में विषय के स्पष्टीकरण के लिए प्रमाण रूप में **रामायण, महाभारत, मनुसंहिता** एवं **पुराणों** से श्लोकों का उद्धरण दिया गया है। अतएव पाशुपत सूत्रानुसारी साधक को अवैदिक कहना उचित नहीं है। पाशुपत मतावलम्बियों के कुछ आचार प्रचलित वेद पन्थियों का अनुमोदित नहीं है। किन्तु इस प्रसंग में यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि प्रसिद्ध वेदवादी साधकों में भी चतुर्थ आश्रम में आचरणगत वैलक्षण्य देखा जाता है। पाशुपत प्रसिद्ध अत्याश्रमी शब्द सांसारिक आश्रम को अतिक्रान्त करने वाले भिक्षु का बोधक है। किन्तु इसका अवैदिकत्व बोधक नहीं हैं। **पञ्चाध्यायी पाशुपत** योगशास्त्रोक्त योगविधि और आचार का पालन तथा उक्त पञ्चदेवो के महामन्त्रों का जप एवं ध्यान भगवान् महेश्वर की प्रसाद से अप्रमादी साधकों को रुद्र-सायुज्य का लाभ कराता है। **भासर्वज्ञ** ने **गणकारिका** की **व्याख्या** में पाशुपत शास्त्र सिद्ध रुद्र के स्वरूप वर्णन के प्रसंग में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है, जिसका आशय निम्नोक्त रूप है-

'भगवान् शंकर के ज्ञापक चिह्न रूप से गंगा, सर्प, कपाल, चन्द्र की कला, पार्वती, जटा तथा भस्म आदि प्रसिद्ध है। किन्तु प्राचीन पाशुपत साधकों के उपास्य ईश्वर का स्वरूप इन चिन्हों से रहित है।[१]

इस मत में शिव ओंकार से अभिन्न हैं।[२] यह शिव सृष्टि एवं संहार का कर्त्ता[३]-

---

१. न स्वर्धुनी न फणिनो न कपाल दाम।
नेन्दोः कला न गिरिजा न जटा न भस्म।।
यत्रान्यदेव च न किञ्चिदुपास्महे तत्।
रूपं पुराणमुनिशीलितमीश्वरस्य ।। गणका० व्या० पृ० २९।

२. ओंकारमनुध्यायीत। पाशु० सू० ५/२४

३. भवोद्भवश्च। पाशु० सूत्र २/४४।
महासृष्टिसंहारकर्तृत्वम् भवोद्भवत्त्वम्। गणका० व्या० पृ० ११।

है। वह आठ प्रकार के गुणों से युक्त है। दर्शन, श्रवण , मनन , विज्ञान , सर्वज्ञत्व, मनोजबित्व, कामरूपित्व तथा विकरणत्व इन आठ गुणों का आधान ईश्वर में होता है।[1]

१. सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट वस्तु को भी देखना इस मत में 'दर्शन' है।

२. अशेष शब्द विषयक सिद्धि का ज्ञान 'श्रवण' है।

३. सभी वस्तुओं की चिन्ता एवं सिद्धि 'मनन' है।

४. शास्त्र का निरवशेष ज्ञान 'विज्ञान' है।

५. सकल विषयक ज्ञान 'सर्वज्ञता' है।

६. निरतिशय तथा शीघ्र करना ही 'मनोजवित्व' है

७. कर्म आदि से निरपेक्ष ईश्वर की इच्छा से सांसारिक पदार्थो की कर्तृता तथा अधिष्ठातृता 'कामरूपित्व' है।

८. शरीर तथा इन्द्रिय आदि से रहित होने पर निरतिशय ऐश्वर्य से संबद्ध रहना 'विकरणधर्मिता' है।[2] ईश्वर में इन गुणों का अस्तित्व प्रमाणित करता है कि वह अशरीरी है तथा कर्म आदि से निरपेक्ष होकर संसार की रचना करता है। इस मत के अनुसार शिव क्रीड़ा से संसार का निर्माण करता है।[3] अतएव उसके लिए देव शब्द का प्रयोग सार्थक है। देव शब्द क्रीड़ार्थक 'दिवु धातु से बना है।

पाशुपत साधकों को कठोर संयम पालन कर संसार से विरक्त होने का उपाय यहाँ दिखाया गया है। भस्मस्नान भस्मशयन, निर्माल्य एवं लिंग का धारण आदि पाशुपत साधकों के लिए अवश्य कर्तव्य माना गया है।

सर्वदर्शन संग्रह आदि में इस मत का वर्णन **नकुलीश पाशुपत** नाम से मिलता है।[4] कायावतरण नामक स्थान में ईश्वर ब्राह्मण रूपमें अवतार लेकर पाशुपत मत का प्रचार किये थे।

---

१. यदेतद्दर्शनाद्यं विकरणान्तम् माहेश्वरमैश्वर्यम्। कौ. भा. १।२१

२. सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाशेषचाक्षु षस्पर्शादिविषयं ज्ञानम् दर्शनम्। अशेषशब्दविषयं सिद्धिज्ञानं श्रवणम्। समस्तचिन्ताविषयं सिद्धिज्ञानं मननम् निरवशेषशास्त्रविषयं ग्रन्थतोऽर्थतश्च सिद्धिज्ञानं विज्ञानम्।

उक्तानुक्ताशेषार्थेषु समासविस्तरविभागविशेषतश्च तत्त्वव्याप्तसदोदित सिद्धिज्ञानं सर्वज्ञत्वम्। सर्वदर्शन संग्रह पृ. ३०५।।

निरतिशयं शीघ्रकारित्वम् मनोजवित्वम्। कर्मादिनिरपेक्षस्येच्छयैवानन्त कर्तृत्वाधिष्ठातृत्वम् कामरूपित्वम्। संभृतकायेन्द्रियस्यापि निरतिशयैश्वर्य सम्बंन्धित्वम् विकरणधर्मित्वम्। गणकारिकाव्याख्या -पृ० १०।

३. पाशुपतसूत्र तथा कौण्डिन्य कृत भाष्य २।२।

४. सर्वदर्शनसंग्रह पृ०६५ न० पा० द०।

उस समय उनके हाथ में लगुड़ (लाठी) था। अतएव यह मत नकुलीश या लकुलीश नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसके अतिरिक्त शैव सम्प्रदाय जीव कर्म सापेक्ष ईश्वर को संसार का कर्त्ता मानता है। इसका कहना है कि ईश्वर यदि प्राणियों के शुभ या अशुभ कर्म की अपेक्षा नहीं करे तो उसमें वैषम्य तथा नैर्घृण्य आदि अपरिहार्य दोषों की आपत्ति हो जाएगी। वह यदि अपनी इच्छा से किसी को सुखी तथा किसी को दुखी बनाता है, तो यही प्रमाणित करता है कि वह साधारण मानव की तरह राग द्वेष से युक्त है। अतएव शैव सम्प्रदाय जीवकर्म सापेक्ष ईश्वर को संसार का कर्त्ता मानता हैं।[१]

न्यायदर्शन के साथ इन प्रस्थानों का गम्भीर सम्बन्ध रहा है। **गुणरत्न सूरि** ने समसामयिक स्थिति की परीक्षा करते हुए वैशेषिकों को पाशुपत तथा नैयायिकों को शैव प्रतिपादित किया है।[२] प्राचीन नैयायिक वस्तुतः शिव के उपासक थे। उनकी कृतियों का मंगलाचरण ही इसका प्रमाण है। न्यायवार्त्तिककार **उद्योतकर** पाशुपताचार्य थे। **वाचस्पति** तथा **उदयन** ने अपने अपने ग्रन्थों में शिव के प्रति भक्ति का प्रदर्शन किया है। **न्यायसार** के रचयिता **भासर्वज्ञ** तथा काश्मीरी नैयायिक **जयन्त भट्ट** ने भी अपने अपने ग्रन्थों में शिव भक्ति का प्रचुर प्रमाण प्रस्तुत किया है। केवल आधुनिक युग के नैयायिक **मथुरानाथ, विश्वनाथ** तथा **राधामोहन गोस्वामी** प्रभृति वैष्णव हुए हैं। जैसा कि इन लोगों के ग्रन्थों में किए गये **मंगलाचरण** में विदित होता है किन्तु यह इनके जन्मस्थान का ही प्रभाव कहा जाएगा, आलोचित शास्त्र का नहीं।

वैशेषिक दर्शन न्यायशास्त्र का समान तन्त्र है। दोनों दर्शनों में बहुत स्थलों में एक वाक्यता रहने पर भी कहीं कहीं मतभेद भी परिलक्षित होता है। **राजशेखर** के अनुसार[३] **महर्षि कणाद** ने उलूक रूपधारी भगवान् शंकर से वैशेषिक शास्त्र का लाभ किया। **उपस्कार** के रचयिता **शंकर मिश्र** का कथ्य है[४] कि ईश्वर के नियोग एवं प्रसाद से महर्षि कणाद ने वैशेषिक शास्त्र का प्रणयन किया। **पदार्थधर्मसंग्रह** ग्रन्थ की समाप्ति श्लोक में भी प्रतिपादित हैं[५] कि **महर्षि कणाद** ने योगाचार विभूति के द्वारा महेश्वर को सन्तुष्ट करके वैशेषिक शास्त्र का निर्माण किया।

---

१. कर्मादिसापेक्षः परमेश्वरः कारणम्। सर्वदर्शन संग्रह, शैवदर्शन पृ० ३२०।

२. नैयायिकाः सदा शिवभक्तत्वाच्छैवा इत्युच्यन्ते वैशेषिकास्तु पाशुपता इति। षडदर्शनसमुच्चय पृ० ७८

३. इह किल पूर्वमजिह्मब्रह्माभ्यासदूरीकृतप्रमादाय मुनये कणादाय स्वयमीश्वरः उलूकरूपधारी प्रत्यक्षीभूय द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायलक्षणं पदार्थषट्कमुपदिदेश। तदस महर्षिःलोकानुकम्पया षट्पदार्थरहस्य प्रपञ्चनपराणि सूत्राणि रचयाञ्चकार । वै. द. परिशिष्ट ८, पृ०२२० जी. ओ. एस.।

४. श्रूयते हीश्वरनियोगप्रसादावधिगम्य कणादो महर्षिः शास्त्रं प्रणीतवान्। उपस्कार पृ०१६, कलकत्ता संस्करण १८६१।

५. योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम्
तेने वैशेषिकं शास्त्रम् ....।। पदार्थधर्मसंग्रह, पृ०३२९।

कणाद सूत्रों में ईश्वर तथा तद्वाचक किसी शब्द का प्रयोग नहीं हैं। अतएव सन्देह उपस्थित होता है कि वैशेषिक शास्त्र के आदिम स्थिति में ईश्वर स्वीकृत था या नहीं। वैशेषिक सूत्रों के ऊपर रावण कृत प्राचीन भाष्य, अपर प्रणीत 'वाक्य' नामक वार्तिक तथा 'कटन्दी' टीका थी, जो आजकल उपलब्ध नहीं है। इसलिए प्राचीन स्थिति के विषय में निर्णय करना कष्ट साध्य है।

प्रशस्तमति कृत वैशेषिक भाष्य टीका का एक अनुच्छेद तत्वसंग्रह की पंजिका व्याख्या[१] में उद्धृत है। जिससे प्राचीन वैशेषिक भाष्य में ईश्वर की मान्यता का अनुमान किया जा सकता है। उक्त सन्दर्भ **प्रशस्तपाद** कृत **पदार्थधर्मसंग्रह** के साथ प्रायः अभिन्न है। किन्तु उक्त पंजिका में उपलब्ध **प्रशस्तमति** के अन्यान्य सन्दर्भ **पदार्थधर्मसंग्रह** में नहीं मिलता है। अतः यह कहा जा सकता है कि **पदार्थधर्मसंग्रह प्रशस्तमति** कृत उक्त भाष्य टीका का सार संग्रह रूप है। **पदार्थधर्मसंग्रह** में **प्रशस्तपाद** ने स्पष्ट रूप से ईश्वर को संसार के कर्त्ता तथा संहर्ता रूप में माना है।[२] **पदार्थधर्मसग्रह** के मंगल तथा समाप्ति श्लोकों में क्रमशः ईश्वर तथा महेश्वर शब्द का उल्लेख हुआ है। परवर्ती वैशेषिक साहित्य में **चन्द्रमतिकृत दशपदार्थ शास्त्र** को छोड़कर प्रायः सर्वत्र ही ईश्वर माना गया है। **सांख्यकारिका** की व्याख्या **युक्तिदीपिका** कहती है कि **कणाद प्रस्थान** में ईश्वर का अस्तित्व नहीं था। **पाशुपत** मत से प्रभावित होकर परवर्ती वैशेषिक आचार्यो ने ईश्वर की मान्यता स्थापित की है।[३]

आचार्य व्योमशिव ने **पदार्थधर्मसंग्रह** की व्याख्या **व्योमवती** में ईश्वर के प्रसंग में कहा है कि अचेतन पदार्थ चेतना से अधिष्ठित होने पर कार्य में प्रवृत्त होता है। जैसे तन्तु जुलाहा से अधिष्ठित होकर पट निर्माण में प्रवृत्त होता देखा जाता है। इसी तरह प्रत्येक कर्म चेतन से अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्त होता है। उसका अधिष्ठाता जीव नहीं हो सकता है। जीवात्मा को उसका परिज्ञान ही नहीं रहता है, क्योंकि जीवात्मा इन्द्रियजन्य ज्ञान का साक्षात्कार करता है और कर्म विषयक ज्ञान (अदृष्ट) इन्द्रियजन्य नहीं है। अपि च, किसी वस्तु के ज्ञान के अभाव में उसका अधिष्ठाता होना सम्भव नहीं है और अचेतन स्वयं अथवा अकस्मात् किसी कार्य के लिए प्रवृत नहीं हो सकता है। इसलिए अचेतन के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है।[४]

---

१. तत्त्वसंग्रह, पृ.४३।

२. पदार्थधर्मसंग्रह सृष्टिसंहारप्रकरण, पृ. ४८।

३. कणादानामीश्वरोऽस्तीति पाशुपतोपज्ञमेतत् यु०दी०पृ०८८।।

४. तथादि सर्वमचेतनं चेतनाधिष्ठितं प्रवर्तमानं दृष्टम्। यथा तन्त्वादि तथा च कर्मादि। न चास्मदाद्यात्मेवाधिष्ठायकः। तस्य तद्विषयकज्ञानाभावात्। तथा चास्मदाद्यात्मनो न कर्मविषयं ज्ञानमिन्द्रियजम्। नापि परमाण्वादि विषयम्। न च तदभावे तस्य प्रेरकं दृष्टम्। न चेतनस्याकस्मात् प्रवृत्तिरूपलब्धा। प्रवृत्तौ वापरनिष्पन्नेऽपि कार्ये प्रवर्तेत विवेकशून्यत्वात्। व्यों पृ० ३०८

प्रत्येक कर्त्ता पहले कारक के स्वरूप का अवधारण करता है। इसके बाद उसी इच्छा होती है कि इससे अमुक कार्य का सम्पादन करना चाहिए। पुनः वह उसके लिए प्रयास करता है। तथा क्रमशः शारीरिक व्यापारों के द्वारा उसमें लग जाता है। और अभिलषित कार्य के कारण का अधिष्ठान करता है। अवधारण नहीं करके, बिना इच्छा से बिना प्रयास से तथा शारीरिक व्यापार के अभीव में कर्ता किसी कार्य का सम्पादक नहीं कर सकता है। इस तरह व्यवहार के दर्शन से ज्ञात होता है कि किसी कार्य की उत्पत्ति में कर्त्ता का शरीर भी अपेक्षित है। अत एव तनु भुवन आदि कार्य की उत्पत्ति में कर्त्ता का शरीर अपेक्षित है। तनु भुवन आदि के कर्ता रूप में अशरीरी ईश्वर का अनुमान व्यप्तिग्राहक प्रमाण से बाधित है। ईश्वर साधक उक्त अनुमान का हेतु बाध दोष से युक्त है। यदि च अशरीरित्व विशेषण को साध्य अंश से हटादिया जाए तो विरुद्ध नामक हेत्वाभास हो जाता है।

इस पूर्व पक्ष को उठाकर श्रीधन ने न्याय कन्दली में कहा है कि कर्त्ता का शरीर होना आवश्यक नहीं है। क्योंकि निद्रा अवस्था में शरीर होना आवश्यक नहीं है। क्योंकि निद्रा अवस्था में शरीरी कर्त्ता से कार्य करने की क्षमता आती है, वही उसके लिए अपेक्षित है, जो अशरीरी से भी संभव है। यथा अपने शरीर की प्रेरणा में अशरीर आत्मा कर्त्ता होता है।

यदि कहा जाए कि आत्मा का भी अपने उपार्जित कर्मों से उपार्जित शरीर है, तो यहाँ उत्तर होगा कि भले ही उसका शरीर हो किन्तु वह शरीर आत्मा द्वारा किसी की प्रेरणा में उपयोगी नहीं होता है। आत्मा की प्रेरणा से अपने में क्रिया नहीं मानी जाती है। इच्छा तथा प्रयत्न के लिए भी कार्य का सम्पादन नहीं होता है।

किन्तु जिस सामर्थ्य से कार्य करने की क्षमता उसके लिए कर्त्ता में आती है वही अपेक्षित है। जो अशरीरी में भी सम्भव है। शरीर की अपेक्षा वही होती है जहाँ इच्छा तथा प्रयत्न आगन्तुक धर्मशाली है। ईश्वर की इच्छा तथा प्रयत्न नित्य है। इनके लिए शरीर की अपेक्षा नहीं होती है। ईश्वर की बुद्धि, इच्छा तथा प्रयत्न के नित्य होने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। क्योंकि रूप आदि गुण आश्रय के भेद से नित्य एवं अनित्य होते देखे गये हैं परमाणुगत रूप नित्य होता है तथा घट आदि प्रसिद्ध कार्यगत रूप अनित्य[१] सारांश यह है कि ईश्वर नित्य बुद्धि, नित्य इच्छा तथा नित्य प्रयत्न का आश्रय है और उसका शरीर नहीं है इसका विवरण पूर्ववर्त्री **आचार्य व्योमशिव** ने भी दिया है।[२] **उदयना चार्य** की **किरणावली** में भी ईश्वरवाद की चर्चा आयी है, जो **न्यायकुसुमाञ्जलि** से सर्वथा साम्य रखती है अतएव उससे यहाँ विवरण नहीं प्रस्तुत किया जाता है। **उदयनाचार्य** की ईश्वर साधक युक्तियों कीं आलोचना पृथक् अध्याय में की जाएगी।

प्रचलित वैशेषिक सम्प्रदाय के अनुसार **महर्षि कणाद** के उक्त नवविध द्रव्यों में परिगृहीत आत्मा शब्द से जीव और ईश्वर दोनों को लिया जाता है। शंकर मिश्र ने उपस्कार में इसका समर्थन किया है। इसी के सन्दर्भ में **शारीरक भाष्य** कहता है कि वैशेषिक अपनी प्रकिया के अनुसार ईश्वर को संसार का निमित्तकारण मानता है।[३]

१.सर्वोऽपि कर्त्ता कारकस्वरूपमवधारयति, तत इच्छति इदमहमनेन निवर्तयामि ततः यतते तदनु कार्ये व्यापारयति----न च बुद्धीच्छाप्रयत्नानां नित्यत्वे कश्चिद्विरोधः। दृष्टा हि रूपादिनां गुणानामाश्रयभेदेन द्वयी गतिः। तथा बुद्ध्यादीनामपि भविष्यति। कन्दली पृ.०५५ २. व्योमतवी पृ० ३०५

३. तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित्कथञ्चित् स्वप्रक्रियानु सरेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति शा० भा० २/२/३७

निम्ननिर्दिष्ट वैशेषिक सूत्रों में सूक्ष्म वस्तुओं का द्रष्टा पुरुष विशेष 'ईश्वर' प्रतिपादित हुआ है। **संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् प्रत्यक्ष प्रवृत्तत्वात् संज्ञा कर्मण:**[१] इस पुरुष विशेष की चर्चा शास्त्र के आदि एवं अंत में की गई है। न्यायकन्दलीकार श्रीधर भट्ट ने इस विषय के प्रपिपादन में 'अस्मद्विशिष्टस्य लिंङ्गमृषे:' इस वैशेषिक सूत्र का उद्धरण दिया है जो आजकल लुप्तप्राय है।

वैशेषिक मत के अनुसार ईश्वर प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में सामर्थ्यशाली होकर भी नित्य पदार्थो को उत्पन्न नहीं करता है अपितु उन पदार्थो का अस्तित्व शाश्वत हैं। परमाणु विभु पदार्थ आकाश आदि तथा नित्यगुण इसी के अन्तर्भूत है। वेदान्त मत ईश्वर को उपादान कारण भी कहता है, किन्तु वैशेषिक मत में वह केवल निमित्तकारण ही है।

पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार ईश्वर सांसारिक सभी कार्यो का कर्त्ता नहीं हैं। पातञ्जल सूत्र ४/१३ में कहा गया है कि प्रकृति के स्वतन्त्र रहने से ही संसार का निर्माण होता है। जड़ प्रकृति पुरूष के भोग एवं अपवर्ग सिद्धि के लिए संसार रूप में परिणत होती है। प्रकृति स्वतन्त्र है, इससे प्रमाणित होता है कि ईश्वर उसका प्रेरक भी इस कार्य के लिए नहीं है। किन्तु ईश्वर में कर्तृत्व के अभाव रहने पर भी वह आदि गुरु के रूप में वहाँ स्वीकृत है।अतएव वेद का आदि उपदेशक ईश्वर सिद्ध होता है। समस्त वेद राशि ईश्वर की रचना है। तस्मात् ईश्वर वाक्य ही वेद है। वेद के द्वारा सभी प्राणियों का यथार्थ रूप में हितानुशासन वह करता है। अतएव सर्वज्ञ है। चूँकि असर्वज्ञ से यह सम्भव ही नहीं है '**स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।**[४]'

यद्यपि इस दर्शन के मतानुसार योगी में भी सर्वज्ञता है। अतएव ईश्वर एवं योगी दोनों ही सर्वज्ञ है। किन्तु ईश्वर आदि उपदेशक होने से अनादि-सर्वज्ञ है, योगी सादि सर्वज्ञ। साधना के द्वारा योगीजन अपने में सर्वज्ञता का सम्पादन करते हैं। किन्तु ईश्वर बिना साधना से ही सर्वज्ञ है। चूँकि उनकी सर्वज्ञता अनादि सिद्ध है।

न्याय वैशेषिक के साथ इस दर्शन का मतैक्य यह है कि वेद का उपदेशक ईश्वर है तथा वह सर्वज्ञ एवं एक है। और वैमत्य यह है कि जहाँ न्याय वैशेषिक ईश्वर को संसार का निमित्तकारण कहता है। योगदर्शन उस मान्यता को नहीं मानता है। प्रत्युत स्वतन्त्र प्रकृति को संसार के कर्त्ता रूप में देखता है।

---

१. वै.सू०. २.तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । यहाँ 'तत्पद' से ईश्वर ही सूत्रकार का अभिप्रेत है कल्पना 'कन्दली' तथा 'किरणावली' में भी की गई है।

३.न्या० कु० पृ० २१६। प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की तथा मुद्रित वैशेषिक निबन्धों की परीक्षा से ज्ञात होता है कि यह सूत्र वैशेषिक दर्शन का उपान्त्य सूत्र है।

४. पातञ्जल योगसूत्र १/२६

ईश्वर की सर्वज्ञता की साधना में पातञ्जल एव न्यायदर्शन में अन्तर है। **पातञ्जल दर्शन** निरतिशयत्व ज्ञान में दिखाकर उसमें सर्वज्ञत्व की सिद्धि करता है और न्यायदर्शन सकल भुवन के उपादानाभिज्ञता के कारण सर्वज्ञत्व की सिद्धि करता है

पातञ्जल योगदर्शन में ईश्वर का स्थान महत्वशाली है। सांख्य के २५ तत्व योग को भी मान्य है। केवल ईश्वरतत्व इसमें अधिक माना गया है। अतएव पातञ्जल योग **सेश्वर सांख्य** शब्द से भी व्यवहृत होता है। पातञ्जल योग में भगवान् हिरण्यगर्भ (विष्णु)ईश्वर रूप में मान्य है।[१] इस शास्त्र के अनुसार समाधिलाभ तथा समाधिफल ईश्वर प्रणिधान से होता है।[२] ईश्वर क्लेश, कर्म विपाक तथा आशय से अपरामृष्ट है तथा पुरुष विशेष रूप है।[३] मुक्त पुरुष पूर्वकाल में बन्धन में रहता है तथा प्रकृतिलीन पुरुष को भविष्य में बन्धन संभव है। किन्तु ईश्वर इन दोनों प्रकारों से भिन्न है, वह सदा मुक्त रहता है। अतएव सदा ईश्वर है ईश्वर में निरतिशयता ही उसके सर्वज्ञता का प्रमाण है।[४] वह काल के विभाग से रहित है। इसलिए सर्ग के आदि में स्थित प्राचीन गुरूओं को भी वह उपदेश करता है।[५] प्रणव मन्त्र उसके वाचक हैं।[६] योगियों का कर्तव्य है कि प्रणव का जप एवं उसके अभिधेय ईश्वर की भावना करे। इस दर्शन में तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर -प्रणिधान को क्रियायोग कहा गया है।[७] ईश्वर-प्रणिधान नियम भी है। इस नियम से समाधि की सिद्धि होती है। व्यास कृत इस दर्शन के भाष्य में ईश्वर प्रसाद का उल्लेख किया गया है।[८]

वेदान्त सूत्र के विभिन्न भाष्यकार हुए हैं। उनमें **शंकर, भास्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व** तथा **वल्लभ** प्रधान हैं। प्रायः प्रत्येक भाष्यकार ने ईश्वर की स्थापना की है। भले ही ईश्वर के स्वरूप के विषय में सबों की दृष्टि परस्पर भिन्न रही हों। वहाँ प्रसंगवश इन भाष्यकारों में सर्व प्रथम **आचार्य शंकर** का ईश्वर सम्बन्धी मत प्रस्तुत किया जाता है। वेदान्तदर्शन संसार के उपादानाभिन्ननिमित्तिकारण रूप में ईश्वर का प्रतिपादन करता है। वेदान्त में कहा गया है कि संसार की रचना ईश्वर की ईच्क्षा से होती है। सृष्टि व्यापार के ईक्षण पूर्वक कर्त्ता होने के कारण ईश्वर निमित्तकारण है। जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड के जान लेने पर मिट्टी से बनी सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि मिट्‌टी सत्य है और मृण्मय पदार्थ केवल नाम रूपात्मक है। उसी तरह एक ब्रह्म, के ज्ञान' से समस्त सांसारिक पदार्थों का ज्ञान होता है।[९]

---

१. हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। पुराण।
२. ईश्वरप्रणिधानाद् वा। १।३ पात० सू०
३. क्लेशकर्मविपाकशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः, पात० सू० १।२४ तथा उसका भाष्य।
४. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। पा. सू.। १।२५।
५. स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। पात० सू० १/२६
६. तस्य वाचकः प्रणवः पा० सू. १/२७
७. ततःप्रत्यक् चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च पात० सू०।१.२९.।
८. तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः पात० २।१
९. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् १०. व्यासभाष्य ३/६ ११. छा० उ० पात.सू.२/४५

मिट्टी के दृष्टान्त से ब्रह्म का उपादानत्व स्पष्ट है। ब्रह्मसूत्र में (१.१.२३) तथा मुण्डक उपनिषद में (३.१.३) ब्रह्मको योनि शब्द से अभिहित किया गया है। अतएव सिद्ध होता है कि ब्रह्म इस जगत् का उपादान तथा निमित्तकारण है । इसमें दृष्टान्त मकरी को कहा गया है। वह अपने जाल के निर्माण में शरीर विशिष्ट होकर उपादान कारण तथा केवल मकरी निमित्तकारण होता है। इसी तरह माया विशिष्ट ब्रह्म उपादान कारण तथा शुद्ध ब्रह्म निमित्तकारण होता है। वेदान्त दर्शन के इस सिद्धान्त का संकेत वाचस्पति की तात्पर्यटीका में मिलता है।[१]

'फलमत उपपत्तेः' इस वेदान्त सूत्र की व्याख्या में आचार्यशंकर ने जीवों के कर्मों का फल ईश्वर से सम्पादित होता है या कर्म से इस प्रश्न को उठाकर कहा है कि यह युक्ति से सिद्ध है कि ईश्वर से वह निष्पन्न होता है। क्योंकि अभाव से भाव की उत्पति नहीं होती है। कर्म अनुक्षण विनाशशील है। कालान्तरभावी फल का जनक होना उसके लिए सम्भव नहीं है। ईश्वर सकल चराचर का अध्यक्ष है। संसार की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय इसी से होता है। वह कालज्ञ है, अतएव समय पर कृतकर्म का फलभोग जीवों को करा देता है। इस प्रसंग में श्रुतत्वाच्च[४] इस वेदान्त सूत्र को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है। न केवल युक्ति से ही प्रत्युत श्रुति से भी ईश्वर में कृतकर्म का फलदातृत्व सिद्ध होता है।[५] पूर्वन्तु वादरायणो हेतुव्यपदेशात् इस वेदान्त सूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने कहा है कि उपर्युक्त सिद्धान्त महर्षि वादरायण को मान्य ईश्वर ही कर्मजन्य धर्म एवं अधर्म का फलदाता है। इसी प्रसंग में आचार्य शंकर ने कण्ठतः कहा है कि सभी वेदान्तों में ईश्वर से सृष्टि की उत्पत्ति मानी जाती है।

लोकवस्तु लीलाकैवल्यम् 'वेदान्त का यह सूत्र प्रतिपादित करता है कि ईश्वर लीला से अर्थात् अनायास ही सृष्टि का विधान करता है। जैसे लोक में देखा जाता है कि व्यक्ति विशेष स्वार्थ नहीं रहने पर भी केवल लीलार्थ ही प्रवृत होता है। इसी तरह ईश्वर के लिए यह सृष्टि लीला मात्र है। फलतः

---

१. न्याय० सू० ता० टी० ४/१/१९

२. वे०सू० ३.२.३८

३. कर्मफलं संसारगोचरं त्रिविधं प्रसिद्धं जन्तूनां किमेतत् कर्मणो भवत्याहोस्वित् ईश्वरादिति भवति विचारणा। तत्र तावत् प्रतिपाद्यते फलमत ईश्वराद् भवितुमर्हसि उपपत्तेः। सहि सर्वोध्यक्षः सृष्टिस्थितिसंहारान् विचित्रान्विदधत् देशकालविशेषाभिज्ञत्वात् कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं सम्पादयति। कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिनः, कालान्तरभावि फलं भवति इत्यनुपपन्नमभावाद् भावानुत्पत्तेः। शा. भा.

४. वे०सू० ३।२।३, ३/२/३८ ५. वे० सू० ३।२।४१

६. सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते शा० भा०

७. वे सू. २।१।३३

लोककानुग्रह की भावना से वह संसार की रचना में प्रवृत्त होता है। **एकाकी न रमते द्वितीयमैच्छत्** इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है।

यदि पूर्वपक्ष हो कि ऐसी स्थिति में ईश्वर को भी साधारण मानव की तरह राग द्वेष से युक्त मानना होगा । अन्यथा वह अपने निर्माण में विषमता क्यों उपस्थित करता है। वह किसी को सुखी बनाता है तो किसी को दुख का अनुभव कराता है। एवं मानव, पशु तथा पक्षी आदि विभिन्न जीवों को उत्पन्न करता है, जिसमें समता का लेश भी नहीं है। इसके उत्तर में वेदान्तदर्शन में कहा गया है कि ईश्वर जीवों के कर्मों की अपेक्षा से उसके अनुरूप सृष्टि की रचना करता है। '**वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति**'[१] सूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने न्यायदर्शन के अदृष्टासापेक्ष ईश्वरकारणतावाद सिद्धान्त का समर्थन किया है। यहाँ उन्होंने प्रतिपादित किया है कि मेघ यव, ब्रीहि एवं अन्य शस्य आदि अन्नमात्र की उत्पत्ति में साधारण कारण होता है। किन्तु ब्रीहि आदि में परस्पर वैषम्य के लिए उसके बीज मे निहित असाधारण शक्तिविशेष कारण है। इसी तरह ईश्वर सांसारिक वस्तुओं का साधारण कारण है। किन्तु मानव तथा पशु पक्षीके सृष्टिवैषम्य के लिए उसके अदृष्ट को कारण मानना होगा।[२] इस प्रसंग में इन्होंने **कौषीतकी ब्राह्मण** से प्रमाण भी प्रस्तुत किया है।

'ईश्वर जीव को ऊर्ध्वलोक में ले जाने के लिए उसमें साधुकर्म कराता है तथा अधोलोक में ले जाने के लिए असाधुकर्म कराता है।[३]

वाचस्पति मिश्र ने भामती में अन्य दृष्टान्त के द्वारा इसकी पुष्टि की है। सभा में नियुक्त सभापति युक्तिवादी को संगत एवं अयुक्तिवादी को असंगत कहकर क्रमशःअनुगृहीत एवं निगृहीत करता है। यहाँ सभापति का युक्तिवादी के प्रति अनुराग एवं अयुक्तिवादी के प्रति द्वेष नहीं रहता है। इसी तरह पुण्यात्मा को साधु आचरण में तथा पापात्मा को असाधु आचरण में लगाकार ईश्वर पक्षपात नहीं करता है।[४]

१.वे.सू. २।१।३४

२.वैषम्यनैर्घृण्ये नेश्वरस्य। कस्मात्? सापेक्षत्वात्

सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षते इति चेत् धर्माधर्माविपैक्षते इति वदामः।

ईश्वरस्तु पर्जन्यवद्द्रष्टय: यथाहि पर्जन्यो ब्रीहि यवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति। शा० भा० एव मीश्वरो देव मनुष्यादि सृष्टौ साधारणं कारणं भवति २।१।३४

३. एष ह्येव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येवासाधुकर्म कारयति तं यमधो निनीषते। कौ० ब्रा०, ४. भामती व्याख्या २।१।३४

परात्तुतच्छ्रुतेः, कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रति सिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः इन दो सूत्रों के भाष्य में आचार्य शंकर ने कहा है कि जीव की प्रत्येक प्रवृत्ति में ईश्वर प्रयोजक कर्त्ता है। अतएव जीव किसी कर्म को करता है और ईश्वर उस करते हुए जीव को प्रेरित करता है। इसमें उन्होंने प्रमाण रूप में उपर्युक्त कौषीतकी वाक्य को उद्धृत किया है।

फलतः प्रस्तुत प्रसंग में न्याय दर्शन को दो मुख्य मान्यताओं के साथ वेदान्त दर्शन की सहमति देखी जाती है। प्रथम तो सृष्टिकर्ता ईश्वर है और वह जीवों के कर्म की अपेक्षा से उसका सम्पादन करता है तथा दूसरा यह कि ईश्वर अदृष्ट का अधिष्ठाता है। अतएव कृतकर्म का फलभोग उससे सम्पादित होता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि **आचार्य शंकर** सिद्धान्ततः केवलाद्वैतवादी हैं। अतएव ब्रह्म से भिन्न किसी पदार्थ की पारमार्थिक सत्ता नहीं मानते। फिर भी ईश्वर को विभिन्न सन्दर्भों में सृष्टि का कर्त्ता एवं कर्म के फलदाता रूप में स्वीकार किया है तथा ईश्वर के स्वरूप के प्रसंग में स्वयं मौन है। इस प्रस्थान के परवर्ती साहित्य पञ्चदशी में मायोपाधिक ब्रह्म को ईश्वर और अविद्योपाधिक ब्रह्म को जीव कहा गया है। पञ्चदशी में माया के दो भेद किये गये हैं मलिनसत्वविशिष्ट तथा शुद्ध सत्वविशिष्ट। मलिनसत्व विशिष्ट अविद्या में प्रतिविम्बित ब्रह्म जीव है और शुद्धसत्वविशिष्ट अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है, जो संसार का कर्त्ता है। तथा अविद्यावच्छिन्न चैतन्य जीव एक है, ये मत अद्वैतसिद्धि में मिलते हैं। यहाँ भी दो भेद है। प्रतिबिम्ववाद तथा अवच्छेदवाद। दूसरा मत **वाचस्पति** का है और पहला **पद्मपादाचार्य पञ्चपादिकाकार** का है। माया तथा अविद्या रूप में माया के दो भेद माने गये हैं।

आचार्य रामानुज ने ब्रह्म को ही सगुण ईश्वर कहा है। इस मत में ईश्वर असंख्य मांगलिक गुणों का निधान है।[२] वह वासुदेव पद से अभिहित होता है यहाँ

---

१. वे. सू० २।३।४१-४२। परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः, कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति। इसी सूत्र का शा०भा०।

२. ब्रह्मशब्देन च स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषः अनवधिकातिशयासंख्येय-कल्याणगुणगणः पुरूषोत्तम अभिधीयते। सर्वत्र बृहत्वगुणयोगेने हि ब्रह्म शब्दः। बृहत्वञ्च, स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिकातिशयं सोऽस्य मुख्यार्थः। स च सर्वेश्वर एव। अतो ब्रह्मशब्दस्तत्रैव मुख्यवृत्तः। श्रीभाष्य १।१।१ डॉ० दासगुप्त का भारतीय दर्शन का इतिहास, खण्ड ३ पृ०१५६। 'बासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः। भुवनानामुपादानं कर्त्ता जीवनियामकः'। स०द० सं० का रामानुज द०पृ० २४१।

इस प्रसंग में मुख्यतः आगम का आश्रय लिया गया है। इनका कथ्य है कि अनुमान इसके लिए समर्थ ही नहीं है। अनुमान के प्राधान्य के विषय में अपने पूर्व गुरु आचार्य यामुन से विरोध करके आचार्य रामानुज ने आगम प्रमाण से नारायण रूप परब्रह्म की स्थापना में उपनिषदों का प्रचुर उपयोग किया है। इन्होंने स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि प्राणिकर्म सापेक्ष ईश्वर (नारायण) इस जगत का उपादान तथा निमित्तकारण है।[१] इस जगत का अस्तित्व यथार्थ है मायिक नहीं। शङ्कर वेदान्त जगत के प्रति ईश्वर को उपादान से अभिन्न निमित्तकारण रूप में मानता है किन्तु संसार को मायिक मानता है। रामानुज संप्रदाय ने इसके पांच रूपों का विशेष आलोचन किया है। यद्यपि संसार निर्माण की प्रयोजनीयता प्रतिपादन के समय में दोनों मतों का साम्य है। अतएव रामानुज संप्रदाय में भी ईश्वर लीलार्थ ही संसार का विधान करता है। इसमें कहा गया है कि भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के तथा जगत् की रक्षा करने के उद्देश्य से ईश्वर पाँच प्रकारों के रूपों का धारण करता है-अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म और अर्न्तयामी। प्रतिमा आदि ईश्वर का अर्चा रूप है। राम आदि का अवतार विभव है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरूद्ध ये चार उसका व्यूह रूप है। छह[२] गुणों से युक्त वासुदेव ही सूक्ष्म पदार्थ है। सकल जीवों का नियामक होना उसका अन्तिम रूप अन्तर्यामी है। पूर्वोक्त सात्वत मत से रामानुजदर्शन स्पष्टतः प्रभावित है।[३]

अन्यान्य वैष्णव वेदान्तियों की तरह आचार्य निम्बार्क भी त्रित्वावादी है ब्रह्म, चित् और अचित् ये तीन यथार्थ तत्व है। इनमें सर्वश्रेष्ट तत्व ब्रह्म हैं। इससे बढ़कर या इसके समान अन्य पदार्थ नही हैं। यह दैशिक, कालिक तथा अन्यविध सीमा से रहित हैं। इसकी शक्ति अपरिमेय तथा अतुलनीय है। यही कृष्ण तथा हरि शब्द से व्यवहृत होता है। चित् और अचित् से युक्त उपर्युक्त ब्रह्म ही इस विशाल संसार का मूल कारण है।[४]

---

१. सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरस्येव ब्रह्मणः स्थूल चिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन कार्यत्वात्। श्रीभाष्य १।१।१

२. अपहतपाप्मता, विजरता, मृत्युराहित्य, विशोकता, अपिपासिता तथा सत्य-कामत्व-इन छह गुणों से युक्त परब्रह्म ही वासुदेव शब्द का वाच्य होता है।

३. ''स्वलीलावशादर्चाविभवव्यूहसूक्ष्मान्तर्यामिभेदेन पञ्चधावतिष्ठते। तत्रार्चा नाम प्रतिमादयः। रामाद्यवतारो विभवः। व्यूहश्चतुर्विधो वादुदेवसंकर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धसंज्ञकः। सूक्ष्मं संपूर्ण षड्गुणं वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म। अन्तर्यामी सकलजीवनियामकः। स०द०सं० का रामानुजदर्शन, पृ० २२३-२२५।

४. तस्मात् सर्वज्ञः सर्वाचिन्त्यशक्तिविश्वजन्मादिहेतुः वेदैकप्रमाणगम्यः सर्वभिन्नभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मेदं जिज्ञासाविषयः। तत्रैव शास्त्रं समन्वेतीति औपनिषदानां सिद्धान्तः नि०भा०१।१।४।

अतएव यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है एवं उसी में लीन हो जाता है। ब्रह्म इस संसार का उपादान एवं निमित्त कारण है। अन्यत्र निमित्त तथा उपादान कारण परस्पर भिन्न देखा गया है किन्तु ब्रह्म उसका अपवाद है। फलतः इस मत में संसार ब्रह्म का परिणाम है और ब्रह्म कृष्ण शब्द का वाच्य है। अतएव वह सगुण ईश्वर रूप है। इनके गुणों को दो श्रेणी में रखा जा सकता है। एक श्रेणी में सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व, सर्वव्यापित्व एवं कठोरत्व आदि है, जिन गुणों से संसार का नियमन होता है और अपर श्रेणी में सौन्दर्य, आनन्द का आकर है। शास्त्रों में ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है किन्तु उसका तात्पर्य इस मत में हेय गुणों का अभाव है। फलतः ईश्वर (श्रीकृष्ण) हेय गुणों से रहित एवं मांगलिक गुणों से विभूषित है, जहाँ तक संसार के प्रति ब्रह्म का उपादानाभिन्ननिमित्तकारणता का प्रश्न है **शंकर, रामानुज** तथा **निम्बार्क** दर्शनों का मतैक्य है किन्तु ब्रह्म के स्वरूप के विषय में परस्पर मतभेद परिलक्षित होता है। अतएव **आचार्य शंकर** के मत में ब्रह्म निर्गुण है तथा संसार मिथ्या है। **आचार्य रामानुज** ब्रह्म को सगुण मानते हैं तथा संसार को सत्य मानते हैं। और **आचार्य निम्बार्क** ब्रह्म को सगुण मानते है किन्तु इनके गुणों का विभाजन दो भागों में करते हैं। एक कोटि से संसार का नियमन होता है तथा अपर कोटि से भक्त की प्रीति उत्पादित होता हैं। इस मत में **रामानुज** की तरह ईश्वर के पंचस्वरूपों की चर्चा नहीं मिलती है। इसी तरह **माध्व सम्प्रदाय** ईश्वर वर्णन सृष्टि के कर्त्ता तथा संहर्ता के रूप में करता है। इस मत में ईश्वर प्राणियों के धर्म तथा अधर्म रूप अदृष्ट के अनुसार संसार का निर्माण करता है। यह सम्प्रदाय ब्रह्मसूत्र के आधार पर ब्रह्म को ही ईश्वर कहता है। अतएव इस अंश में यह मुख्यतः आगमावलम्बी है। ईश्वर के प्रसंग में न्यायदर्शन की मान्यता के साथ **माध्व सम्प्रदाय** एकमत है।

आचार्य बल्लभ ने **अणुभाष्य** में ईश्वर के रूप में ब्रह्म की स्थापना की है। वही श्रीकृष्ण है। इस मत में ब्रह्म तथा जगत् दोनों की पारमार्थिक सत्ता मानी गई है। अतएव **आचार्य बल्लभ** ने ब्रह्म को विश्वरूप तथा विश्व को ब्रह्म रूप माना है। इसकी मान्यता ईश्वर को संसार का उपादान कारण नहीं कहती है किन्तु समयवायिकारण रूप में उसका उपपादन करती है। यद्यपि यहाँ सृष्टि को प्राणिकर्म सापेक्ष मानकर अंशतः न्याय परम्परा के साथ एक मत होने की प्रवृति आचार्य वल्लभ में देखी जाती है। पुनश्च, ईश्वर की लीला या इच्छा का पूर्ण स्वातन्त्र्य भी प्रदर्शित है। दूसरी बात यह है कि न्याय ईश्वर को मुख्यतः अनुमान के आधार पर निमित्तकारण रूप में मानती है किन्तु बल्लभ सम्प्रदाय ईश्वर की स्थापना में आगमावलम्बी है तथा समवायिकारण रूप में उसकी स्थापना करती है।[१]

पूर्व मीमांसा की परम्परा परम पुरुषार्थ मोक्ष के विषय में विचार नहीं करती है। केवल वर्तमान लोक और स्वर्ग आदि परलोक–इन दो के बारे में ही विचार करती है।

---

१. अणुभाष्य १/१/३

आयुभाष्य 'स्वयमात्मानमकुर्वत' इस श्रुति के आधार पर मान्यता स्थापित करता है।

इसका मुख्य विषय कर्मकाण्ड रहा है। कर्मकाण्ड में वैदिक मन्त्र समुचित विधि प्रक्रिया, होता आदि तथा पुरोहितों का मुख्य स्थान हैं जो विधानपूर्वक यज्ञ आदि कर्मों का सम्पादन करता है वह इष्ट फल पाता है। इस तरह सामान्यतः फलेच्छु पुरुषों के कर्तृत्व का ही स्थान है और वैसा कर्तृत्व जीवो में ही हैं। अतएव यहाँ ईश्वर की कृपा या अनुग्रह का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। इसी से यहाँ कर्तृत्व का विचार अप्रस्तुत है। इस मत में जो मुख्य कर्तव्य है उसका अन्ततः वेदाज्ञा में समावेश होता है। वैदिक विधि के अनुसार किया गया कर्म इतना सामर्थ्यशाली होता है कि स्वयं ही पुरुष के इष्ट फल का जनक बनता है। अतएव इस मत में मन्त्र, देवता विधिवत् सम्पन्न कर्म और सामग्रीजन्य शक्ति ये ही ईश्वर के कर्तव्य का स्थान लेते हैं।' धर्मं जैमिनिरतएव[१] के अनुसार **महर्षि जैमिनि केमतमे मीमांसा दर्शन** में ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। अचेतन कर्मो के फलदाता रूप में ईश्वर की सत्ता, जो दर्शनान्तर में मान्य है–पूर्व मीमांसा उसका विचार नहीं करती है।

किन्तु परवर्ती मीमांसा –साहित्य में यज्ञपति के रूप में ईश्वर का अस्तित्व माना गया है। **आपोदेव** तथा **लौगाक्षिभास्कर** ने गीता के ईश्वर समर्पण सिद्धान्त को श्रुतिमूलक मानकर मोक्ष के लिए समस्त कार्यो के फल को समर्पण कर देने की बात लिखी है। मीमांसक **वेदान्तदेशिक** ने इसी उद्देश्य से **सेश्वरमीमांसा** नामक ग्रन्थ की रचना की । **प्रभाकरविजय** ग्रन्थ में युक्तियों के आधार पर ईश्वर विषयक अनुमान के खण्डन रहने पर भी ईश्वर को स्पष्टतः अंगीकार किया गया है। किन्तु उसका अस्तित्व शब्द प्रमाण से सिद्ध होता है। प्राचीन मीमांसक **भट्ट कुमारिल** ने भी **श्लोकवार्तिक** के मंगलाचरण में ईश्वर की स्तुति की है।[२] यद्यपि उन्होनें उसी ग्रन्थ में ईश्वर का खण्डन भी किया है। सांख्य परम्परा पुरुषार्थवादी है। किन्तु पुरुष, अचेतन या जीव के पुरुषार्थ का कोई स्थान नहीं है। जो पुरुषार्थ है वह प्रकृति या अचेतन तत्व का है। प्रकृति ही सृष्टि का उपादान कारण और कर्त्री–नियन्त्री है। केवल चैतन्य सम्पादन के लिए इस मत में पुरुष की आवश्यकता होती है। प्रकृति अपना समग्र व्यापार कूटस्थ चेतन के द्विविध भोग के लिए करती है। प्रकृति इन्द्रियजन्य ज्ञान और विवेक ख्याति इन दोनों भोगों को पुरुष के लिए सिद्ध करती है। वस्तुतः ये भोग प्रकृति के ही है पुरुषों में तो इसका उपचार मात्र है। अतः सांख्य परम्परा में प्रकृतितत्व का कर्तृव्य और सृष्टि संहार कारित्व इतना पूर्ण माना गया है कि कूटस्थ नित्य चेतन के मानने पर भी उसमें कर्तृत्व के लिए स्थान नहीं रहता है। इस मत में ईश्वर तत्व के कर्तृत्व की तो बात ही क्या उसकी मान्यता के लिए भी अवकाश नहीं है।

---

१. वे० सू० ३।२।४०।

२. विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।
श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्द्धधारिणे।। श्लोकवार्त्तिक।

यद्यपि **सांख्यप्रवचनभाष्य** के रचयिता **विज्ञानभिक्षु** का कहना है कि सांख्य परम्परा ईश्वरतत्व का सर्वथा निषेध नहीं करती है। उसका तो इतना ही कहना है कि मोक्ष के साधन भूत विवेकख्याति की प्राप्ति में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर नहीं मानने से कार्य चल सकता है–यही इनका प्रौढ़िवाद है।

सांख्यकारिका की प्राचीन व्याख्या **युक्ति दीपिका में पाशुपत** तथा **वैशेषिक** सम्मत ईश्वर के अस्तित्व को पूर्वपक्ष रूप में उठाकर अपने सिद्धान्त के अनुसार उसका खण्डन किया गया है। उपादेयता की दृष्टि से युक्ति दीपिका की युक्तियों का प्रदर्शन यहाँ उचित प्रतीत होता है। "**युक्तिदीपिका**" के अनुसार ईश्वर के प्रसंग में पाशुपत सम्प्रदाय का कहना है कि प्रत्येक कार्य अतिशय बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति द्वारा सम्पन्न होता है। जैसे प्रासाद एवं विमान आदि शिल्पी से निर्मित होता है। इसी तरह महाभूत, इन्द्रियाँ तथा भुवन आदि की रचना ईश्वर करता है। ईश्वर की सिद्धि में इस सम्प्रदाय की दूसरी युक्ति यह है कि चेतन तथा अचेतन का सम्बन्ध चेतन से सम्पादित होता है। यथा बैल तथा गाड़ी के बहलमान (बाहक) परस्पर संश्लिष्ट करता है। इसी तरह शरीरी तथा शरीर का सम्बन्ध चेतन से सम्पादित होता है और वह चेतन ईश्वर है।

इस पूर्वपक्ष के खण्डन में **युक्तदीपिकाकार** का संक्षिप्त वक्तव्य यह है कि प्रासाद आदि की तरह कार्य विशेष अस्मदादि कर्तृक है या अतिशय बुद्धिशाली ईश्वर कर्तृक–इसमें सन्देह है। अतएव उक्त अनुमान से ईश्वर की अस्तिता सिद्ध नहीं हो सकती है। अपितु प्रकृति की प्रवृत्ति बुद्धि के बिना सम्पन्न नहीं है। क्योंकि सांख्य परम्परा प्रकृति से बुद्धि का आविर्भाव मानती है। यह आविर्भूत बुद्धि इन्द्रिय प्रणालिका द्वारा विषय में अन्तःकरण का परिणामजन्य चैतन्य रूप है। प्रकृति का प्रथम परिणाम रूप नहीं है। अतएव प्रधान से ही सांसारिक विधान बुद्धि पूर्वक सम्पादित हो सकती है। इसके लिए यहाँ ईश्वर की अपेक्षा नहीं है। यदि कहा जाय कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है। अतएव प्रधान के बिना भी संसार के निर्माण में उसकी बुद्धि स्फुरित होगी। क्योंकि वह स्वेच्छा से ही बुद्धि को आविर्भूत कर सकता है, तो इसका उत्तर होगा कि दृष्टान्त के अभाव में इसकी उपपत्ति ही नहीं हो सकती है। बुद्धि के स्वतः आविर्भाव में दृष्टान्त का सर्वथा अभाव है। अतएव दार्ष्टान्तिक की सिद्धि नहीं की जा सकती है। प्रकृत में ईश्वर की बुद्धि ही दार्ष्टान्तिक है। तस्मात् उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती है।

अपि च, ईश्वर यदि सांसारिक सभी पदार्थों का रचयिता है तो धर्म और अधर्म भी उसका ही निर्माण होगा। अब प्रश्न उठता है कि ईश्वर परानुग्रह से संसार की रचना करता है। अतएव दुःख किसी को नहीं देना चाहेगा। इसी से वह अधर्म की उत्पत्ति को रोककर केवल धर्म का उत्पादन करेगा। अधर्म के उत्पादन में उसका कुछ प्रयोजन नहीं

---

१. युक्तिदीपिका, पृ० ८५-८८।

है। यदि च, धर्म और अधर्म की उत्पत्ति स्वभावतः मानी जाए तो पुनः ईश्वर का सर्वकर्तृकत्त्व भंग होता है। अतएव ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित होना सम्भव नहीं है। संसार की अनादिता में 'यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। जीव का अदृष्ट पहले से विद्यमान रहता है। तथा संसार अनादि है। किन्तु यदि यहाँ पूर्वपक्षी, ईश्वर तथा अदृष्ट में कौन पहले रहता है इस विषय में अनवस्था उपस्थित करे तो इसका समाधान यह है कि बीजांकुर की तरह प्रामाणिक अनवस्था दोषाधायक नहीं मानी जाती है, यही न्यायदर्शन की मान्यता है। ईश्वर की सिद्धि में प्रस्तुत युक्ति भी उचित नहीं प्रतीत होती है। क्योंकि चेतन और अचेतन का सम्बन्ध यदि चेतनकृत माना जाय तो अनवस्था दोष होगा। क्योंकि ईश्वर तथा कार्यविशेष में जो कार्यकारणभाव है उसे भी चेतनकृत मानना होगा।।

तस्मात् **पाशुपत सम्मत** ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता है। **कणाद** सम्मत ईश्वर के विषय में कहना है कि **कणाद सम्प्रदाय** स्वसम्मत पदार्थों में से किस पदार्थ में ईश्वर का अन्तर्भाव करते हैं? ईश्वर द्रव्य नहीं हो सकता है, क्योंकि द्रव्य के दो प्रकार हैं- अनेक द्रव्य और अद्रव्य (परिगणित द्रव्य से भिन्न)। अनेक द्रव्य पद का अर्थ जिस द्रव्य का अनेक समवायिकारीण हो ईश्वर अनेक द्रव्य नहीं हो सकता है, क्योकि द्रव्य अनित्य होता है, और ईश्वर नित्य पदार्थ है वह अद्रव्य भी नहीं है। क्योंकि वह परिगणित है और वहाँ ईश्वर नित्य पदार्थ है। वह अदृश्य भी नहीं है, क्योंकि वह परिगणित है और वहाँ ईश्वर की गणना नहीं की गई है। द्रव्य की न संख्या गणित है जहाँ परिसमाप्तिवाचक इति शब्द का वैशेषिक सूत्र में (१/१/४) प्रयोग भी किया गया है। अथ च, उन द्रव्यों के गुणों एवं कर्मों का निर्देश यथास्थान किया गया है। उनमें ईश्वर के गुणों की चर्चा नहीं है। यदि ईश्वर द्रव्य होता तो उसके गुणों का उल्लेख अवश्य होता। अतएव ईश्वर न तो द्रव्य पदार्थ है न पदार्थान्तर ही, क्योंकि यदि वह पदार्थान्तर होता है तो उसका लक्षण आदि भी किये गये होते, इसी से सिद्ध होता है कि वैशेषिक सूत्रकार **कणाद** के मत में ईश्वर नहीं हैं। यदि कहा जाए (वै०सू०) **प्रत्यक्षपूर्वत्वाद्वा संज्ञाकर्मणः** इन वैशेषिक सूत्रों में अस्मद्विशिष्ट पद से ईश्वर ही अभिप्रेत है तो उत्तर में कहना होगा कि विशिष्ट पद से ईश्वर के अतिरिक्त माहात्म्यशाली शरीरी का भी ग्रहण हो सकता है।

अपि च अणुओं की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को यदि ईश्वर के अधीन मानते हैं तो आपत्ति यह होती है कि ईश्वर के प्रधान होने से पूर्व उपदेश अपेक्षित था, जो सूत्रकार ने नहीं किया। अतएव सूत्रकार की अपटुता इससे सिद्ध होती है। अपिच किसी आचार्य ने वैशेषिक में ईश्वर का कण्ठतः उल्लेख नहीं किया है। युक्तिदीपिकाकार ने यहाँ **वैशेषिकों** के ऊपर व्यंग्य करते हुए कहा है कि वधू के लिए श्वसुर का नामोल्लेख

जिस तरह आपत्तिजनक होता है इसी तरह वैशेषिक आचार्यों के लिए ईश्वर का कण्ठतः उपादान आपत्तिजनक होता है। इसी तरह वैशेषिक आचार्यों के लिए ईश्वर का कण्ठतः उपादान आपत्तिजनक तो नहीं है तब उन्होने क्यों नहीं ईश्वर की चर्चा स्पष्टतः की ? यह प्रमाणित करता है कि वैशेषिक साहित्य में परवर्ती काल में उपलब्ध ईश्वर का विचार पाशुपत संप्रदाय का प्रभाव है, उपलब्ध सांख्यसूत्र अर्वाचीन ग्रन्थ रूप में प्रसिद्ध है इसमें प्रामाण्य के अभाव से ईश्वर का अभाव रूप सिद्धान्त माना गया है।

जैन दर्शन में ईश्वर स्वीकृत नहीं हैं इस दर्शन की मान्यता यह है कि जीव द्वारा किया गया कर्म परिपाक पाकर स्वयं अपने सामर्थ्य से फल का जनक होता है। कर्माधीन ही विश्व का वैचित्र है। दूसरी बात यह है कि सृष्टि अनादि है अतएव ईश्वर कर्तृत्व की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती है। यदि सृष्टि का प्रथम सर्जन होता है तब तो ईश्वर जैसे पदार्थ का अस्तित्व प्रकाश में आता है वही सिद्धान्ततः अस्वीकृत है। अतः ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती है।

द्वितीय अध्याय

संसार के कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि में अक्षपाद गौतम की मान्यता

न्यायशास्त्र में ईश्वर चर्चा का क्रम-विकास विशेष महत्वपूर्ण है। इस शास्त्र का उपलब्ध प्राचीनम ग्रन्थ **अक्षपाद गौतम** कृत **न्यायसूत्र** है। इसका काल विशिष्ट पण्डित वर्ग खृष्टपूर्व षष्ठ शतक से खृष्टीय पञ्चम शतक के बीच मानते हैं।[१] प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के विवेचनात्मक इस न्यायशास्त्र में सूत्रकार की दृष्टि से ईश्वर का स्थान विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं। चतुर्थ अध्याय प्रथम आह्निक में प्रेत्यभाव रूप प्रमेय की परीक्षा के पश्चात् आह्निक की समाप्ति पर्यन्त सूत्रकार ने प्रसङ्गवश तत्काल प्रचलित प्रावादुकों (विभिन्न दार्शनिकों) के मतों का उल्लेख एवं आलोचन किया है। इन्हीं मतों में ईश्वर कारणतावाद का भी समावेश है। न्यायवार्तिककार **उद्योतकर** की व्याख्या से ज्ञात होता है कि इन प्रावादुकों के मतों में एकाध मत यथा ईश्वरकारणतावाद महर्षिगौतम का स्वीकार्य था

---

१. (क) म०म० हरप्रसाद शास्त्री (जे०ए०एस०बी०१९०५) पृ० १७७-१८०) न्यायसूत्र का समय खृष्टीय द्वितीय शतक मानते हैं।

(ख) डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने न्यायसूत्र का रचना-काल खृष्ट पूर्व षष्ठ शतक कहा है। गौतम के न्यायसूत्र की भूमिका, (एस०बी०एच० पृ० ५-८, भण्डारकर कमेमोरेशन वौलूम पृ० १६१-६२)।

(ग) डॉ० जेकोबी महाशय इसका काल खृष्टीय द्वितीय शतक से पञ्चम शतक के मध्य मानते हैं। (जे०ए०ओ० एस०३१,१६११, पृ० २-१३)।

(घ) डॉ० स्चेरवात्स्कों का कहना है कि खृष्ट पञ्चम शतक के पश्चात् न्याय-सूत्र की रचना हुई।

(ङ) बोडश के अनुसार कणाद के सूत्रों से न्यायसूत्र प्राचीन है। इसका रचना-काल खृष्ट पूर्व चतुर्थ शतक से खृष्टीय पञ्चम शतक तक है। (तर्क संग्रह की भूमिका बी०ए० एस०पृ०६२)

(च) डॉ० सुआली के अनुसार न्यायसूत्र का समय तृतीय शतक या चतुर्थ शतक का पूर्वार्द्ध है।

(छ) डॉ गार्वे का कहना है कि न्यायसूत्र का समय खृ० प्रथम शतक तथा तृतीय शतक के मध्य है। (दि सांख्य दर्शन पृ०३३)।

तथा अन्य मत समूह अनभिप्रेत होने से खण्डनीय।[1] यहाँ भाष्यकार **वात्स्यायन** के वक्तव्य के स्वारस्य से ज्ञात होता है कि कर्म निरपेक्ष केवल ईश्वरकारणतावाद भगवान् **गौतम** का खण्डनीय है तथा कर्मसापेक्ष ईश्वरनिमित्ततावाद उनका मान्य है।[2]

न्यायदर्शन में ईश्वर विषयक तीन सूत्रों में पुरुष, कर्म और उसके फल के विषय में ईश्वर का क्या कार्य है–यह बताया गया है। प्रथम दो सूत्रों में पूर्वपक्ष तथा अन्तिम (तृतीय)सूत्र में सिद्धान्त व्यक्त किया गया है।

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्। (४.१.१९) संसार का कर्त्ता तथा जीवों के शुभाशुभ कर्मों का फल देने वाला ईश्वर है।[1] यह यद्यपि **महर्षि गौतम** की अपनी ही मान्यता है। इसी का प्रतिपादन तत्कारितत्वादहेतुः (४.१.२१) इस सूत्र में किया गया है तथापि उपर्युक्त सूत्रगत 'ईश्वरः कारणम्' इस पद से यही समझा जाता है कि केवल ईश्वर ही फल का कारण है। जीव अथवा उसका कर्म आदि नहीं–यह मत[2] **महर्षि गौतम** का खण्डनीय है। 'पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्' यह सूत्रांश भी हेतुरूप में तभी संबद्ध होता है जब कि कर्मनिरपेक्ष ईश्वर को संसार के कारण रूप में पूर्वपक्ष में रखा जाए। जीव विभिन्न फलों की प्राप्ति के लिए भिन्न–भिन्न कर्मों को करता रहता है। किन्तु प्रत्येक कर्म का फल उसे मिलता ही नहीं है। कितने कर्म विफल भी होते हैं। फलतः जीवों के लिए कर्मफल की प्राप्ति स्वाधीन नहीं हैं। जीव यदि स्वयं अपने कृत कर्म का फल स्वतन्त्र रूप से पा सकता तो फिर कदाचित् वह दुःख का भोग नहीं करता। जीवों का एक भी कर्म निष्फल नहीं होता। किन्तु ऐसा नहीं होता है। कर्मों का फल जिसके अधीन है तथा जिसकी इच्छा से जीवों के सुख तथा दुःख आदि का अनुभव होता है, वही सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर है।

ईश्वर किसी भी कार्य में जीवों के कर्मों की अपेक्षा नहीं रखता है। किन्तु अपनी इच्छा से ही अनादिकाल से जीवों के सुख तथा दुःख आदि का विधान और संसार की सृष्टि आदि करता है। सर्वशक्तिमत्त्व गुणों से युक्त ईश्वर क्यों किसी के कर्मों की अपेक्षा करें। अतएव संसार के कर्त्ता रूप में जीव के कर्म से निरपेक्ष ईश्वर को ही कारण मानना होगा। उक्त कर्मसापेक्ष ईश्वर को नहीं। भाष्यकार वात्स्यायन तथा वार्तिककार उद्योतकर आदि पुरातन विद्वानों की दृष्टि में यही पूर्वपक्ष

---

१. अतः परं प्रावादुकानां दर्शनान्युपन्यस्य कानिचित् प्रतिर्षिध्यन्ते कानिचिदभ्युपगम्यन्ते इति। न्या०वा ४।१।१९।

२. पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनम् । यदधीनं स ईश्वरः। तस्मादीश्वरः कारणमिति। न्यायभाष्यम् ४।१।१९।

महर्षि गौतम का यहाँ अभिप्रेत है।[1] पूर्ववर्ती अध्याय में कहा जा चुका है कि यह सिद्धान्त नकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय में विद्यमान है।[2] प्राचीन समय में इसी मत का नाम ईश्वरवाद रहा है। अतः वैद्यक ग्रन्थ **सुश्रुतसंहिता** में **स्वभाववाद, कालवाद,** यदृच्छावाद तथा **नियति (अदृष्ट)** वाद के साथ इस ईश्वरवाद का उल्लेख हुआ है।[3] **पालिग्रन्थ महाबोधिजातक** में भी इसका प्रतिपादन किया गया है।[4] **महाकवि अश्वघोष** ने भी **बुद्ध चरित** महाकाव्य में इस मत को उठाया है[5] किन्तु दर्शनान्तर के सिद्धान्त रूप में ही इसका उल्लेख वहाँ किया गया है।

न, पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः (४.१.२०) इस सूत्र के द्वारा **महर्षि गौतम** उपर्युक्त कर्मनिरपेक्ष **ईश्वरकारणतावाद** का खण्डन किया है। जीव यदि किसी शुभ या अशुभ कर्म का सम्पादन करता है तो उस कर्म के अनुसार सुख या दुःख रूप कर्मफल उसे प्राप्त होता है। यदि केवल ईश्वर को कर्म का फलविधाता माना जाए तो जीव को बिना कुछ किए ही सभी फलों की प्राप्ति होने लगेगी। किन्तु कहीं भी कर्म किए बिना उसका फल मिलता हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता है, अपितु कर्म करने पर ही फल प्राप्त होने की आशा बँधती है। फलतः कर्म सापेक्ष (कर्म जन्य अदृष्ट युक्त) ईश्वर को ही संसार का कारण मानना होगा। कर्म निरपेक्ष ईश्वर संसार का विधान नहीं कर सकता है। अतएव उक्त पूर्वपक्ष टिक नहीं सकता है।

पूर्व सूत्र के द्वारा जीवों के कर्म जन्य अदृष्ट में कारणत्व सिद्ध हो जाने पर कर्म जन्य अदृष्टनिरपेक्ष ईश्वरकारणतावाद का खण्डन हो जाता है। अब, यहाँ पुनः पूर्वपक्ष होता है कि जीव के कर्म को ही संसार का कारण मान लिया जाए। जीवों के कर्मानुसार सुख दुःख आदि फलों का भोग होता है तथा सृष्टि आदि होती है। ईश्वर को कारण मानने की आवश्यकता नहीं है। पूज्यचरण म.म. फणिभूषण[33]

---

१. न्यायभाष्य तथा वार्तिक ४।१।१९

२. इसी प्रबन्ध का प्रथम अध्याय पृ० १०।

३. स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।

परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः।

- शारीरस्थान, सुश्रुतसंहिता १।११।

४. इस्सरो सब्ब लोकस्स स चे कप्पेति जीवितम्।

इद्धि व्यसनभावं च कम्मकल्याणपावकम्!।।

निद्देशकारी पुरिसो इस्सरो तेन लिम्पति ।

महाबोधिजातक, खण्ड ५, पृ०२३९

५. सर्ग वदन्तीश्वरतस्तथान्ये तत्र प्रयत्ने पुषस्य कोऽर्थः।

य एव हेतुर्जगतः प्रवृत्तौ हेतुर्निवृत्तौ नियतः स एव ।। बुद्धचरित ९।५३।

तर्कवागीश की व्याख्या के अनुसार मीमांसक सम्प्रदाय विशेष इस मत को अपना सिद्धान्त मानता है।[1]

इन दोनों पूर्वपक्षों के उत्तर में अपनी मान्यता की स्थापना करते हुए **महर्षि गौतम** ने **(४.१.२१) तत्कारितत्वादहेतुः** कहा है। पूर्वसूत्र में जो हेतु कहा गया है। **पुरुष कर्माभावे फलानिष्पत्तेः** ' उसका अर्थ यह नहीं है कि केवल जीवों का कर्म जन्य अदृष्ट ही संसार का कारण है ईश्वर नहीं। अपितु जीवों का कर्म या कर्म जन्य अदृष्ट भी कारण है। उपर्युक्त सूत्रगत तत् पद से ईश्वर का परामर्श होता है। अतः जीवों के कर्मों का फल ईश्वर कारित है – ऐसा सूत्र का अर्थ होता है। केवल कर्म कारण नहीं हो सकता है। उक्त हेतु **(पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः)** केवल जीव कर्म या कर्मजन्य अदृष्ट कारणता का हेतु नहीं हो सकता है। यही इस (अन्तिम) सूत्र का तात्पर्य है।

जीवों के शुभाशुभ कर्म या कर्मजन्य अदृष्ट तथा ईश्वर ये दोनों ही संसार की सृष्टि के प्रति निमित्त कारण है। यदि जीवों के कर्मजन्य धर्माधर्मात्मक अदृष्ठ की अपेक्षा नहीं करता हुआ ईश्वर–केवल इच्छा से संसार की सृष्टि तथा संहार करे तो उसमें पक्षपात तथा निर्दयता आदि अनेक अपरिहार्य दोषों की आपत्ति हो जाएगी। इसी तरह कार्यकारणभाव के आधार पर यह सिद्ध होता है कि कर्म किया तो फल की प्राप्ति होगी ही–यह मत भी समुचित नहीं है) क्योंकि कर्म करने पर भी फल की निष्पत्ति नहीं होती हुई कतिधा देखी गई है। अतः एक यदि कर्म फल के नियत सम्बन्ध की उपेक्षा करता है तो अपर ईश्वर की उपेक्षा करता हुआ देखा जाता है। फलतः जीवों के कर्मजन्य धर्माधर्मात्मक अदृष्ट के अनुसार अर्थात् उसके साचिव्य से ईश्वर संसार की सृष्टि करता है। न्यायदर्शन के प्रवर्तक **महर्षि गौतम** का यही अपना सिद्धान्त है–ऐसा प्रतीत होता है।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन की दृष्टि में ईश्वर की मान्यता

न्यायभाष्यकार **वात्स्यायन** का दूसरा नाम पक्षिल स्वामी है। इनका काल साधारणतः खृष्टीय द्वितीय शतक से खृष्टीय षष्ठ शतक के मध्य अनुमान किया जाता है।[2] सूत्रकार के बाद **वात्स्यायन** के समय तक कितने शतकों में न्यायशास्त्र की क्या

---

१. न्यायदर्शन की वङ्गभाषामयी व्याख्या, खण्ड ४ पृ०४५।

२. (क) विण्डिश महाशय न्यायभाष्य का समय खृष्टीय द्वितीय शतक मानते हैं। (डबेरस न्याय भाष्य पृ० १४-१५)

(ख) डॉ० सतीश चन्द्र विद्याभूषण का कहना है कि खृष्टीय चतुर्थ शतक या पञ्चम शतक न्यायभाष्य का समय है। (न्यायभाष्य की भूमिका पृ०१०)

प्रगति हुई–इसका निर्णय करना सर्वथा कठिन है।यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि भाष्य के अतिरिक्त इस बीच में सूत्र की व्याख्या अपर किसी ने की या नहीं। अतएव उस युग में ईश्वरवाद के प्रसङ्ग प्रगति का अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। अतः यहाँ भाष्य में उपलब्ध ईश्वर विषयक मान्यता को ही सूत्रकार के पश्चात् प्रस्तुत करने में प्रसङ्गसङ्गति प्रतीत होती है। भाष्यकार **वात्स्यायन** ने संसार के कर्त्ता रूप ईश्वर की सिद्धि में निम्न निर्दिष्ट युक्तियाँ तथा प्रक्रिया प्रस्तुत की है।

(क) बुद्धि आदि आत्म विशेष गुणों से युक्त **आत्मविशेष** ही ईश्वर है। उसका स्वरूप आत्मा से भिन्न प्रकार का नहीं हो सकता है। वह अधर्म, मिथ्याज्ञान तथा प्रमाद आदि जीव सुलभ गुणों से रहित है। अतएव जीवों से भिन्न हैं। साथ ही ज्ञान (सम्यक् ज्ञान, विवेक ज्ञान, नित्य ज्ञान धर्म (धर्म रूप प्रवृत्ति, क्लेश रहित प्रवृत्ति) तथा समाधि रूप सम्पत्ति से वह युक्त है, जो अन्य आत्मा में सर्वथा असम्भव है। धर्म तथा समाधि के फल रूप अणिमा आदि अष्टविध[१] ऐश्वर्य ईश्वर में सदा विद्यमान रहते हैं।[१] जो जीव में असम्भव है। फलतः ईश्वर (परमात्मा) संसारी तथा मुक्त दोनों प्रकार के जीवों से भिन्न अपने प्रकार का एक स्वयं वही है। यद्यपि इन अष्ट विध ऐश्वर्यो का लक्षण प्रसिद्ध होने से न्यायभाष्य में नहीं कहा गया है। तथापि अवसर सङ्गति देखकर योगशास्त्र से यहाँ उसका परिचय प्रस्तुत करना उचित प्रतीत होता है।

१. विशाल शरीर को परमाणु की तरह अत्यन्त सूक्ष्म करना **अणिमा** है। २. सूक्ष्म को अधिक विशाल बनाना **महिमा** है। ३. अत्यन्त विशाल शरीर भी इतना हल्का तथा छोटा हो जाता है कि सूर्य किरण के सहारे ऊपर उठ सकता है। यही लधिमा है।

---

१. (ग) म०म० हर प्रसाद शास्त्री ने वात्स्यायन को नागार्जुन तथा आर्यदेव का परवर्ती कहा है। (जे०ए०एस०बी० १९०५ पृ०१७८)

(घ) डॉ० जेकोबी का कहना है कि न्यायभाष्य का समय खृष्टीय षष्ठ शतक का आदि या उससे पहले है। (जे० ए० ओ० एस० ३१, १९११ पृ०-२.१३)

(ङ) डॉ० सुआली यहाँ डॉ० जेकोबी से सहमत है।

(च) डॉ० स्चेरवात्स्की की धारणा है कि न्यायभाष्य खृष्टीय पञ्चम शतक के परवर्ती काल का है।

(छ) डॉ० बोडस इसका काल खृष्टीय पञ्चम शतक का अन्त मानते हैं। तर्कसंग्रह की भूमिका पृ० ६१।

२. गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः। तस्य आत्मकल्पात् कल्पान्तरानुपपत्तिः। अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिसम्पादा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः। तस्य च धर्मसमाधिफलमणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यम् । (न्या०भा० ४।१।२१।)

४. अंगुली के अग्रभाग से भूमि पर बैठे ही चन्द्रमा का स्पर्श करना आदि असम्भव को सम्भव रूप में प्राप्त करना **प्राप्ति** है। ५. भूत एवं भौतिक पदार्थों की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करना **ईशित्व** है। ६. भूत तथा भौतिक पदार्थों को अधीन में रखना **वशित्व** है। ७. **अव्यर्थ** इच्छा, जल की तरह भूमि में आचरण करना, भूमि में ही स्नान आदि का सम्पादन करना **प्राकाम्य** है। तथा ८. सत्य संकल्प का पूरा करना यत्र **कामावसायित्व** रूप ऐश्वर्य है।[1]

(ख) ईश्वर किसी भी प्रकार के कर्म का अनुष्ठान किये बिना केवल संकल्प से सब कुछ करता है। ईश्वर का संकल्प जन्य धर्म प्रत्येक जीव में समवेत अदृष्ट[2] (धर्म अधर्म) को और पृथ्वी आदि महाभूतों को सृष्टि के लिए प्रवृत्त करता है। यद्यपि ईश्वर में धर्म नहीं रह सकता है, क्योंकि वह कर्म नहीं करता है तथापि सङ्कल्प रूप आन्तरिक कर्म वह करता रहता है, अतएव उसमें धर्म का रहना सङ्गत है। कर्म फल रूप अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य का ईश्वर में रहना असङ्गत है। क्योंकि वह कर्म का अनुष्ठान नहीं करता है–यह पूर्व पक्ष भी खण्डित हो जाता है। संकल्पात्मक कर्म करते रहने से ईश्वर में ऐश्वर्य तथा धर्म की अवस्थिति उपपन्न होती है। ईश्वर का स्वभाव भी सङ्कल्प से उत्पन्न होता है तथा उसके स्वकृत सङ्कल्प रूप कर्म का फल संसार के निर्माण में तत्परता है। सङ्कल्प मात्र से वह संसार की रचना करता रहता है।[3]

(ग) ईश्वर हम लोगों का आप्त भी है अर्थात् उसके वचन विश्वसनीय है। जैसे पिता पुत्र का आप्त होता है इसी तरह ईश्वर सभी प्राणियों के लिए आप्त है। पिता पुत्र के

---

१. अणिमा भवत्यणुः। लघिमा लघुर्भवति। महिमा महान् भवति। प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्। प्राकाम्यमिच्छानभिघातः भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके। वशित्वं भूतभौतिकेषु वशी भवत्यवश्यश्चान्येषाम्। ईशित्वं तेषां प्रभवव्यूहव्ययानामीष्टे। यत्रकामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्। एतान्यष्टावैश्वर्याणि (व्यासभाष्य, विभूतिपाद ३।४५, तथा सांख्यतत्त्वकौमुदी का० २३ व्याख्या)

२. द्रव्य में गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है। आत्मा द्रव्य है। अतएव उसमें गुण बुद्धि आदि समवाय सम्बन्ध से रहेगा और समवाय सम्बन्ध से रहने वाला पदार्थ आधेय, जिस आधार में रहता है उसका वह समवेत होता है। अतएव जीवात्मा में धर्माधर्म समवेत होकर ही रहता हैं स्वजन्य फलदातृत्व सम्बन्ध से अथवा स्वविषयनित्यज्ञानवत्त्वसम्बन्ध से धर्माधर्म रूप अदृष्ट का आधार ईश्वर होता हैं

३. सङ्कल्पानुविधायी चास्य धर्मः प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति। एवं च स्वतस्याभ्यागमस्यालोपेन निर्माणप्राकाम्यमीश्वरस्य स्वकृतकर्मफलं वेदितव्यम् (न्या०भा०४।१।२१।)

निर्देशक तथा हित में नियुक्त करने वाला होता है। इसी तरह सभी प्राणियों को नियुक्त करने वाला तथा मार्ग दिखाने वाला ईश्वर है।[1]

यहाँ यह ध्यान रखना है कि **वात्स्यायन** केवल आप्तता के विषय में ही पिता दृष्टान्त जीव तथा ईश्वर के सम्बन्ध के बीच मानते हैं इससे यह नहीं समझना कि जैसे पुत्र का उत्पादक पिता है या पुत्र, पिता का अंश है, इसी तरह जीव का ईश्वर है अथवा जीव ईश्वर का अंश है। फलतः **वात्स्यायन** ने ईश्वर को आप्त सांसारिक व्यवहार तथा अपवर्ग का उपदेष्टा -पथप्रदर्शक माना है।

(घ) यह पहले ही कहा जा चुका है कि ईश्वर का स्वरूप आत्मा से भिन्न प्रकार नहीं हो सकता है। क्योंकि उसमें कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो पदार्थान्तर सिद्ध कर बुद्धि का आश्रय होने से वह आत्मा ही सिद्ध होता है। आगम (शास्त्र) में भी यही धर्म बताया गया है। आगम सभी विषयों के द्रष्टा, बोद्धा और सर्वज्ञाता के ईश्वर का वर्णन करता है। अन्त में अपना वक्तव्य समाप्त करते हुए **भाष्यकार** है कि यदि ईश्वर आत्मलिङ्ग बुद्धि आदि से रहित होता तो वह निरूपाख्य बन । उसका विध्यात्मक वर्णन ही सम्भव नहीं होता, उसे जाना ही नहीं जा सकता, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम से अगोचर ही होता है। इस तरह बुद्धि आदि गुणों से मा विशेष रूप सगुण ईश्वर सिद्ध होता है।[2] जीवों के पूर्वकृत कर्म के फल धर्माधर्म अदृष्ट की अपेक्षा नहीं करके ईश्वर यदि सृष्टि में प्रवृत होता तो। सांसारिक वैचित्र्य नहीं होता तथा ईश्वर में वैषम्य तथा नैर्घृण्य आदि दोष आ जाते।

---

१. आप्तकल्पश्चायम्। यथा पिता अपत्यानां तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम्। (न्या० भा० ४.१.२१)

२. न चात्मकल्पादन्यः कल्प सम्भवति। न तावदस्य बुद्धिं बिना कश्चिद् धर्मो लिङ्गभूतः शक्य उपपादयितुम्। आगमाच्च द्रष्टा बोद्धा सर्वज्ञाता ईश्वर इति। बुद्ध्यादिभिश्चात्मलिङ्गै निरूपाख्यमीश्वरं प्रत्यक्षानुमानागमविषयातीतं कः शक्त उपपादयितुम्? (न्या० भा० ४.१.२१)। अभिप्राय यह है कि वेदान्त दर्शन में वेद के आधार पर निर्गुण ब्रह्म का उपपादन किया गया है। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुति से निर्गुण ब्रह्म की सिद्धि देखी जाती हैं। माध्ववेदान्त सम्प्रदाय इस श्रुति का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहता है कि यह श्रुति अद्वितीय ईश्वर परक है। जैसे गाँव में एक धनवान है- इस वाक्य से इतर धनवान् का निषेध होता है न तु दरिद्र का। इसी तरह न्याय मत में जगत् कर्त्ता ईश्वर सगुण होकर ही सृष्टि चलाता है तथा वह अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध होता है। आगम से निर्गुण ईश्वर की अनुपाख्यता कथन न्यायभाष्यकार के वेदान्त मत में अस्वारस्य का द्योतन करता है।

न्यायभाष्यकार के बाद ख्रीष्टीय सप्तम शतक तक न्यायशास्त्र में बहुत प्रगति हुई। किन्तु इसका क्रमिक विवरण संकलित करने का आधार हमलोगों के हाथ में उपस्थित नहीं हैं। केवल कहीं कहीं विक्षिप्त उद्धृत सन्दर्भ एवं नामोल्लेख से इस युग के विशिष्ट नैयायिकों को जाना जा सकता है। भाष्यकार के परवर्ती तथा **वाचस्पति मिश्र** के पूर्ववर्ती छह विशिष्ट नैयायिकों की सूचना मिली है जिन्होंने प्रायः **न्यायभाष्य** की व्याख्या लिखी थी। इनमें **उद्योतकर** का न्यायवार्तिक मात्र उपलब्ध है।

दुर्वेकमिश्र ने **धर्मोत्तरप्रदीप** में (१) **विश्वरूप** कृत न्यायभाष्य व्याख्या के सन्दर्भ का उद्धरण दिया है। प्राचीन नैयायिक **आचार्य अनिरुद्ध** ने अपनी **विवरण** पञ्जिका नामक **न्यायभाष्य वार्तिक** तथा तात्पर्य टीका की व्याख्या में दिखाया है कि वाचस्पति ने स्थल विशेष में विश्वरूप के मत का अनुसरण किया है।[1] **न्यायविनिश्चय विवरण** में **वादिराजसूरि** ने **विश्वरूप** के मत का अनुसरण किया है। न्यायविनिश्चय विवरण में वादिराजसूरि ने विश्वरूप के सन्दर्भों का उल्लेख एवं खण्डन किया है।[2] (२) **अध्ययन** भी **न्यायभाष्य** के व्याख्याकार थें। **धर्मोत्तरप्रदीप** में **दुर्वेकमिश्र** ने **आचार्य अध्ययन** की **रुचि टीका** का उल्लेख किया है।[3] **गुणरत्न सूरि** ने **षड्दर्शन समुच्चय** की व्याख्या में **अध्ययन** के अनुमान विषयक विशिष्ट मत का उद्धरण दिया है।[4] उपलब्ध सन्दर्भों के विचार करने से प्रतीत होता है कि प्रस्तुत **रुचि टीका न्यायभाष्य** पर ही लिखी गयी होगी। **प्रमाणवार्तिक** की **स्ववृत्ति टीका** में **कर्णक गोमी** ने तथा **सम्मति तर्क** की व्याख्या में **अभयदेव सूरि** ने भी इनके सन्दर्भों को उठाया है।

आचार्य धर्मकीर्ति के वादन्याय पर **शान्तरक्षित** ने **विपञ्चितार्था** व्याख्या लिखी है। इसमें (३) अविद्धकर्ण कृत तत्त्व टीका की चर्चा आती है।[5] शान्तरक्षितकृत तत्त्व सङ्ग्रह तथा कमलशील कृत उसकी पञ्जिका व्याख्या में **अविद्धकर्ण** का उल्लेख एवं इनके सन्दर्भो का उद्धरण विभिन्न स्थलों में मिलता है। **प्रमाणवार्तिक** में अविद्धकर्ण

---

१. विश्वरूपव्याख्यानपक्षमालम्बितवान् (विवरणपञ्जिका पृ०२)
"यद्यपि न्यायभाष्यटीकावार्तिकयोः विश्वरूपोद्योतकरावाहतुः" (धर्मोत्तर प्रदीप, पृ.१७५)
आदिशब्दात् विश्वरू पयाज्ञवल्क्यादेःसंग्रहः (धर्मोत्तर प्रदीप, पृ०२४७)

२. अतएव विश्वरूपेण दर्शनमेव पुरस्कृत्य संकेतकरणमुपदर्शितम् (न्याय-विनिश्चयविवरण, भाग १, पृ.५३७)

३. अध्ययनः पुना रुचिटीकायामिदमवोचत् (धर्मोत्तरप्रदीप, पृ०१७५)

४. अत्र व्याख्याद्वये प्रथम व्याख्यानमेव बहूनामध्ययनप्रभृतीनामभिमतम्।

५. वादन्याय विपञ्चिचार्था व्याख्या, पृ. ३५,४०

६. तत्त्वसंग्रह तथा उसकी पञ्जिका व्याख्या, पृ०८, ४५२ ४५५

का उल्लेख पूर्वपक्षरूप में हुआ है[१] **अविद्धकर्ण** भी **न्यायभाष्य** के व्याख्याकार रहे होंगे। यथास्थान ईश्वरवाद विषयक इनका अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया जाएगा। **वादन्याय** की विपञ्चितार्था व्याख्या में **शान्तरक्षित** ने **भाविविक्त नामक** किसी नैयायिक की चर्चा **न्यायभाष्य** के व्याख्याकार रूप में की है।[१]

वाचस्पति मिश्र के गुरु अनुपलब्ध न्यायमञ्जरी के रचयिता **आचार्य त्रिलोचन** के मतों का संरक्षण **तात्पर्यटीका** के माध्यम से हुआ हैं। **विवरणपञ्जिकाकार आचार्य अनिरुद्ध** ने **वाचस्पति** को **त्रिलोचन** के अनुगामी होने का स्पष्ट उल्लेख किया है।[२] ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली में इनकी ईश्वरवाद विषयक युक्तियाँ उपलब्ध होती है, उनका समावेश यथास्थान यहाँ किया जायेगा।

न्यायभाष्य के प्राचीन व्याख्याकारों में **न्यायवार्तिककार उद्योतकर** ही कालजयी हुए। इसका कारण आगे निर्दिष्ट किया जाएगा। **आचार्य उदयन** ने **उद्योतकर** के काल को आन्वीक्षिकी विद्या की यौवनावस्था कही है।[३] उपर्युक्त **न्यायभाष्य** के व्याख्याकारों में कितने व्यक्तियों को **उद्योतकर** से प्राचीन होना सम्भव है। यद्यपि प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। तथापि **उद्योतकर** के **न्यायवार्तिक** में प्राचीन मतों का निर्यास मिलता है। **उद्योतकर** से पहले ही न्यायशास्त्र को प्रबल **बौद्ध** तार्किकों से सामना करना पड़ा। न्यायवार्तिक के मङ्गलाचरण में इन्होंने कुतार्किकों के अज्ञान-निवारण को अपने ग्रन्थ प्रणयन का प्रयोजन कहा है।[४] **वाचस्पति मिश्र** ने **तात्पर्यटीका** में यहाँ कुतार्किक शब्द से दिङ्नाग आदि बौद्ध आचार्यों का ग्रहण किया है।[५] वस्तुतः **दिङ्नाग** कृत न्यायभाष्य के खण्डन से परवर्ती नैयायिक सम्प्रदाय में अपूर्व जागरण हुआ।

दिङ्नाग की मान्यताओं के खण्डन करने के लिए केवल **उद्योतकर** ही नहीं अपितु उपर्युक्त **विश्वरूप** आदि न्यायभाष्य के व्याख्याकार प्रचुर प्रयत्न किये होंगे। अतएव **दिङ्नाग** के प्रस्थान में परवर्ती ग्रन्थकारों के तत्तत्मतों का उद्धरण एवं खण्डन उपपन्न होता है।

उद्योतकर केवल नैयायिक ही नहीं थे। इन्होनें भिन्न-भिन्न शास्त्रों के सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन किया था। वे स्वयं पाशुपत सम्प्रदाय के आचार्य थे। अतएव न्याय

---

१. प्रमाणवार्तिक की स्ववृत्तिटीका पृ०५८।

२. विवरणपञ्जिका में पृ० ११, २२, ३७, ३९ तथा ६०में मञ्जरीकार रूप में तथा पृ० ५४ में त्रिलोचन नाम से उद्धृत हुए हैं।

३. उद्योतकरसंप्रदायो हि अमूषां यौवनम् (परिशुद्धि, न्यायचतुर्ग्रन्थिका, पृ०७०)

४. कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः।

५. दिङ्नागप्रभृतिभिरर्वाचीनैः कुहेतुसन्तमससमुत्थापनेनाच्छादितं शास्त्रम् (तात्पर्य-टीका, आरम्भ भाग)

वार्तिक के ईश्वरवाद प्रकरण में स्वभावतः **पाशुपत मत** की चर्चा का बाहुल्य देखा जाता है। प्रसङ्गतः यह उल्लेख अनुचित नहीं होगा कि न्यायशास्त्र के साथ **पाशुपत योग** शास्त्र का सम्बन्ध प्राचीन काल से ही आ रहा है। न्यायभाष्यकार ने अपना मन्तव्य एक स्थल में योग सिद्धान्त नाम से उल्लेख किया है।[1] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में अन्वीक्षिकी सम्प्रदाय के अन्यतम रूप में योग सम्प्रदाय का उल्लेख किया है।[2] अनुमान किया जाता है कि यहाँ भी पाशुपत योगानुसारी नैयायिक का ही उल्लेख **कौटिल्य** ने किया हुआ है। पश्चात् नैयायिकों में **भासर्वज्ञ** पाशुपताचार्यो में विशिष्ट हुए। वैशेषिक शास्त्र के प्रसिद्ध सिद्धान्त न्यायशास्त्र के समान होने से दोनों ही सम्प्रदाय योग अथवा यौग नाम से प्रसिद्ध वैशेषिक हुए, आचार्य **व्योमशिव** पाशुपत मतावलम्बी थे। **गुणरत्नसूरि** ने **षड्दर्शनसमुच्चय** व्याख्या में तात्कालिक प्रसिद्धि के अनुसार वैशेषिकों को **पाशुपत** तथा नैयायिकों को **शैव** मतानुयायी कहा है।

अधो निर्दिष्ट विवरण से स्पष्ट होगा कि **वात्स्यायन** के न्याय सम्प्रदाय में **उद्योतकर** का एक विशिष्ट स्थान है। लेकिन उनके ग्रन्थ **वार्तिक** में उपलब्ध ईश्वर साधक युक्तियाँ केवल इन्हीं का अवदान नहीं है। सम्भव है कि प्राचीन नैयायिकों के मतों का संग्रह करके अपनी मान्यता के साथ ईश्वर साधक युक्तियाँ उन्होंने यहाँ प्रस्तुत की हो। अब यहाँ **उद्योतकर** की ईश्वर साधक युक्तियाँ उपस्थित की जाती है।

ईश्वर की सिद्धि में न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर की युक्तियाँ

आचार्य **उद्योतकर** का कहना है कि संसार का उपादान कारण परमाणु है और जीवों के कर्मों की सहायता से ईश्वर परमाणुओं से सभी कार्यों को उत्पन्न करता है। अतः वह संसार का निमित्त कारण है। ईश्वर जिस जीव के जिस कर्म का विपाक काल आता है, उस जीव को उस कर्म के अनुसार इस संसार में फल देता है– यह ईश्वर का अनुग्रह है। ईश्वर का ऐश्वर्य नित्य है। वह धर्म का (पूर्व कृत कर्म का) फल नहीं है। ईश्वर में धर्म नहीं है। ईश्वर में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग और बुद्धि – ये छह गुण हैं। इसमें अश्लिष्ट तथा अव्याहत इच्छा भी है। ईश्वर शरीरी नहीं है।[3]

---

१. असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुद्ध्यते इति योगानाम्। (१.१.२९ न्यायभाष्यम्।)

२. सांख्य योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी। कौटिलीय अर्थशास्त्र, (१ अधिकरण अध्याय २ सूत्र०)

३. ईश्वरश्चेत् जगतो निमित्तं, जगतः साक्षादुपादानकारणं किम्? उक्तं पृथिव्यादि परमसूक्ष्मं परमाणुसंज्ञितं द्रव्यमिति।

न ब्रूमः कर्माद्यनपेक्ष ईश्वरः कारणमिति । न्या० वा० ४.१.२१

कोऽनुग्रहार्थः यद् यथाभूतं यस्य च यदा विपाककालः तत् तथा तदा विनिर्युङ्क्ते।

यद्यपि यह विवाद का विषय रहा है कि ईश्वर इस संसार का निमित्त कारण है या नहीं। क्योंकि किसी के मत से काल ही संसार का कर्त्ता है। स्त्री तथा पुरुष के संयोग से होने वाला गर्भ भी काल के बिना शिशु का जन्म नहीं देता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि शिशु के जन्म में गर्भ का परिणाम अपेक्षित हैं। कभी-कभी अपरिणत गर्भ का भी जन्म हो जाता है। वह काल शीत, उष्ण तथा वर्षा आदि उपाधि से युक्त ही रहता है। दण्ड चक्र आदि सभी कारणों के उपस्थित रहने पर भी यदि अवसर नहीं है तो घट का निर्माण नहीं होता है। अतएव प्रत्येक कार्य के प्रति काल कर्त्ता रूप निमित्तकारण होता है। रसोई बनते समय अवसर पर यदि उसमें वस्तुओं का उपयोग नहीं किया जाय तो वह पाक शुद्ध रस से युक्त नहीं होता है। फलतः काल का कर्त्ता रूप निमित्तकारण होना सिद्ध होता। इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है। कालवादी दार्शनिक की इस मान्यता का उल्लेख **शास्त्रवार्तासमुच्चय** में **हरिभद्र सूरि** ने किया हैं[१], **सम्मतिसूत्र** में भी इस मत की चर्चा मिलती है।[२]

महर्षि कपिल का सांख्यदर्शन प्रकृति को ही संसार का कर्त्तारूप निमित्त कारण मानता है। इस प्रसङ्ग में **उद्योतकर** के वक्तव्य का विश्लेषण आवश्यक प्रतीत होता है।

यद्यपि प्रकृति पद यहाँ सांख्यदर्शन के प्रधान पदार्थ का संकेत करता है, जो संसार का उपादान कारण माना गया है, निमित कारण नहीं। **उद्योतकर** ने प्रकृति को संसार का निमित्त कारण कहकर पूर्वपक्ष उठाया है, जो असमञ्जस प्रतीत होता है। तथापि यहाँ वक्तव्य यह है कि प्रकृतिकारणतावाद का खण्डन **आचार्य उद्योतकर** का अभिप्रेत है। प्रकृति के अचेतन होने से प्रवृत्ति के लिए प्रवर्तक की अपेक्षा होना स्वाभाविक है पुरुषार्थ उसका प्रवर्तक माना गया है। पुरुषार्थ के दो प्रकार हैं- (१) विषय की उपलब्धि तथा (२) पुरुष के साथ प्रकृति के भेद का ज्ञान। प्रथम प्रकार का पुरुषार्थ सांसारिक व्यवहार का साधक है और इसका दूसरा प्रकार प्रकृति और पुरुष में भेद दिखाकर परम पुरुषार्थ मुक्ति का लाभ कराता हैं । ये दोनों ही प्रकारों के पुरुषार्थ तब उपस्थित होते हैं जब प्रकृति प्रवृत्त होकर शब्द आदि का आविर्भाव किये रहती है।

अथ नित्यमैश्वर्यं धर्मवैयर्थ्यम्, न तद् धर्माद् भवतीति। नित्यमिति ब्रूमः। न चेश्वरे धर्मोऽस्तीत्यचोद्यमेतत्।

संख्या-परिमाणः- पृथक्त्व संयोग-विभाग-बुद्धय एव तस्य गुणाः।

इच्छा तु विद्यतेऽक्लिष्टाव्याहता सर्वार्थेषु यथा बुद्धिरिति (न्या० वा० ४.१. २१)

१. कालादीनां च कर्तृत्वं मन्यन्तेऽन्ये प्रवादिनः।

केवलानां तदन्ये तु मिथः सामग्र्यपेक्षणे।। शास्त्रवार्तासमुच्चय पृ० १६४

किन्तु पुरुषार्थ को प्रवर्तक मानने में परस्पराश्रयता दोष की आपत्ति होती है। जब पुरुषार्थ आविर्भूत होगा तब वह प्रकृति को प्रवृत्त करेगा, जो शब्द आदि का आविर्भाव करती है। और जब प्रकृति के द्वारा शब्द आदि का आविर्भाव होगा, तब पुरुषार्थ आविर्भूत होकर प्रकृति को प्रवृत्त करेगा। इस तरह परस्पराश्रयता दोष से युक्त पुरुषार्थ प्रकृति का प्रवर्तक नहीं हो सकता है।

यद्यपि **सांख्यदर्शन** की मान्यता प्रकृति को स्वयं प्रवृत्त मानती है। पुरुषार्थ प्रकृति का प्रवर्तक नहीं माना गया है। जैसे स्तन्य शिशु के समक्ष होते ही स्वयं प्रसृत होने लगता है, इसी तरह प्रकृति स्वयं प्रवृत्त होती है।[१] पुरुषार्थ रूप प्रवर्तक की अपेक्षा वह नहीं करती है तथापि उपर्युक्त दोष के निराकरण के साथ उक्त असमञ्जस का समाधान भी यहाँ हो जाता है। **उद्योतकर** ने इसी मान्यता के आधार पर सिद्ध किया होगा कि प्रकृति में निमित्तकारणत्व भी है और उसका उपादानत्व तो प्रसिद्ध है ही।

दूसरा समाधान उक्त असमञ्जस का यह हो सकता है कि सांख्य आदि न्याय से भिन्न दर्शन समवाय सम्बन्ध को नहीं मानते हैं। इसी तरह नैयायिक के घर में भिन्न दर्शन का कारण पद से बोध्य पदार्थ निमित्त कारण ही होगा। क्योंकि समवाय सम्बन्ध के नहीं मानने से समवायिकारण भी उस दर्शन में प्रसिद्ध नहीं होगा।[२] और इसकी ही अप्रसिद्धि असमवायिकारण को भी प्रसिद्धि नहीं होने देगी। क्योंकि इन दोनों कारणों की समवाय सम्बन्ध घटित परिभाषा की गयी है। फलतः दर्शनान्तर का कारण नैयायिक के घर में निमित्त कारण में ही अन्तर्भूत हो सकता है। इसी वासना से प्रसंगवश प्रकृति को न्यायवार्तिककार ने निमित्तकारण कहा हो। "केचित्प्रकृति" इत्यादि वाक्य खण्ड का यही तात्पर्य प्रतीत होता है।

उद्योतकर के मत में संसार का निमित्तकारण (कर्त्ता) ईश्वर है। इसमें प्रमाणों की निर्विरोध प्रवृत्ति देखी जाती है। यह प्रश्न नहीं करना चाहिए कि जिसका अस्तित्व ही सन्दिग्ध है या असिद्ध है, उसमें निमित्तकारणता कैसे उत्पन्न हो सकती है। जिस प्रमाण से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है उसी से उसका निमित्त कारण होना भी सिद्ध होता है।[३]

---

१. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। सा० का० ५७।

२. यत् समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्। कार्यैकार्थकारणैकार्थान्यतरप्रत्यासत्या समवायिकारणे प्रत्यासन्नं कारणं ज्ञानादिभिन्नमसमवायिकारणम्। उभाभ्यां च भिन्नं कारणं निमित्तकारणम्। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, प्रत्यक्ष खण्ड का० १८।

३. येनैव न्यायेनेश्वरस्य कारणत्वं सिद्ध्यति तेनैवास्तित्वमपीति। न्या०वा० ४.१.२१

अभिप्राय यह है कि न्यायदर्शन में चार प्रमाण माने गये हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान तथा शब्द। किसी भी वस्तु की सिद्धि में इनमें से किसी एक प्रमाण अथवा उससे अधिक प्रमाणों का आश्रय लेना आवश्यक होता है। एक प्रमाण से वस्तु की सिद्धि प्रमाण व्यवस्था के अन्तर्गत आती है। और अनेक प्रमाणों की अपेक्षा रखने वाली वस्तुसिद्धि प्रमाण सम्प्लव का उदाहरण मानी जाती है। ईश्वर भी प्रमाण सम्प्लव से सिद्ध होता है -अनुमान तथा आगम यहाँ प्रमाण रूप में संलग्न है। चूँकि ईश्वर को किसी ने आज तक देखा नहीं है। अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण से इसकी सिद्धि सम्भव नहीं है। दृष्ट विषय में ही प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रशक्ति रहती है। इसी तरह उपमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष पर आधारित होने से ईश्वर की सिद्धि में असमर्थ है। फलतः अनुमान तथा आगम से ही उसका सिद्ध होना सम्भव है।

उद्योतकर अधो निर्दिष्ट अनुमान के आधार पर ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। परमाणुओं में जो क्रिया देखी जाती है वह प्रवृत्ति के पहले ही बुद्धिमान व्यक्ति रूप कर्त्ता (कारण) से अधिष्ठित है। क्योंकि बुद्धिमान के अधिष्ठान के बिना अचेतन में क्रिया नहीं होती है। जैसे बढ़ई (बुद्धिमान व्यक्ति) के अधिष्ठान के बिना कुल्हारी (अचेतन) लकड़ी को नहीं काट सकता है और उससे अधिष्ठित होने पर काटता है।[१] इसी तरह अचेतन परमाणुओं की क्रिया देखकर अनुमान किया जाता है कि वह भी बुद्धिमान से अधिष्ठित है। हम लोग उस क्रिया का अधिष्ठाता नहीं हो सकते हैं। नियम है कि अधिष्ठाता को अधिष्ठेय का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान रहता है। परमाणुओं में महत्व के नहीं रहने से मानव इन्द्रियों से उसका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। अतः अतीन्द्रिय परमाणुओं का प्रत्यक्ष करने वाला हम लोगों से भिन्न तथा बुद्धिमान ईश्वर परमाणुओं की क्रिया का अधिष्ठाता सिद्ध होता है। फलतः परमाणुओं की क्रिया रूप हेतु से अनुमित तथा अतीन्द्रिय परमाणुओं के प्रत्यक्ष करने में सर्वथा समर्थ ईश्वर उक्त अधिष्ठाता के रूप में अस्तित्व लाभ करता है, जो जगत् का निमित्त कारण है।

अनीश्वरवादी सांख्य का कहना है कि अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर को मानना सङ्गत नहीं है। क्योंकि प्रकृति पुरुषार्थ से ही अधिष्ठित होकर संसार की सृष्टि में प्रवृत्त होती है।[२] पहले ही यहाँ कहा जा चुका है कि पुरुषार्थ से पुरुष का प्रयोजन अभिप्रेत है। इसके दो प्रकार सांख्य दर्शन में वर्णित है १. सांसारिक व्यवहार का साधक शब्द आदि की उपलब्धि और (२) परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधक प्रकृति तथा पुरुष में भेद का ज्ञान। इन दोनों ही पुरुषार्थों की सिद्धि प्रकृति की प्रवृत्ति के बिना सम्भव नहीं है।

---

१. यथा वास्यादि बुद्धिमता तक्ष्णा अधिष्ठितमचेतनत्वात् प्रवर्तते तथा प्रधानपरमाणुकर्माणि अचेतनानि प्रवर्तन्ते। तस्मात् तान्यपि बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि। न्या०वा०४।१।२१।

२. पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् । सां० का०३१।

सांख्य का सिद्धान्त है कि सत्व, रजस् तथा तमस् इस त्रिगुण का वैषम्य–न्यूनाधिक रूप में रहना– संसार का साधक होता हैं। प्रकृति त्रिगुणमयी है। जब इन गुणों में परस्पर न्यूनता या अधिकता रहती है, तब प्रकृति सांसारिक विषयों में प्रवृत्त होती है। जब इन गुणों का साम्य रहता है, तब प्रकृति सांसारिक कार्य करने से विरत हो जाती है। फलतः प्रकृति में जब तक सांसारिक कार्य सम्पादन के लिए क्रिया नहीं उत्पन्न होगी तब तक किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि सम्भव नहीं है और जब तक पुरुषार्थ स्वयं अस्तित्व लाभ नहीं करता है तब तक वह दूसरे की अधिकता का ज्ञान कैसे कर सकता है। जब तक यह अधिकता नहीं होता है। तब–तक प्रकृति प्रवृत्त कैसे होगी–इस तरह परस्पराश्रयता दोष[१] होता है अतः मानना होगा कि प्रकृति पुरुषार्थ से अधिष्ठित नहीं हो सकती है और निरधिष्ठित प्रकृति प्रवृत्त नहीं हो सकती है। वह दूसरे का अधिष्ठाता कैसे हो सकती है।

अपि च, असत् की सत्ता नहीं होती है । जैसे आकाश कुसुम की सत्ता नहीं देखी जाती है। और जो सत् है उसका निरोध कदापि संम्भव नहीं है–**"नासतो विद्यते नाभावो विद्यते सतः।**[१] **उद्योतकर** का वक्तव्य है कि यदि विद्यमान होकर पुरुषार्थ प्रकृति को प्रवृत्त कराता है तब पुरुषार्थ के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं होगी । जो वस्तु जिसका होता है उसके लिए वह प्रयत्न नहीं करता है। रत्न राजा के लिए होता है किन्तु रत्न राजा का अन्वेषण नहीं करता है। इसी तरह प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुषार्थ के लिए होती है, किन्तु पुरुषार्थ उसके लिए यत्न नहीं करेगा।

अपि च, सांख्य का सिद्धान्त है कि किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता है। पुरुषार्थ भी अविनाशी होने से सर्वदा रहेगा ही और अनवरत वह प्रकृति को प्रेरित करेगा। प्रकृत्ति की निरन्तर प्रवृत्ति रूप दोष उपस्थित होने से अनवस्था होगी जो शास्त्रकारों को मान्य नहीं है।[२]

अपि च, यह नहीं कहा जा सकता है कि पुरुषार्थ विद्यमान होकर भी प्रकृति को प्रवृत्त नहीं करेगा। क्योंकि तब उसे कारण ही नहीं कहा जा सकता है। जिसके अभाव में प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं होती है तथा जिसकी सत्ता रहने पर प्रकृति प्रवृत्त होती है।

---

१. गीता २।१६

२. जो पदार्थ अपनी उत्पत्ति, स्थिति तथा ज्ञान में किसी पदार्थ को बीच में रखकर पुनः अपनी ही अपेक्षा करता है तो उस स्थल में उसके चलते जो आपत्ति होती है उसी का नाम अन्योन्याश्रय है। स्व यदि स्व ज्ञान के सापेक्ष ज्ञान के सापेक्ष ज्ञान का विषय होगा तो स्व से भिन्न हो जाएगा। यह तर्क- विरोध ही अन्योन्याश्रय के दूषण का बीज है। अन्योन्याश्रय कार्य का प्रतिबन्धक होता है। जैसे डुबती हुई नाव में यदि दूसरे नाव को बाँध दिया जाए तो दोनों ही डूब ही जाती है। इसी तरह अनवस्था भी होती है।

वही कारण होता है। यदि पुरुषार्थ के रहने पर भी प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं होती है तो उसे कारण नहीं कहा जाएगा। यदि कहा जाए कि प्रतिबन्धक रहने से पुरुषार्थ प्रकृति को प्रवृत्त नहीं करता है। प्रत्येक कार्य के प्रति प्रतिबन्धक के अभाव को कारण माना गया है। सभी कारणों की उपस्थिति में भी कार्य को नहीं होते हुए देखकर बुद्धिमान व्यक्ति अदृष्ट को प्रतिबन्धक मान लेते हैं।[१] अतएव प्रतिबन्धक के अभाव को स्वतन्त्र रूप से कारण मानना ही होगा। तो अब, उत्तर यह है कि सांख्य दर्शन किसी सत् पदार्थ का नाश नहीं मानता है। अतएव प्रतिबन्धक का भी नाश नहीं होगा। और सतत प्रतिबन्धक के रहने से पुरुषार्थ से अधिष्ठित प्रकृति का प्रवृत्ति कभी नहीं होगी। अतएव पुरुषार्थ में अधिष्ठातृत्व रहने से भी कोई लाभ नहीं दीख पड़ता है।

अपि च, जब तक सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीन गुणों को साम्यावस्था की निवृत्ति नहीं होगी तब तक इन गुणों का वैषम्य नहीं हो सकता है। किन्तु उस साम्यावस्था का निवर्तक कौन होगा? यह नहीं कहा जा सकता है कि उक्त गुणों में से किसी गुण के अंग रूप में रहने से तथा किसी के अंगी रूप में रहने से वैषम्य होने पर प्रकृति संसार की सृष्टि में प्रवृत्त होगी। क्योंकि यहाँ भी पुनः प्रश्न होगा कि जब तक उक्त गुण साम्यावस्था में थे तब तक किसी गुण को घटाकर तथा किसी को बढ़ाकर किसने रख दिया है, जिससे उनमें वैषम्य के कारण प्रकृति संसार की सृष्टि में प्रवृत्त होती है। उन गुणों की स्थिति में परिवर्तन के लिए किसी अपूर्व पदार्थ का आगम नहीं हुआ है, न उसमें किसी पदार्थ की हानि ही हुई है, जिससे स्थिति में परिवर्त्तन होगा।

जिस शब्द आदि को (जो पहले से नहीं थे) पुरुष उपलब्ध करता है उसमें किसी विशेष पदार्थ का समावेश नहीं हुआ। किसी विशेष पदार्थ की हानि भी उसके लिए नहीं हुई है। यदि उस स्थल में किसी विशेष पदार्थ का अस्तित्व माना जाए तो सांख्य दर्शन के सिद्धान्त का भंग होता है। इस दर्शन में किसी असत् पदार्थ का अस्तित्व मान्य नहीं है। उक्त विशेष पदार्थ का अस्तित्व पहले से नहीं था और बाद में यदि माना जाए तो उक्त दर्शन का सिद्धान्त विरोध स्पष्ट ही है।

यदि उक्त स्थल में किसी अतिरिक्त पदार्थ की सत्ता नहीं मानी जाए तो भी सांख्य दर्शन का सिद्धान्त भंग होता है। इसका कहना है कि पुरुषार्थ प्रकृति को प्रवृत्त कराता है।

---

१. पुरुषार्थ सुख के लिए प्रकृति का प्रवृत्त कराना चाहता है किन्तु अधर्म उसका प्रतिबन्धक हो जाएगा, एवं वह दुःख के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति चाहता है, किन्तु धर्म उसका प्रतिबन्धक हो जाएगा। अतएव प्रतिबन्धक रहने से पुरुषार्थ प्रकृति को प्रवृत्ति नहीं करता है।

सुखाय पुरुषार्थेन प्रधाने प्रवर्तयितव्ये अधर्मः पुरुषार्थस्य प्रतिबन्धकः। एवं दुःखाय पुरुषार्थेन प्रधाने प्रवर्तयिव्ये धर्मः। न्या० ता० ४.१.२१.

अतएव पुरुषार्थ से अधिष्ठित होकर जड़ प्रकृति संसार की सृष्टि के लिए प्रवृत्त होती है किन्तु उक्त विचारों के आधार पर इस सिद्धान्त का भी खण्डन हो चुका है। अतएव पुरुषार्थ प्रकृति का प्रवर्तक नहीं हो सकता है। इस तरह से सांख्य सिद्धान्त की जितनी ही विश्लेषण पूर्वक व्याख्या की जाएगी उतना ही वह असङ्गत सा प्रतीत होता जाएगा।

इस तरह निरीश्वरवादी सांख्य दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया का खण्डन करके अपने सिद्धान्त –संसार का निमित्त कारण ईश्वर है– का दृढ़ीकरण वार्तिककार ने किया। अब इस सिद्धान्त में – ईश्वर निमित्तकारणतावाद में – विभिन्न दार्शनिकों की अनुपपत्तियों को उठाकर सयुक्तिक खण्डन प्रस्तुत करते हैं। इससे अपने मत का मूल दृढ़तर होगा।

नैयायिक के सिद्धान्त पक्ष में प्रतिवादियों का कहना यह है कि यदि यह मान लिया जाय कि पुरुष के प्रयत्न से अधिष्ठित होकर परमाणु संसार की सृष्टि के लिए प्रवृत्त होता है तो प्रश्न उठता है कि परमाणु नित्य है, अतएव उसकी क्रिया भी नित्य होगी। नियम है कि नित्य पदार्थ में रहने वाली क्रिया नित्य होती है। अब अनवरत परमाणुओं की प्रवृत्ति होती रहेगी, उन परमाणुओं को क्रिया से विरति कदापि नहीं होगी। अतएव न्यायपक्ष में जो नहीं होता है उसका होना रूप अनिष्ट की आपत्ति हो जाएगी।

यदि यह कहा जाए कि काल विशेष की अपेक्षा करता हुआ परमाणु प्रवृत्त होता है तो भी जैसे अचेतन होने से परमाणु को बुद्धिमान की अपेक्षा थी। उसी तरह से काल भी अचेतन है। अतएवः इसे भी बुद्धिमान की अपेक्षा होगी। **उद्योतकर के परवर्ती वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्व कौमुदी में ''वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्ति रज्ञस्य[१]''** इस कारिका के अवतरण में योगदर्शन के सिद्धान्त को पूर्वपक्ष रूप में उपस्थित करते हुए उपर्युक्त वार्तिक के मत को स्पष्ट किया है। अचेतन प्रकृति ईश्वर से अधिष्ठित होकर ही सृष्टि के लिए प्रवृत्त होती है, क्योंकि जड़ पदार्थ स्वयं स्वार्थ या परार्थ के लिए प्रवृत्त नहीं हो सकता है। प्रकृति चूँकि जड़ है, अतः इसके प्रवर्तक रूप में किसी चेतन को मानना होगा। प्रकृति का प्रवर्तक जीवात्मा नहीं हो सकता है। जिस वस्तु का प्रत्यक्ष जो व्यक्ति करता है, वही उसका प्रवर्तक होने का अधिकारी हो सकता है। जीवात्मा को प्रकृति का प्रत्यक्ष ही नहीं होता है। अतः वह उसका अधिष्ठाता नहीं हो सकता है। यहाँ ध्यान रहना चाहिए कि योगदर्शन के साथ न्यायदर्शन का इस अंश में मतैक्य है।

इसके उत्तर में सांख्य की युक्ति यह है कि जड़ पदार्थ भी स्वयं प्रवृत्त होकर प्रयोजन की सिद्धि करता है। जैसे बछड़े (शिशु) के क्रमिक विकास के लिए

---

१. सांख्यकारिका ५७।

अचेतन दूध स्वयं प्रसृत होता हुआ देखा जाता है। इसी तरह जड़ प्रकृति भी सृष्टि के लिए स्वयं प्रवृत्त होगी। एतदर्थ योगदर्शन में प्रतिपादित ईश्वर को प्रकृति के अधिष्ठाता के रूप में मानने की आवश्यकता नहीं है।

सांख्य के इसी सिद्धान्त को हृदय में रखकर न्यायवार्तिककार **उद्योतकर** पूर्वपक्ष करते हैं कि अचेतन परमाणु भी स्वयं निरपेक्ष होकर प्रवृत्त होगा। जैसे दूध शिशु के लिए प्रवृत्त होता है। **वार्त्तिककार** इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसी स्थिति में जैसे अचेतन दूध स्वयं शिशु के लिए प्रसृत होता है। इसी तरह परमाणु भी बिना काल की अपेक्षा किये ही सर्वदा पुरुषार्थ की सिद्धि करने लगेगा, जो इष्ट नहीं हैं।[१]

'पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि' वेदान्तसूत्र (२.२.३) के भाष्य में भगवान् शङ्कराचार्य ने सांख्य के इस आशय के खण्डन के साथ उद्योतकर के उक्त मत का समर्थन किया है।

यहाँ **उद्योतकर** का वक्तव्य है कि ईश्वर के अधिष्ठान से ही अचेतन दूध शिशु के लिए प्रसृत होता है। यहाँ जीवनादृष्ट को उद्‌बोधक माना जाता है। अतएव मृत शिशु के लिए दूध का प्रस्रवण नहीं देखा जाता है। इस कथा की सम्पुष्टि भगवान शङ्कराचार्य की उपर्युक्त सूत्र के भाष्य से भी होती है।[३] **वार्तिककार उद्योतकर** ने प्रकारान्तर से भी इसका समाधान किया है।

यदि अचेतन स्वयं क्रियाशील रहता तो मृत शिशु के लिए भी दूध का प्रस्रवण होता ही, किन्तु ऐसा नहीं होता है। इसी से सिद्ध है कि दूध बुद्धिमान से अधिष्ठित होकर ही प्रसृत होता है। बुद्धिमान व्यक्ति रूप चेतन कारण से अधिष्ठित होकर ही महाभूत (पृथिवी, जल, तेजस्, वायु तथा आकाश) प्रत्येक जीव के सुख और दुःख आदि के कारण होते हैं। क्योंकि नियम है कि वही कारण होता है। जिसमें रूप है महाभूत रूपवान है, अतएव वह कारण भी होगा ही। जैसे तुरी रूपवान होकर पट का कारण होता है।

ईश्वर की सिद्धि में वार्त्तिककार की दूसरी युक्ति

धर्म और अधर्म बुद्धिमान कारण से अधिष्ठित होकर जीव को सुख तथा दुख का उपभोग कराते हैं, क्योंकि धर्म ओर अधर्म करण है। (असाधारण कारण-क्रिया की) सिद्धि में अत्यधिक उपयोगी कारण-करण कहलाता है।) करण किसी चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य कर सकता है। जैसे कुल्हारी काटने वाला व्यक्ति से अधिष्ठित होकर ही लकड़ी को काटने में समर्थ होता है।[२]

जीवात्मा को ही धर्माधर्म का अधिष्ठाता मान लेने में क्या आपत्ति है? इसके उत्तर में उद्योतकर का कहना है कि जिसका धर्माधर्म रहता है वही (जीव) उसका अधिष्ठाता नहीं

---

१. यथा अपत्यभरणार्थं क्षीरादेरचेतनस्यापि प्रवृत्तिरेवं परमाणवोऽप्यचेतनाः पुरुषार्थं प्रवर्तिष्यन्ते। न्यायवार्तिक ४.१.२१ २.३ द्रष्टव्य शांकरभाष्य२.२.३

२. धर्माधर्मौ बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितौ पुरुषस्योपभोगं कुरुतः करणत्वात् वास्यादिवत् न्या० वा०४.१.२१

हो सकता है, क्योंकि यह कहना सर्वथा असंगत होगा कि कार्य कारण से पहले होता है। जब तक कार्य का कारण समूह उपस्थित नहीं है तब तक वह अज्ञ जीव, रूप आदि किसी पदार्थ को पहचानता नहीं है। इस स्थिति में नहीं जानने योग्य धर्माधर्म का ही अधिष्ठाता या फलदाता वह कैसे हो सकता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि जीव स्वयं स्वतंत्र रूप से प्रवृत्त होता है। अन्यथा वह दुख का भोग नहीं करता। प्रतिकूल वेदनीयता के कारण किसी को भी दुःख इष्ट नहीं होता है, न इसके लिए किसी का प्रयास ही रहता है। यद्यपि अवसर पर दुःखानुभूति भी व्यक्ति का काम्य हो जाता है। देखा गया है कि कितने व्यक्ति अपनी मृत्यु के लिए एवं शिरश्छेदन के लिए प्रयास करते हैं तथापि यही कहना होगा कि उन व्यक्तियों को अपना सिर काट लेने में तथा मरण में दुःख का अनुभव नहीं होता होगा। प्रत्युत उसमें हित ही निहित रहता होगा। मरण तथा शिरश्छेदन से भी अधिक दुःखद घटना उनके साथ घटी रही होगी। अतएव उस दुःख की अपेक्षा मरण को ही वे अच्छा समझते रहे हों। जैसे कितने शोकार्त व्यक्ति शोक से मुक्ति पाने के लिए विष आदि खाकर मृत्यु चाहते हैं। क्योंकि मृत्यु की अपेक्षा शोक अधिक दुखदायी प्रतीत होता है।

धर्म और अधर्म से अधिष्ठित होकर परमाणु प्रवृत्त होता है–पूर्वपक्षियों के इस प्रतिवाद का भी बहुत सरल उत्तर है। अचेतन किसी का अधिष्ठाता नहीं हो सकता है। धर्म और अधर्म में परमाणु को प्रवृत्त करने का सामर्थ्य मानना अनुभव विरुद्ध होगा। केवल करण में क्रिया निष्पादन का सामर्थ्य देखा ही नहीं गया है। यह भी संगत नहीं हैं कि परमाणु की अपेक्षा से धर्म तथा अधर्म क्रिया का निष्पादन करेगा। कर्त्ता के अभाव में कर्म (परमाणु) और करण (अदृष्ट) क्रिया का निष्पादन नहीं कर सकता है। जीव सर्वज्ञ नहीं होने से परमाणु वृत्ति फल जनक व्यापार का आश्रय रूप कर्त्ता नहीं हो सकता है। क्योंकि परमाणु का ज्ञान उसे नहीं रहता है। करण के अभाव में किसी भी कार्य का होना असम्भव है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि करण के अभाव में भी कार्य होता है। अतः नैयायिक का निष्कर्ष है कि किसी अन्य उपाय के नहीं रहने से ईश्वर को ही धर्म एवं अधर्म आदि का अधिष्ठाता मानना होगा।

नियम है कि कर्त्ता क्रिया से युक्त होकर ही कार्य का सम्पादन करता है। जैसे कुम्भकार क्रिया से युक्त होकर ही घट को बनाता है। ईश्वर भी क्रिया से युक्त होकर ही संसार का निर्माण कर सकता है, किन्तु उसमे क्रिया नहीं पाई जाती है। क्योंकि क्रिया परिस्पन्द को कहते हैं। जो मूर्त पदार्थ में पाया जाता है ईश्वर मूर्त नहीं हैं।[१] अतएव वह इस संसार का कर्त्ता नहीं हो सकता है। इस प्रशन के उत्तर देने से पहले उद्योतकर यहाँ दो विकल्प उपस्थित करते हैं। ईश्वर में क्रिया नहीं है इसका क्या अर्थ है–न्यायदर्शन में दो तरह की क्रिया पाई जाती है। एक तो आख्यात शब्द का वाच्य (धात्वर्थ) है।

---

१. परिस्पन्दः क्रिया सा च मूर्त्यनुविधायिनी नामूर्ते सर्वगते ईश्वरे सम्भविनीत मन्वानः शङ्कते। न्या० ता०४.१.२१

और दूसरा उत्क्षेपण आदि,[1] जो वैशेषिक दर्शन में कर्म से भी प्रसिद्ध हैं, एवं उसके पाँच प्रकार हैं। यदि आख्यात के वाच्यरूप क्रिया यहाँ पूर्वपक्षियों को अभिप्रेत है तो प्रस्तुत वक्तव्य सर्वथा असंगत है। क्योंकि प्रत्येक कर्त्ता में वह क्रिया साक्षात् सम्बन्ध से ही रहती है। इस विषय को **वाचस्पति मिश्र** ने भी स्पष्ट किया है- ज्ञान, चिकीर्षा (करने की इच्छा) तथा प्रयत्न आख्यात के वाच्यार्थ होते हैं, जो ईश्वर में नित्य होकर विद्यमान है।[2] अतएव अन्य कारकों का प्रयोजक होकर स्वयं किसी का प्रयोज्य नहीं होने से कर्त्ता का लक्षण ईश्वर में समन्वित होता है।

यदि उत्प्रेक्षण आदि क्रिया का अभाव ईश्वर में पूर्वपक्षियों का विवक्षित है तो इसका उत्तर यह है कि इस क्रिया की अनिवार्य उपस्थिति किसी भी कर्त्ता में अपेक्षित नहीं है। न उक्त नियम का आशय ही इस तरह का है। उत्प्रेक्षण आदि क्रिया के अभाव में भी कार्य का सम्पादन होता है और कतिपय कार्यो में उसकी अनिवार्य उपस्थिति भी अपेक्षित हो जाती है। अतएव कर्त्ता में सामान्य क्रिया अवश्य रहती है। इस नियमगत क्रियापद से उत्प्रेक्षण आदि विशेष क्रिया को नहीं लिया जा सकता है।

अपि च निष्क्रिय द्रव्य से द्रव्य का उत्पादन होता है इसका उदाहरण यह है कि अन्तिम तन्तु के साथ तुरी का संयोग पट रूपकार्य का सम्पादन करता है। इसमें क्रिया से रहित तन्तु समूह ही कारण होता है।

(प्रबाल) कीट विशेष का समूह अपनी जीविका के लिए इकट्ठा होकर क्रिया करता है। किन्तु जब उस समूह का मरण हो जाता है, तो प्रबाल द्वीप बन जाता है। यहाँ प्रबालद्वीप रूप कार्य मृत प्रबाल समूह रूप निष्क्रिय द्रव्य से हुआ है। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि द्रव्य निष्क्रिय होकर भी द्रव्यान्तर का उत्पादन करता है।

अब क्रिया से युक्त द्रव्य के द्वारा द्रव्यान्तर के उत्पन्न होने का उदाहरण दिखाया जा रहा है। एक अवयवी के दो अंशों में दो स्वतन्त्र कर्म उत्पन्न हुए। उनमें से एक कर्म आरम्भक संयोग जब उत्पन्न करेगा उस समय से भी यदि अपर अंश कर्म से युक्त ही रहे तब अवयवी क्रियान्वित होकर ही आरम्भक होता है।

---

१. यद्यपि वैयाकरण के मत में धात्वर्थ की अनेकता से उत्क्षेपण आदि का उसी में अन्तर्भाव हो जाता है। उपसर्ग उन अर्थों का द्योतक होता है तथापि न्याय मत से यहाँ विचार किया गया हैं। अतएव क्रिया के दो प्रकार का प्रतिपादन सङ्गत ही है।

२. अपरिस्पन्दा अपि ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्ना आख्यातपदवाच्यतया भवन्ति क्रिया ईश्वरे इत्यभिसन्धिना परिहारः। न्या०ता० ४।१।२१।

अतएव ईश्वर में क्रिया नहीं रहने से वह कर्त्ता नहीं हो सकता है और जब उसका कर्तृत्व सिद्ध नहीं हुआ तो अन्य रूप से उसका सिद्ध होना असम्भव ही है। फलतः ईश्वर की सिद्धि गगन-कुसुम जैसी है- यह कहना सर्वथा निर्मूल है। आख्यात शब्द का वाच्य क्रिया उसमें है और नियम घटक क्रिया से विवक्षित भी वही है। अतएव उक्त नियम के पालन पूर्वक ईश्वर की सिद्धि होती है।

नियम घटक क्रिया से उत्प्रेक्षण आदि क्रिया को लेकर ईश्वर में उसका अभाव दिखाते हुए ईश्वर का खण्डन करना सर्वथा तर्काभास होगा। क्योंकि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्टतः सिद्ध हो गया है कि उक्त क्रिया के बिना भी द्रव्य द्रव्यान्तर का उत्पादन करता है।

अब, पूर्वपक्षियों का प्रश्न है कि ईश्वर सापेक्ष होकर किसी की सहायता से संसार की सृष्टि करता है या ऐसे ही अर्थात् बिना किसी के साहाय्य के ही? यदि वह सापेक्ष होकर संसार का निर्माण करता है, तब जिसकी सहायता लेता है, उसका कर्त्ता वह नहीं हो सकता है। जो जिसका सहायक होता है वह उस सहायक का कर्त्ता नहीं होता है। कुम्भकार घट के निर्माण में दण्ड की सहायता लेता है, किन्तु वह दण्ड का कर्त्ता नहीं है। यदि बिना किसी के साहाय्य के ही सृष्टि का विधायक ईश्वर को मान लिया जाए तो पुनः जीव के स्वकृत कर्म की विफलता तथा अनिर्मोक्ष आदि आपत्तियाँ हो जाएगी।

यहाँ उक्त विकल्प के सामाधान में नैयायिक कहता है कि आपका पूर्वकल्प ही मेरा अभिमत है। ईश्वर सापेक्ष होकर ही संसार की सृष्टिकरता है। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो जिसकी सहायता लेता है, उसका कर्त्ता वह नहीं होता हो। जैसे कारीगर कारणान्तर की सहायता से पहले कुल्हाड़ी बनाता है। पश्चात् कुल्हाड़ी की सहायता से लाठी तथ छड़ी आदि बनाता है। इसी तरह ईश्वर जब जिसकी रचना आरम्भ करेगा, उसमें जिन वस्तुओं की सहायता अपेक्षित होगी उसको पहले से बनाकर तैयार रखेगा। और पश्चात् उन वस्तुओं का निर्माण करेगा। जिसमें पूर्व निर्मित वस्तुओं की सहायता अपेक्षित हो पर्याय रूप से अनेक समयो में विभिन्न कार्यो को करने में ईश्वर को किसी तरह की हानि नहीं होगी और इससे सांसारिक सभी वस्तुओं की कर्तृता भी ईश्वर में आसानी से सिद्ध होती है। अतएव धर्म और अधर्म रूप अदृष्ट की सहायता से प्रत्येक जीव के सुख तथा दुख का विधान ईश्वर करता है। अर्थात् जीव को सुख-दुःख का अनुभव कराता है।

मन के साथ आत्मा का संयोग एवं शुद्ध तथा अशुद्ध अभिसन्धि (उद्देश्य) की सहायता से ईश्वर धर्म और अधर्म का उत्पादन करता है। पहले सुख तथा दुःख की स्मृति होती है और तब उसके साधन जुटते हैं, जिससे शुद्ध तथा अशुद्ध उद्देश्य उत्पन्न होता है। ईश्वर इसमें निमित्त कारण है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य की प्रवृति किसी उद्देश्य को लेकर होती है और उद्देश्य, सुख या दुःख के स्मरण होने पर उसकी प्राप्ति

अथवा त्याग के साधन की उपस्थिति में बनता है। इसलिए उद्देश्य यदि किसी को दुःख देना रहा तो वह अशुद्ध उद्द्दश्य है, और यदि किसी को या अपना ही सुख देना अथवा अपना एवं दूसरों को ही दुख का निवारण रूप रहा तो वह शुद्ध उद्देश्य है जिसका कारण है दुःख या सुख की स्मृति और इस स्मृति के कारण रूप में ईश्वर को माना जाता है।

पुनश्च पूर्वपक्ष होता है कि जिस वस्तु का निर्माण सबसे पहले सृष्टि के आदि में ईश्वर ने किया, उसमें जिस सहायक की आवश्यकता हुई होगी उसका कर्त्ता ईश्वर नहीं हो सकता है। यहाँ उत्तर यह है कि न्यायदर्शन में सृष्टि को सादि न मानकर अनादि कहा गया है। इसी से पूर्व जन्म के पुण्य तथा पाप का भोग जन्मान्तर में होता है जो धर्माधर्म को सफल बनाता है। उसी धर्म तथा अधर्म का साहाय्य पाकर ईश्वर सृष्टि का विधान करता है। सृष्टि के अनादि नहीं मानने से पूर्वजन्मकृत पुण्य या पाप का फल भोग जन्मान्तर में सम्भव ही नहीं होता। सृष्टि के अनादित्व का प्रतिपादन **न्यायवार्तिक** के बहुत स्थलों में विस्तार के साथ किया गया है।[१]

पूर्वपक्ष होता है कि कर्त्ता की प्रवृत्ति किसी उद्देश्य से, जिससे सुख होता है–उसे पाने की, एवं जिससे दुःख होता है; उसे छोड़ने की इच्छा से होती है। ईश्वर को कुछ उपादेय नहीं हैं। क्योंकि वह वशी एवं पूर्णकाम है। वशी पुरुष जिस समय में जहाँ जिसकी इच्छा करे, उसे वह वहीं उपलब्ध रहता है। उसका कुछ हेय–त्याग के योग्य भी नहीं है। जिसे दुःख होता है, वह उससे छुटकारा पाने के लिए दुःख की सामग्री को छोड़ देता है। किन्तु ईश्वर को दुःख नहीं है, उसकी अनुभूति नहीं होने से। अतएव उसका हेय भी कुछ नहीं है। ऐसी स्थित में सृष्टि विधान के लिए ईश्वर की प्रवृत्ति क्यों होगी?

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में **उद्योतकर** ने अन्य दार्शनिकों के मत का उदाहरण देते हुए कहा है कि खेल के लिए ईश्वर संसार की रचना करता है। यह सिद्धान्त **पाशुपत** सम्प्रदाय का है। **महादेवस्य दक्षिणामूर्तेः** इस पाशुपतसूत्र के भाष्य में **आचार्य कौण्डिन्य** कहते हैं कि ईश्वर खेल के लिए ही संसार का निर्माण करता है।[२] **गौड़पादकृत माण्डूक्यकारिका** में इसकी चर्चा मिलती है।[३] किन्तु नैयायिक की दृष्टि से यह सङ्गत नहीं है।

---

१. अथ यदादौ करोति कथं तत्। आदेरनभ्युपगमाददेश्यमेतत्। अनादिः संसार इति प्रतिपादितमेतत् । न्या० वा० ४।१।२१।

" सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् " इस श्रुति में भी यही प्रतिपादित है।

२. अत्र देव इति दिवु क्रीड़ायाम्। क्रीड़ाधर्मित्वात्। क्रीड़ावानेव भगवान् विद्याकलापशुसंज्ञकं त्रिविधमपि कार्यमुत्पादयति कौ० भा० पृ० १४।

३. भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीड़ार्थमिति चापरे।

देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ।। मा० का० १.९

इनका कहना है कि दुःखी व्यक्ति खेल के द्वारा सुख का अनुभव करना चाहता है। ईश्वर को किसी भी प्रकार का दुःख नहीं है। अतएव उसको सुख की कामना नहीं होती है।

इसके बाद **उद्योतकर** ने इसी प्रश्न के उत्तर में अन्यतम मत को उठाते हुए कहा है कि ईश्वर के ऐश्वर्य से जगत् का विधान होता है। अनुमानतः यह भागवत सम्प्रदाय का सिद्धान्त है। **लोकवत्तु[1] लीला कैवल्यम् वादरायण** का यह सूत्र उक्त मत का पोषक है। किन्तु न्यायदर्शन के अनुयायी विद्वान् इससे सहमत नहीं है। इनका कहना है कि विभूति के प्रदर्शन से ईश्वर में कुछ अपूर्वता नहीं आती है। उसके अभाव में कुछ हानि भी नहीं होती है। इसलिए इस चराचरात्मक संसार की रचना अपना ऐश्वर्य ख्यापन के लिए ईश्वर नहीं करता है। किन्तु जैसे पृथ्वी अपने स्वभाव से ही किसी भी वस्तु को धारण कर लेती है। इसी तरह ईश्वर स्वभावतः संसार का निर्माण करता है। **न्यायवार्तिककार उद्योतकर** का यही अपना मन्तव्य है। यद्यपि दूसरों पर अनुग्रह करना ईश्वर का स्वभाव है तथापि वह चेतन पुरुष वस्तुओं के स्वभाव के अनुकूल कर्माशय के अनुरोध से संसार के वैचित्र्य का निर्माण करता है। इसलिए अपकर्म में भी पुरुष की प्रवृत्ति को वह रोकता नहीं है। आजकल भी चेतनों के स्वभावों में परस्पर भेद देखा जाता है।[2]

उद्योतकर के इस मत पर कटाक्षपात करता हुआ पूर्वपक्षी कहता है कि संसार का निर्माण यदि ईश्वर का स्वभाव है तो वह सर्वदा सृष्टि करता ही रहेगा। स्वभाव व्यक्ति से पृथक् नहीं होता है। अब ईश्वर कदापि सृष्टि से निवृत्त नहीं हो सकता है। क्योंकि सतत् प्रवृत रहना उसका स्वभाव है। समान कारण की सत्ता समान कार्य को उत्पादित करती है। एक रूप कारण से विभिन्न प्रकारों के कार्य का होना असम्भव है। यह कार्य अभी होगा, यह अभी नहीं होगा–इस तरह के पर्यनुयोग या नियोग करने वाला कोई व्यक्ति भी नहीं है।

इसका उत्तर यह है कि ईश्वर बुद्धिमान है और वह किसी के साहाय्य से किसी कार्य को करता है और सभी कार्यो को एक काल में को करता है और सभी कार्यों को एक काल में वह नहीं करता है। जिस कार्य का उपादान कारण उपस्थित रहता है, उसी कार्य को उस समय वह करता है। इससे सिद्ध होता है कि एक काल में अनेक कार्यों का होना रूप आपत्ति नहीं हो सकती है। प्रत्येक कार्य का कारण एक ही समय में उपस्थित नहीं रहता है। ईश्वर जब किसी कार्य को करने में प्रवृत्त होता है तो उसके उपादान को पहले से तैयार रखता है। एवं उस कार्य के प्रतिबंधक के अभाव को देखता है तथा उस वस्तु के भोग करने वालों के धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट की सहकारिता की अपेक्षा करता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ईश्वर में ऐश्वर्य रहता है यहाँ प्रश्न होता है कि वह ऐश्वर्य नित्य

---

१. वे० सू० २.१.३३

२. चेतनोऽपि अयं परानुग्रहस्वभावोऽपि वस्तुस्वभावमनुरुद्धयमानः कर्माशयानुरोधेन जगद्वैचित्र्यं विधत्ते। न चावश्यं दुष्कृते पुंसो प्रवृत्तिं विहन्ति। अद्यत्वेऽपि चेतनानां विचित्रस्वभावत्वं दृष्टं सदसन्मध्यमानाम्। न्या० ता०४.१.२१

है या अनित्य? यदि अनित्य है तो उसका कारण क्या है-यह ढूंढना अपेक्षित है। जिसके ऐश्वर्य के जितने अनित्य होते हैं, उसके पृथक्-पृथक् कारण होते हैं। अब अणिमा आदि ऐश्वर्य के जितने अधिकरण होंगे उन सबों को ईश्वर मानना होगा। जिससे ईश्वर में अनेकता आ जाएगी। अब एक ईश्वर जिस कार्य को करना चाहेगा। अन्य ईश्वर की इच्छा उसका प्रतिबंधक होगी और उनमें भी यदि एक दूसरे से कुछ प्रभावशाली रहे तो उन्हीं में ईश्वरत्व आ जाएगा। और दूसरा ईश्वर नहीं रह जाएगा। यदि उसका ऐश्वर्य नित्य है तो पुनः ऐश्वर्य ईश्वर के स्वकृत कर्म का फल है-भाष्य का यह कहना असङ्गत हो जाएगा।

यहाँ **उद्योतकर** कहते हैं कि उसकी **ज्ञानशक्ति** तथा **क्रियाशक्ति**[१] नित्य होती है। अतएव उसका ऐश्वर्य भी नित्य है। अणिमा आदि अनित्य होते हैं। उसी अभिप्राय से **भाष्यकार** ने उस अणिमा आदि को धर्म का फल कहा है। प्रश्न उठ सकता है कि तब ईश्वर में धर्म नामक गुण मानने की ही क्या आवश्यकता है। इसलिए **वार्तिककार** उद्योतकर कहते हैं कि ईश्वर का वृत्तिगत धर्म व्यर्थ नहीं है अपितु प्रत्येक जीववृति धर्म तथा अधर्म रूप अदृष्ट को अनुगृहीत करता है अर्थात् जीववृति अदृष्ट का अधिष्ठान ईश्वर के धर्म का प्रयोजन है। **तात्पर्य टीकाकार वाचस्पति मिश्र** यहाँ कहते हैं कि ईश्वर में धर्म नामक गुण मानकर भाष्यकार ने यह बात कही है। यथार्थतःईश्वर में धर्म नहीं है। उसकी नित्य ज्ञानशक्ति और नित्य क्रियाशक्ति से ही सांसारिक सभी कार्यों की सिद्धि सम्भव है ही, पुनः उसमें ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति तथा इच्छा शक्ति से भिन्न धर्म नामक गुण मानने में कुछ भी प्रमाण नहीं मिलता है, इसी से वार्तिककार भी कहते हैं कि ईश्वर में धर्म नहीं है।[१] अब प्रश्न होता है कि वैशेषिक मत से ईश्वर का अन्तर्भाव किस पदार्थ में होगा? वह द्रव्य है या गुण कर्म आदि में से अन्यतम? यहाँ **उद्योतकर** उत्तर देते हुए कहते है कि वह द्रव्य हैं। क्योकि गुण का आश्रय द्रव्य ही होता है-जैसे पृथ्वी आदि द्रव्य गन्ध आदि गुणों का आश्रय होता है, उसी तरह ईश्वर बुद्धि आदि गुणों का आश्रय है। अतः द्रव्य पदार्थ में ही उसका अन्तर्भाव हो सकता है।

बुद्धि आदि गुण का अधिकरण शरीरी आत्मा होता है। सांसारिक जीवात्मा शरीर से तात्कालिक सम्बन्ध रखता है। मुक्त आत्मा का सम्बन्ध अतीत रहता है। जैसे शुक्राचार्य एवं प्रह्लाद आदि मुक्त आत्मा बन्धन दशा में शरीर के साथ सम्बन्ध रखता था और अब वह सम्बन्ध अतीत है। अब प्रश्न होता है कि ईश्वर को भी शरीरी मानना होगा। क्योंकि वह बुद्धि आदि गुणों का आश्रय है। इसके उत्तर में **उद्योतकर** कहते हैं कि जैसे गुण भेद के कारण पृथ्वी आदि आत्मा नहीं होती हैं उसी तरह शरीरी के साथ ईश्वर के गुणों का परस्पर भेद रहने से ईश्वर शरीरी नहीं होता है। शरीरी के बुद्धि आदि गुण अनित्य होते हैं।

---

१. न चेश्वरे धर्मोऽस्तीत्यचोद्यमेतत् । न्या० वा० ४.१.२१

और ईश्वर के गुण नित्य शरीरी आत्मा शरीरा का संबन्ध इसलिए रखता है कि इसे ज्ञान आदि अन्यथा प्राप्त ही नहीं हो सकते। शरीर के साथ संबध ही इसके ज्ञान आदि का उत्पादक होता हैं किन्तु ईश्वर के ज्ञान आदि नित्य है। इसलिए उसे शरीर के साथ संबध रखने की आवश्यकता नहीं होती है।

किसी का कहना है कि नित्य धर्म नित्य ज्ञान, नित्य वैराग्य और नित्य ऐश्वर्य-इन चार गुणों का आधार ईश्वर है। योगभाष्य की तत्त्व वैशार[१] व्याख्या में कहा गया है कि ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति, आत्म संबोध सृष्टि करना तथा अधिष्ठातृत्व, ये दृश नित्य गुण ईश्वर में रहते हैं। पुराण वचन यहाँ प्रतिपादित नित्य गुण है कि महेश्वर के छह अंग होते हैं।

किन्तु उद्योत करके मन से संख्या, परिणाम, पृथकत्व, संयोग विभाग तथा बुद्धि-इन छह गुणों का आश्रय ईश्वर होता है।

ईश्वर की बुद्धि नित्य है-इसमें क्या प्रणाम है? यह नहीं कहा जा सकता है नित्य बुद्धि से युक्त पुरुष नित्य परमाणुओं को सृष्टि के लिए प्रवृत्त करता है। अत एव पक्षधर्म में प्रवर्तक होने से ईश्वर बुद्धिमान् है-इनता ही कहा जा सकता है। इस से यह नहीं सिद्ध होता है कि उसकी बुद्धि भी नित्य है। ईश्वर की नित्यबुद्धि में युक्ति प्रदर्शन करते हुए उद्योतकर कहते है कि अनित्य बुद्धि शरीर से संबद्ध होकर ही यथास्थान नियत समय में एक ही कार्य को कर सकती है। किन्तु शरीर से सर्वथा इस संबद्ध ईश्वर की बुद्धि एक ही समय में अनेक कार्यों को विभिन्न स्थलों में करती है। जैसे कहीं पौधें उगती है तो कहीं पेड़ कटवाती है, कहीं शिशु का जन्म दिलाती है तो कही वृद्ध को मारती है आदि आदि। मानव वृद्धि की तर उसे सीमा में नहीं रखा जा सकता है। फलतः उसकी बुद्धि नित्य है।

ईश्वर के विषय में यह विकल्प भी नहीं होता है उसे शरीर है यह नहीं-इसी हेतु शरीर नित्य है या अनित्य? यह प्रश्न नहीं उठता है। यदि अनित्य कहा जाए तो मानव शरीर की तरह उसे धर्म तथा अधर्म का आश्रय मानना होगा और तब ईश्वर को उसकी अधीनता स्वीकार करनी होगी। पुनः ईश्वर ईश्वर न रह पाएगा।

---

१. ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
स्त्रष्टत्त्वमात्ससम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च।।
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शंकरे । वायुपुराण - १०-६५-६६
सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता निम्यमलुतशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरंगानि महेश्वरस्य ।
-वायुपुराण -१२ ३३ व्यास भाष्य १।२५

२. विवरणपञ्जिका में कहा गया है कि यह वार्तिककार का अपना मत है तथा

यदि मानव सुलभ गुण का अधीन होकर ईश्वर है तो पुनः उसकी सर्वशक्तिशालिता क्या? उसके शरीर को यदि नित्य माना जाए तो भी वह प्रत्यक्ष विरुद्ध होगा। क्योंकि नित्य शरीर कहीं देखा ही नहीं गया है।

ईश्वर की बुद्धि अतीत, अनागत तथा वर्तमान सांसारिक प्रत्येक वस्तु को अपना विषय बनाती है तथा प्रत्यक्षात्मक होती है। वह प्रत्यक्ष भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से विलक्षण ही होती है। अतएव वह ऐन्द्रियक नहीं है, न वह उपमान के आधार पर होता है। ईश्वर का ज्ञान न अनुमानात्मक होता है, न आगमरूप ही है। किन्तु वह नित्य होता है। अतएव उसका संस्कार नहीं होता है और संस्कार के अभाव की स्मृति भी नहीं होती है। स्मृति के अभाव में उसका अनुमान रूप होना असम्भव है, क्योंकि अनुमान ईश्वर के अधर्म का आश्रय नहीं है जिसने पाप नहीं किया है, उसे दुःख का भोग ही कैसे हो? और जिसे दुःख नहीं है उसे वैराग्य किससे हो एवं द्वेष किससे हो? फलतः ईश्वर दुःख, वैराग्य तथा अधर्म-इन गुणों का आश्रय नहीं होता है, किन्तु अप्रतिरुद्ध एवं नित्य इच्छा उसमें रहती है।

सेश्वर दर्शनों में भगवान् पतञ्जलि का मत तथा निरीश्वर दर्शनों में भगवान् कपिल का मत प्रमुख माना गया है। अब प्रसंगवश इन दोनों का संक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक है। **पतञ्जलि योगदर्शन** के क्लेशकर्मविपाकाशयररामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः[१] इस सूत्र के भाष्य में-**स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः**[२] इस पंक्ति के द्वारा ईश्वर को नित्य मुक्त कहा गया है। किन्तु **सांख्यसूत्रकार** का कहना है कि ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है। संसार में दो तरह की आत्माएं होती है। बद्ध और मुक्त[१] सांसारिक भोग विलास में त्रिविध दुःख का अनुभव करने वाला बद्ध कहा जाता है और जिसको यह ज्ञान है कि सत्व, रजस् तथा तमस् इन तीन गुणों से युक्त प्रकृति और पुरुष में यथार्थतः भेद है, वह मुक्त है। उक्त त्रिगुण की अवस्था में जब न्यूनाधिक रूप में वैषम्य होता है तो प्रकृति सृष्टि का विधान करती है किन्तु मिथ्या अभिमान के कारण पुरुष को प्रतीत होता है कि मैं ही संसार चलाता हूँ। यथार्थतः प्रकृति और पुरुष में भेद है-यह ज्ञान ही सांख्य दर्शन में मोक्ष का जनक है। अतएव वह मुक्त माना जाता है, जिसे इन दोनों के भेद का ज्ञान हो।

ईश्वर बद्ध नहीं है। उसे किसी भी प्रकार का दुःखानुभव नहीं होता है। बद्ध व्यक्ति ही मुक्ति की एषणा रखता है जो बद्ध ही नहीं है उसे मुक्ति किससे होगी एवं उसे मुक्ति की अपेक्षा ही क्यों हो। अतः ईश्वर मुक्त भी नहीं हो सकता है।

"इच्छा तु विद्यते अक्लिष्टा अव्याहता" इत्यादि पंक्ति के द्वारा जो इच्छा रूप सप्तम गुण का आश्रय उसे माना गया है, वह अवश्य ही किसी अन्य सम्प्रदाय का सिद्धान्त होगा। अन्यथा छह गुणों का आश्रय मानने में छह संख्या का कथन असङ्गत हो जाएगा।

१. पातञ्जलसूत्र १.२४। २. सा० सू० १-९२-९३

आत्मा का तीसरा प्रकार होता ही नहीं। अतएव ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है। सांख्य के निम्नसूत्र से यही आशय स्पष्टतः व्यक्त होता है **ईश्वरासिद्धेः। बद्धमुक्तत्योरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः।**

न्यायवार्तिककार **उद्योतकर** सांख्य दर्शन के उपर्युक्त वक्तव्य को पूर्वपक्ष रूप में उठाकर कहते हैं कि ईश्वर उक्त दोनों प्रकारों से भिन्न तृतीय प्रकार का ही है जो प्रकार अन्यत्र दुर्लभ है।

ईश्वर, बद्ध तथा मुक्त से भिन्न तृतीय प्रकार का आत्म स्वरूप ही है। उसमें मिथ्या ज्ञान नहीं है। इसलिए बन्धन नहीं होगा। कर्मजन्य धर्म तथा उसका फल अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्यों के आश्रय होने से उसे मुक्ति भी नहीं मिल सकती है। अतएव इन दोनों प्रकारों से भिन्न एक विलक्षण प्रकार का आत्मा इसे कहना होगा। 'पुरुषविशेष ईश्वरः न्यायभाष्य के इस वाक्यांश से **वात्स्यायन** का यह आशय परिलक्षित होता है।[१]

ईश्वर आत्मान्तर का (जीव का) अधिष्ठाता नहीं हो सकता है, क्योंकि उसके साथ ही ईश्वर सम्बद्ध नहीं हो सकता है। दो विभु पदार्थो का परस्पर सम्बन्ध साक्षात् या परम्परा किसी भी रूप से नहीं होता है। जैसे दिक् और काल परस्पर सम्बद्ध नहीं है। इसी तरह जीव ईश्वर से सम्बद्ध नहीं है। अतएव जीवगत धर्माधर्म रूप अदृष्ट का अधिष्ठाता भी किसी तरह से वह नहीं हो सकता है और अनधिष्ठित धर्माधर्म की वृत्ति अचेतन होने से स्वतः असम्भव है। फलतः सृष्टि की प्रक्रिया ही रुक जाएगी-इस पूर्वपक्ष को उठाकर वार्तिकार **उद्योतकर** कहते हैं कि न्यायदर्शन का एक सम्प्रदाय इस विभु पदार्थों के परस्पर संयोग को मानता है। उस मत से उक्त दोष की सम्भावना नहीं है। इसका खण्डन किसी आचार्य ने नहीं किया है। अतएव यह मान्य है। विभुपदार्थों के परस्पर संबन्ध में प्रमाण के लिए यहाँ अनुमान दिखाया जाता है। ईश्वर विभु पदार्थ आकाश आदि से संबद्ध है। मूर्ति मान द्रव्य के साथ संबद्ध रहने से । जैसे मूर्तिमान द्रव्य से सम्बद्ध घट आदि व्यापक पदार्थ आकाश आदि से भी सम्बद्ध होता है। ईश्वर भी मूर्तिमान द्रव्य से सम्बद्ध है अतएव विभु पदार्थ जीव से सम्बद्ध होगा। वह उसका अधिष्ठान भी कर सकता है, न्याय सम्प्रदाय इसे अज-संयोग कहता है। अभिप्राय यह है कि काल के साथ दिक् के संयोग का होना प्रत्यक्ष गत नहीं होने पर भी मूर्तवस्तु के माध्यम से परम्परा क्रम से सम्भव है। वार्तिककार यहाँ कहते हैं कि जीव के साथ ईश्वर का सम्बन्ध है।

---

१. जीवात्मा के दो भेद हैं-बद्ध और मुक्त ईश्वर स्वतन्त्र है। अतएव-आत्मा द्विविध : जीवात्मा परमात्मा च-यह परवर्तियों की उक्ति भी असङ्गत नही होती है।

वह सम्बन्ध व्यापक है या अव्यापक–इसका विचार नहीं किया जाता है चूँकि इससे किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। जो व्यक्ति विभु पदार्थो में परस्पर सम्बन्ध नहीं मानते, उनके मत में ईश्वर जीव से सम्बद्ध मन के साथ सम्बन्धित होकर जीव का अधिष्ठान करता है। इस मत में भी जीव प्रत्येक मन के साथ ईश्वर सम्बंद्ध है। अतः मन से सम्बन्धित जीव से भी उसका सम्बन्ध है। जैसे आत्मा और हाथ के संयोग तथा प्रयत्न से हाथ में क्रिया होती है और क्रियाशील हाथ सन्देश से सम्बद्ध होता है और उसी के सम्बन्ध से लौहाग्नि का अधिष्ठान वह हाथ करता है।

मृत व्यक्ति का धर्माधर्म रूप अदृष्ट चेतन कारण से अधिष्ठित है। अतएव जैसे सर्ग के आदि में ईश्वर कारण होता है उसी तरह से किसी भी समय में वह कारण हो सकता है। पृथ्वी आदि महाभूत बुंद्धिमान से अधिष्ठित होकर अपनी अपनी धारण आदि क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। अचेतन की क्रिया चेतन के अधिष्ठान के बिना सम्भव नहीं हैं। उदाहरणार्थ कुल्हारी में तभी क्रिया होती है जब चेतन कर्त्ता बुद्धि पूर्वक किसी को काटने के लिए उसे हाथ में लेता है। प्रकृत में वनीय तृण आदि को पक्ष मानकर कार्यत्व हेतु से सकर्तृकत्व को सिद्ध किया जा सकता है। इस तरह से जिन स्थलों में विप्रतिपत्ति उपस्थित हो, उस स्थलों में कार्यत्व हेतु से उक्त दृष्टान्त को आधार मानकर साध्य की सिद्धि करनी चाहिए।

आगम में भी कहा गया है कि ईश्वर संसार का निमित्त कारण है– वह जीव अपने सुख तथा दुःख आदि के विषय में कुछ नहीं जानता है। ईश्वर की प्रेरणा से यह स्वर्ग भी जा सकता है तथा नरक भी। यह ईश्वर जब जागता है तो सृष्टि होती है तथा जब यह सो जाता है तो प्रलय होता है।[१]

---

१. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं श्वभ्रमेव वा।। महाभारत वनपर्व। ३०,२८।
यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति।। मनुसंहिता १।५२।

तृतीय अध्याय

अनुच्छेद -१ (क)

बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति द्वारा ईश्वर साधक युक्तियों का निरास

बौद्ध दार्शनिक आचार्य **धर्मकीर्ति ने** (स्थितिकाल खृ. सप्तम शतक) **प्रमाण वार्त्तिक** में ईश्वर की सिद्धि में उद्योतकर द्वारा कही गई युक्तियों का तर्कपूर्ण खण्डन किया है।

न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर ने ईश्वर को सिद्ध करने के लिए यद्यपि विभिन्न शास्त्रों के सिद्धान्तों को उठाया है और युक्तियों के आधार पर उन सभी प्रतिपक्षियों के मतों का खण्डन भी किया है। तथापि इन्होंने ईश्वर साधक अनुमान में दो दृष्टियों से हेतुओं का उपयोग किया है।

१. परमाणु आदि अचेतन पदार्थ किसी चेतन पुरुष का साहाय्य पाकर ही कार्य सम्पादन में क्रिया द्वारा समर्थ होता है। अतएव प्रत्येक कार्य के अचेतन उपादानों के अधिष्ठाता के रूप में किसी चेतन पुरुष को अवश्य मानना होगा। पर्वत तथा वृक्ष आदि के उपादानों का प्रत्यक्ष हमलोगों को नहीं होता है। अतः हमलोग उनके अधिष्ठायक भी नहीं हो सकते। किन्तु ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण हम लोगों में अदृष्ट वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष करता है। इसलिए वह अचेतन उपादानों का अधिष्ठाता होता है।[1]

२. जीवात्मा सुख तथा दुःख का अनुभव करता है। धर्म तथा अधर्म रूप अदृष्ट इसका कारण है। वह अचेतन है, अतएव वह भी किसी चेतन से अधिष्ठित होने पर कार्य का सम्पादन कर सकता है। वह चेतन अधिष्ठायक ईश्वर है।[2]

---

१. प्रधानपरमाणुकर्माणि प्राक्प्रवृत्तेर्बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि प्रवर्तन्ते अचेतनत्वात् वास्यादिवत्। न्या०वा० ४।१।२१

२. धर्माधर्मौ बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितौ पुरुषस्योपभोगं कुरुतः करणत्वात् वास्यादिवत्। न्या०वा० ४।१।२१

परवर्ती ग्रन्थ **तत्त्वसंग्रह** तथा उसकी पंजिका व्याख्या में **शान्तरक्षित** तथा **कमलशील** ने इन दोनों ही युक्तियों का उद्धरण दिया है।[१] **धर्मकीर्ति** ने अपने **प्रमाणवार्त्तिक** में **उद्योतकर** की केवल प्रथम युक्ति का ही खण्डन किया है। प्रस्तुत प्रकरण में **आचार्य धर्मकीर्ति** की ईश्वर खण्डन विषयक युक्तियाँ यहाँ द्रष्टव्य है।

नैयायिक गण सकर्तृकत्व रूप साध्य के अधिकरण घटादि रूप कार्यात्मक पक्ष में यदि केवल चेतन पूर्वकत्व सिद्ध करना चाहते हैं तो **बौद्ध** की मान्यता इससे सहमत है। यह बौद्ध दार्शनिक भी मानते हैं[२]। यहाँ **प्रमाणवार्त्तिक** के व्याख्याकार **प्रज्ञाकरगुप्त** का कहना है कि इस उक्ति से ईश्वर साधक अनुमान में सिद्ध साधन दोष का उद्‌भावन आचार्य का अभिप्रेत है। जहाँ जिस वस्तु का अस्तित्व विवाद से युक्त है, उस स्थल में उस वस्तु की सत्ता सिद्ध करना अनुमान का उद्देश्य रहा है। और जहाँ जिस वस्तु की स्थिति में निर्णय ही है, उस स्थल में अनुमान की प्रवृत्ति ही क्यों होगी। अतएव जो वस्तु पहले से सिद्ध ही है उसको सिद्ध करना निष्फल है। इसी हेतु सिद्ध साधन को दोष कहा जाता है। उस स्थल में साध्य सन्देहरूप अथवा **सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव** रूप पक्षता नहीं रहती है। कार्य का चेतन पूर्वकत्व नैयायिक तथा **बौद्ध** दोनों ही पक्षों का अनुभत है। अतएव अनुमान से उसको सिद्ध करना सिद्धसाधन होता है।[३]

किन्तु नैयायिक यदि सर्वज्ञत्व एवं नित्यत्व विशिष्ट पुरुष कर्तृकत्व की सिद्धि चाहते हैं अर्थात् सर्वज्ञ तथा नित्य पुरुष ईश्वर संसार का कर्त्ता है-यह सिद्ध करना चाहते हैं, तो सम्भव ही नहीं है। क्योंकि किसी भी साधर्म्यमूलक दृष्टान्त में उस साध्य का अस्तित्व विद्यमान नहीं है। अतएव दृष्टान्त को साध्यविकल मानना होगा। और वह (साध्यविकल दृष्टान्त) व्याप्ति का प्रतिबन्धक होता है। फलतः कार्यात्मक हेतु के साथ सर्वज्ञत्व तथा नित्यत्व विशिष्ट पुरुष कर्तृकत्व की व्याप्ति ही नहीं बन पाएगी और व्याप्ति रहित हेतु से किसी वस्तु को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

प्रकृत में कहना यह है कि पर्वत तथा वृक्ष आदि कार्य है, क्योंकि अपनी उत्पत्ति से पहले उसका अस्तित्व नहीं था और उसके बाद उसकी सत्ता देखी जाती है। उत्पत्ति से पूर्वकाल में असम्बद्ध वस्तु का उस (उत्पत्ति) के बाद सम्बद्ध होना ही उत्पत्ति[४] पदार्थ है। यह नियम है कि कार्य सकर्तृक ही होता है और कर्त्ता को प्रत्येक कार्य के उपादान का प्रत्यक्ष ज्ञान रहना आवश्यक है। अन्यथा किसी कार्य के उपादान से किसी

---

१. द्र० तत्त्वसंग्रह पृ० ३२।

२. स्थित्वा प्रवृत्तिसंस्थानविशेषार्थक्रियादिषु,
इष्टसिद्धिः----प्र० वा० १।१२।

३. प्र०वा० पृ० ३५।

४. पूर्वकालासत्वे सत्युत्तरकालसत्त्वमुत्पत्तिपदार्थः।

भिन्न कार्य का जन्म होना रूप आपत्ति हो सकती है। जो अनवस्था मानी जाती है। क्षिति तथा पर्वत आदि के उपादान का प्रत्यक्ष किसी मानव को नहीं हो सकता है। अतएव उस कार्य के उपादान का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान रखने वाला कर्त्ता मानव नहीं होगा। किन्तु उसके लिए नित्य एवं सर्वज्ञ कर्त्ता को मानना होगा, वही ईश्वर है। कार्य किसी कर्त्ता से निष्पन्न होता है। क्योंकि उसमें कार्यत्व है। जैसे घट कुम्भकाररूप कर्त्ता से बनता है, अतएव सकर्तृक है, यही तो नैयायिक के अनुमान का रूप होगा। इसमें घट साधर्म्यमूलक दृष्टान्त है।

बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि नैयायिक के इस अनुमान में घटात्मक दृष्टान्त का कर्त्ता अल्पज्ञ मानव तथा शरीरी है। और साध्य रूप कर्त्ता सर्वज्ञ एवं अशरीरी है। नैयायिक ईश्वर का शरीर नहीं मानते हैं। (जो दृष्टान्त में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता हैं।[१] अतएव दृष्टान्त में सर्वज्ञ कर्त्ता की व्याप्ति नहीं बनती है) और व्यप्ति के अभाव में हेतु अनैकान्तिकदोष से युक्त होकर हेत्वाभास हो जाता है। वह इष्ट का विघातक है साधक नहीं। सर्वज्ञत्व तथा नित्यत्व विशिष्ट पुरुष कर्तृकत्व साध्य है जो प्रसिद्ध नहीं है। और उसकी अप्रसिद्धि सपक्ष तथा विपक्ष को भी प्रसिद्ध नहीं होने देता है। क्योंकि साध्य का निश्चित अधिकरण सपक्ष है। और उसके अभाव का निश्चित अधिकरण विपक्ष। अब यदि साध्य ही प्रसिद्ध नहीं है तो फिर उसके निश्चित अधिकरण तथा उसके अभाव के अधिकरण की तो बात ही दूर रही। अब संशय होता है कि उक्त अनुमान का कार्यत्व हेतु सपक्ष एवं विपक्ष में है या नहीं? और यही सन्देह हेतु को सदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक बनाता है, जो अनैकान्तिक नामक हेत्वाभास का एक प्रभेद है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि पर्वत, वृक्ष तथा समुद्र आदि के कर्त्ता के रूप में ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। **धर्मकीर्ति** के **'असिद्धिर्वा'** इस कारिकांश की व्याख्या में **प्रज्ञाकर गुप्त** का वक्तव्य यह है कि ज्ञानी पुरुष के द्वारा बने होने पर घट आदि को ईश्वर निर्मित नहीं माना जा सकता है। जिसे किसी वस्तु का प्रयोजन रहता है, वह उसे पाने के लिए उसके निर्माण में यत्न करता है। ईश्वर को घट से कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। पुनः घट की रचना में उसको प्रवृति क्यों होगी? इसी तरह पर्वत आदि का कर्त्ता भी वह नहीं होता है। प्रयोजन के अभाव में यदि वस्तु के निर्माण में लोगों का प्रयास माना जाए तो ईश्वर को भी किसी अन्य ईश्वर का निर्माण मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अब तो यह कहा नहीं जा सकता कि ईश्वर को किसी अन्य ईश्वर की रचना मान लेने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है।[२]

---

१. असिद्धिर्वा दृष्टान्ते संशयोऽथवा। प्रा० वा० १।१२

२. चेतनावत् कृतत्वेऽपि नेश्वरेण घटादयः।
कृताः प्रयोजनाभावात् अन्यथेशोऽपि सेश्वरः। प्र. वा०प्र० कृतकारिका २५२, पृ० ३६।

नैयायिक यदि यह कहे कि ईश्वर सर्वज्ञ है और मानव अल्पज्ञ। इसलिए मानव जो कुछ भी करेगा उसके लिए उसे ईश्वर की प्रेरणा आवश्यक है। किन्तु ईश्वर को किसी की अपेक्षा नहीं है। अतएव उपर्युक्त दोष का यहाँ प्रश्रय ही नहीं हैं।

इसके उत्तर में **प्रज्ञाकर गुप्त** ने अन्योन्याश्रय दिखाकर इष्ट विघातक तर्क प्रस्तुत किया है। जब तक ईश्वर का सांसारिक सभी वस्तुओं का कर्त्ता होना निश्चित नहीं हुआ है, तब तक उसमें सर्वज्ञता नहीं आती है। और जब तक उसका सर्वज्ञ होना निश्चित नहीं हुआ है, तब तक सांसारिक प्रत्येक वस्तु की रचना में उसकी प्रेरणा मिलना सम्भव नहीं है। इससे प्रमाणित होता है कि ईश्वर का सर्वज्ञ होना और सभी वस्तुओं की रचना में प्रेरक होना परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं।[१]

अब **धमकीर्ति** के **'दृष्टान्ते संशयोऽथवा'** इस कारिका का विवरण दूसरे ढंग से यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। थोड़ी देर के लिए साध्य से रहित दृष्टान्त को यदि अनुमान का बाधक नहीं माना जाए तो भी सर्वज्ञत्व विशिष्ट पुरुषकर्तृकत्व के साथ कार्यत्व हेतु की व्याप्ति में सन्देह होता है। क्योंकि जैसे ईश्वर की सत्ता मान लेने पर वह अन्य से अनपेक्ष होकर प्रत्येक सांसारिक वस्तु का निर्माण कर सकता है। इसी तरह बाधक प्रमाण नहीं मिलने से दृष्ट कारण भी कार्य सम्पादन में ईश्वर की अपेक्षा नहीं करेगा। अब उपर्युक्त व्याप्ति का सन्देह दृढ़ होता है। और व्याप्ति में सन्देह अनुमान का बाधक है। उस स्थिति में **धर्मकीर्ति** के कथनानुसार सन्दिग्धानैकान्तिक नामक हेत्वाभास का एक प्रकार ही यहाँ विद्यमान रहता है। जहाँ साध्याभाव का सन्देह है उस स्थल में साध्याभाव के अधिकरण में हेतु के नहीं रहने का निश्चय नहीं हो सकता है। और इस व्याप्ति के निश्चय रहने पर ही अनुमिति होती है। प्रकृत में क्षिति आदि पदार्थ सर्वज्ञत्व विशिष्ट पुरुषकर्तृक है या नहीं–इसका सन्देह है। अतएव कार्यत्व हेतु में सन्दिग्धानैकान्तिक दोष का रहना सिद्ध होता है।

क्षिति आदि में सावयवत्व रहने से अनुमिति द्वारा कार्यत्व की सिद्धि होती है– 'क्षित्यादिकं कार्य सावयवत्वात् यत् यत् सावयवं तत्तत् कार्यं तथा घटादि। इस प्रसङ्ग में **प्रज्ञाकर गुप्त** कहते हैं कि यहाँ दो **विकल्प** उपस्थित होते हैं –(१) क्या ईश्वर किसी से प्रेरित होकर क्रमशः कार्य का सम्पादन करता है?(२) या स्वतः उसे इसकी क्षमता है जिससे कार्य का क्रमशः होना सिद्ध होता है दूसरा विकल्प सम्भव नहीं है। यदि स्वतः कार्य के क्रमिक उत्पादन की क्षमता ईश्वर में मानी जाए तो पुनः कुम्भकार की घट निर्माण की शक्ति में ईश्वर की प्रेरणा का महत्व देना सङ्गत नहीं होता है। कुम्भकार भी स्वतः घट निर्माण की शक्ति पा सकता है। यदि इस तरह के स्थल में ईश्वर की प्रेरणा से तत् –तत् शक्ति का आधान कुम्भकार आदि में माना जाए तो यह सर्वथा

१. प्रज्ञाकर गुप्त की का० २५५ प्र०वा० पृ० ३६।

आँख में धूल डालना होगा। क्योंकि कुम्भकार में घट बनाने की क्षमता प्रत्यक्ष है। अपि च थोड़ी देर के लिए इसे सङ्गत मान लेने पर भी अनवस्था दोष से निपटारा नहीं है। कुम्भकार ईश्वर की प्रेरणा से घट बनाने की क्षमता पाकर ही घट का निर्माण करेगा। इसी तरह ईश्वर भी किसी दूसरे की प्रेरणा से सबों को प्रेरणा दे सकेगा। एवं उस अन्य ईश्वर को भी किसी तीसरे ईश्वर से प्रेरणा लेनी होगी। इसे ही अनवस्था कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त विकल्प का पहला कल्प सम्भव नहीं है।[१]

दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर सर्वज्ञ है तो अज्ञ को असद् आचरण में क्यों प्रेरित करता है। विवेकशील व्यक्ति सद् आचरण में ही किसी को प्रवृत्त कराता है और ईश्वर इसका विपरीत भी करता है। इससे ईश्वर को प्रमाण मानना सङ्गत नहीं प्रतीत होता है।

यद्यपि ईश्वर सदुपदेश ही करता है। इसलिए उसे प्रमाण माना जाता है। किन्तु वह बुरा आचरण करने वालों को दुःख का अनुभव भी कराता है। अतएव वह विवेकशील माना जाता है। यदि उसमें विवेक नहीं रहता तो सदाचारियों को भी दुःख का अनुभव कराता–यह कथन भी बौद्ध दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होता है। पाप करने के लिए भी जीवों को ईश्वर प्रेरित करता है, और जब एक बार अयुक्त कराता है, तब उससे युक्त कराने की आशा मात्र रह जाती है। सम्भावना भी नहीं।

इससे फलित होता है कि इतर बाध सहकारात्मक अनुमान के आधार पर अचेतन उपादानों के अधिष्ठायक रूप में ईश्वर के अस्तित्व का उपादान **न्यायवार्तिककार उद्योतकर** ने किया था। किन्तु आचार्य **धर्मकीर्ति** की उपर्युक्त युक्तियाँ उसमें सिद्धसाधन, दृष्टान्त की साध्यशून्यता, सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्व रूप अनैकान्तिक का अन्यतम प्रकार एवं सन्दिग्धानैकान्तिक हेत्वाभास आदि का अस्तित्व सिद्ध कर दिया है। इससे **उद्योतकर** की उक्त युक्ति का सर्वथा सप्रमाण खण्डन हो जाता है।

आचार्य **धर्मकीर्ति** कहते हैं कि पर्वत, समुद्र तथा वृक्ष आदि में यदि कार्यत्व प्रसिद्ध रहता, तब तो उन वस्तुओं को सकर्तृक माना जाता, किन्तु उन स्थलों में कार्यत्व ही प्रसिद्ध नहीं है। अतएव उसका सकर्तृक होना सम्भव नहीं है। और तब उद्योतकर द्वारा उपपादित उसके कर्त्ता रूप ईश्वर सिद्ध नहीं होता है। इन्होंने 'सिद्धं यादृगधिष्ठातृ[२] इस कारिका के द्वारा कहा है कि जिस तरह के कार्यों को बनते देखा जाता है उस आकृति की बनी हुई वस्तुओं को देखकर अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर कर्त्ता का अनुमान हो सकता है। जैसे कुम्भकार अपने हस्तकौशल से गीली मिट्टी के पिण्ड को घट का आकार देता है। अतएव पूर्वनिर्मित घट में भी अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर

---

१. द्र० प्र० वा० पृ० ३७।

२. सिद्धं यादृगधिष्ठातृ भावाभानुवृत्तिमत्।
सन्निवेशादि तद्युक्त तस्माद्यदनुमीयते।। प्रा० चा० १।१३।

कर्त्ता का अनुमाम हो सकता है। जैसे कुम्भंकार अपने हस्तकौशल से गीली मिट्टी के पिण्ड को घटक आकार देता है। अतएव पूर्वनिर्मित घट में भी अन्वय तथा व्यतिरके के आधार पर कुम्भकार की कर्तृता प्रमाणित होती है। किन्तु पर्वत तथा समुद्र आदि को किसी ने बनते नहीं देखा है। अतएव उसको किस आधार पर सकर्तृक माना जाए?

अभिप्राय यह है कि दृष्टकर्त्ता की व्याप्ति के होने पर भी सन्दिग्ध कार्य पर्वत तथा वृक्ष आदि के साथ अदृष्टकर्त्ता की व्याप्ति सम्भव ही नहीं है। अतएव केवल घट का निर्माण देखकर कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता है कि शराब (पुरवा) भी कुम्भकार का निर्माण है। पुनश्च, अभिप्राय यह है कि उसको भी बनते देखकर दर्शक उसे कुम्भकार की रचना मानने में लेश मात्र भी संदेह नहीं करेगा। इसलिए एक आकृति की वस्तु का निर्माण देखकर उससे भिन्न आकृति को भी उसी बल पर निर्मित मानना तथा अनुमान से उसमें चेतनकर्तृकत्व का सिद्ध करना युक्त नहीं प्रतीत होता है। अन्यथा धूम का वर्ण पाण्डु होता है और धूम आग के अनुमान में हेतु होता है। अब, केवल वर्ण साम्य से अनुमान यदि सङ्गत होता है तो वर्फ भी पाण्डुवर्ण का होता है। अतएव उससे आग का अनुमान सही होने लगेगा। किन्तु यह सर्वथा अनुभव विरुद्ध है।[१] इसी तरह केवल अवयव सन्निवेश विशेष (विलक्षण अवयव संयोग) को देखकर वस्तु में सकर्तृकत्व का अनुमान समुचित नहीं होता है। अपितु जिस कर्त्ता के साथ जिस कार्य की व्याप्ति प्रत्यक्ष पर आधारित होने से सङ्गत प्रतीत होती है। उस स्थल में सकर्तृकत्व के साथ कार्यत्व हेतु की व्याप्ति हो सकती है। तथा उस हेतु से कर्त्ता का अनुमान प्रामाणिक होगा। पर्वत आदि सर्वथा इससे भिन्न है। अतएव सन्निवेश का साम्य उसमें सकर्तृकत्व के अनुमान को उक्त रीत्या प्रामाणिक नहीं होने देता है। अब पर्वत आदि का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध नहीं होता है। पक्ष में (साध्य के सन्दिग्ध अधिकरण में) हेतु का अभाव स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास होता है। प्रकृत में पर्वत आदि सकर्तृकत्व रूप साध्य का सन्दिग्ध अधिकरण है। उनमें कार्यत्व सिद्ध नहीं होता है। अतएव कार्यत्व हेतु का अभाव है, इससे प्रमाणित होता है कि उक्त स्थल में अर्थात् **उद्योतकर** के कार्यत्व हेतु से ईश्वर साधक अनुमान में हेतु स्वरूपतः असिद्ध है। इस तरह **क्षित्यादिकं कार्यं** सावयवत्वात् **घटादिवत्**। यन्नैव तन्नैवं यथा गगनम्' नैयायिक के इस अनुमान का खण्डन **धर्मकीर्ति** ने किया है।

बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि घट की व्याप्ति कुम्भकार में पट की व्याप्ति कुविन्द में– इस तरह विशेष कार्य के साथ विशेष कर्त्ता की व्याप्ति मान लेने से ही सांसारिक व्यवहार का निर्वाह हो जाता है। फिर सामान्य रूप से कार्यत्व के साथ सकर्तृकत्व की व्याप्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ नैयायिक यदि पूर्वपक्ष करे

---

१. वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य शब्दसाम्यादभेदिनः।
न युक्तानुमितिः पाण्डुद्रव्यदिवद्धुताशने।।प्र०वा०१।१४

कि जहाँ आकृति नहीं है, न वहाँ कार्य है, न कार्यत्व सिद्ध करने के लिए कोई प्रयत्नशील ही है। किन्तु अन्वय तथा व्यतिरेक के बल पर आकृति सामान्य के साथ सकर्तृकत्व की व्याप्ति मानी जा सकती है। अतएव कार्यत्व हेतु पर्वत में सकर्तृकत्व की सिद्धि कर सकता है। अन्यथा सामान्य व्याप्ति के अभाव में विशेष में प्रवृत्ति का उच्छेद हो जाएग। इसके उत्तर में धर्मकीर्ति कहते हैं कि केवल आकृति देखकर सामान्यतः कार्यत्व हेतु से यदि पर्वत आदि में सकर्तृकत्व की सिद्धि की जाए तो मिट्टी के विकार होने के नाते जैसे घट कुम्भकार की रचना है, इसी तरह वल्मीक को भी कुम्भकार की रचना माननी होगी। वह भी मिट्टी का विकार हैं।[१] घट तथा बल्मीक दोनों में मिट्टी का विकार होना रूप साम्य है। अब प्रश्न है कि घट की तरह बल्मीक भी कुम्भकार की रचना क्यों नहीं मानी जाती है? सन्निवेश सामान्य के साथ कार्यत्व सामान्य की व्याप्ति के असिद्ध होने से फलित होता है कि कार्यत्व हेतु से पर्वत आदि में सकर्तृकत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अतएव पर्वत आदि का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध नहीं होता है।

यदि यह कहा जाए कि मिट्टी के विकार और कुम्भकार में व्याप्ति नहीं मानी जाती है। क्योंकि मिट्टी के विकार होने पर भी बल्मीक कुम्भकार की रचना नहीं है। अपितु अन्यथा उत्पन्न है। तो बौद्ध दार्शनिक भी प्रतिद्वन्दी होकर उत्तर देगें कि इसी तरह बुद्धिमान के बिना भी पर्वत आदि हो सकते हैं–इसके लिए ईश्वर मानना निष्फल है। यदि ईश्वर और तनु भुवन में अव्यभिचरित अविनाभाव सम्बन्ध है तो पुनः बल्मीक और कुम्भकार में ही क्यों दोष होगा? इसका अभिप्राय यही होता है कि सन्निवेश सामान्य के साथ अबिनाभाव सम्बन्ध नहीं घटने के कारण कार्यत्व सामान्य अनैकान्तिक दोष से युक्त हैं।

सन्निवेश सामान्य रूप हेतु में व्याप्ति सिद्ध करते समय मृद्विकारत्व रूप विशेष को लेकर उसमें कुम्भकार कृतित्व का अभाव दिखाकर उक्त व्याप्ति को नहीं सिद्ध होने देना कार्यसमजाति है। इसे शास्त्र में दोष कहा गया है। नैयायिक के इस कथन के उत्तर में **धर्मकीर्ति** ने–'**साध्येनानुगमात्**'–इस कारिका को प्रस्तुत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि अनित्यत्व के साथ कृतकत्व की व्याप्ति सामान्यतः सिद्ध करते समय साध्यधर्मी तथा दृष्टान्तधर्मी के भेद से उन दोनों में दोष दिखाना कार्यसम है। जैसे कहा जाता है कि यदि साध्यधर्मि कार्यत्व को हेतु माना जाए तो वह असिद्ध होगा। यही कार्यसम नामक जात्युत्तर हैं।[२]

---

१. अन्यथा कुम्भकारेण मृद्विकारस्य कस्यचित्।
घटादेः कारणात् सिद्धयेत् वल्मीकस्यापि तत्कृतिः।। प्र०वा० १।१५

१. साध्येनानुगमात् कार्ये सामान्येनापि साधने।
सम्बन्धिभेदात् भेदोक्तिदोषः कार्यसमो मतः।। प्रा० वा०१।१६।।

प्रकृत में सन्निवेश सामान्य की व्याप्ति सकर्तृकत्व के साथ सिद्ध नहीं है। अतएव उक्त रीत्या सन्निवेश विशेष को हेतु मानने पर वह असिद्ध होगा और यदि उस सामान्य को हेतु कहा जाए तो अनैकान्तिक दोष होगा। इसलिए यह जात्युत्तर दोष नहीं है।

सन्निवेश या आकृति शब्द का वाच्यार्थ घट आदि कार्यो में पाया जाता है और उन कार्यो में बुद्धिमत् कर्तृकत्व भी है। वे कार्य बुद्धिमान व्यक्ति की रचना है। अतएव उनमें सकर्तृकत्व रहता है। सकर्तृकत्व शब्द का अर्थ है कर्त्ता के द्वारा निष्पादित और उसमें रहने वाला धर्म,जो साध्य के अधिकरण पक्ष में नियमतः रहता है। इसलिए बुद्धिमत्कर्तृकत्व के साथ सन्निवेश शब्द का स्वाभाविक सम्बन्ध सिद्ध होता है। और इसी आधार पर वृक्ष एवं पर्वत आदि में सकर्तृकत्व की सिद्धि हो सकती है। इतर बाध सहकारात्मक अनुमान से वह कर्त्ता ईश्वर होता है। जिसकी रचना संसार में देखी जाती है, केवल उसी के साथ सकर्तृकत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध मानकर पर्वत तथा वृक्ष आदि में उसका अभाव देखना कथमपि युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता है –नैयायिक के इस पूर्वपक्ष का उत्तर करते हुए **धर्मकीर्ति** ने कहा है कि घट आदि किसी जाति विशेष में जहाँ कर्त्ता प्रसिद्ध है, उस दृष्टकर्तृककार्य में पुरूष कर्तृत्व रूप साध्य को सिद्ध करना सुलभ है। कर्तृकत्व रूप विशेष को छोड़कर सामान्यतः केवल कार्य होने से उसमें (उक्त साध्य का) सकर्तृकत्व का साधन यदि सङ्गत हो तो बैल आदि विभिन्न गौ शब्द के प्रसिद्ध होने पर बैल में निश्चित रूप से सींग रहने से उसके बाद रूप अर्थ में भी सींग का रहना निश्चित हो जाएगा। बैल में सींग रहने के कारण गौ शब्द के बैल रूप अर्थ के साथ उसका अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित है।[१] किन्तु गो शब्द के वाच्यार्थ के साथ–सामान्यतः सींग का अविना भाव सम्बन्ध बैल की तरह अन्य अर्थों में भी अपना स्थान निश्चित रूप से क्यों नहीं रखेगा।[१] इसलिए दृष्ट सकर्तृकत्व रूप विशेष को छोड़कर सामान्यतः सन्निवेश शब्द के वाच्यार्थ के साथ सकर्तृकत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध मानना असङ्गत है।

दूसरी बात यह है कि पुत्र के रहने पर पौत्र की कामना की जा सकती है। किन्तु यदि पुत्र ही नहीं है तो पौत्र की कामना कैसी होगी। नैयायिक के ईश्वर साधन अनुमान का साध्य सर्वज्ञ तथा नित्य पुरुष दृष्टान्त में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। और जो घट

---

१. जात्यन्तरे प्रसिद्धस्य शब्दसामान्यदर्शनात् ।
न युक्तं साधनं गोत्वाद् गवादीनां विषाणिवत् ।। प्रा०वा० ।१।१ ७।।

आदि दृष्टान्त में उपलब्ध है, वह अल्पज्ञ तथा शरीरी, साध्य नहीं है। इस तरह दृष्टान्त तथा साध्य में परस्पर स्वाभाविक विरोध देखा जाता है। यह कदापि व्याप्ति को सिद्ध नहीं होगे देगा। अतएव ईश्वर की सिद्धि असम्भव है।

नैयायिक यदि शब्द प्रमाण के आधार पर पूर्वपक्ष करे कि ईश्वर शब्द ही ईश्वर का साधक है तो उत्तर यह है कि शब्द का प्रयोग वक्ता के इच्छा के अधीन रहता है। इसलिए उसे विवक्षा परतन्त्र कहा जाता है। पूर्वपक्षी चूकि ईश्वर को सिद्ध करना चाहता है। इसलिए वह अवश्य ही इस ईश्वर शब्द को ढूंढ़ कर लाएगा। शास्त्र में कहा गया है कि विवक्षा रहने से प्रत्येक शब्द सभी अर्थो में प्रयुक्त हो सकता है। घट शब्द से भी विवक्षा मानकर मनुष्य रूप अर्थ का बोध कराया जा सकता है। वक्ता की इच्छा ही विवक्षा पदार्थ है। केवल शब्द के प्रयोग से वस्तु की सिद्धि यदि सम्भव है। जैसाकि पूर्वपक्षी ने ईश्वर शब्द के आधार पर ईश्वर को सिद्ध करना चाहता है। तब घट शब्द से उपर्युक्त रीत्या तात्पर्य अथवा विवक्षा के द्वारा मनुष्य का बोध क्यों नहीं होगा? घट शब्द से मनुष्य के बोध को जिस युक्ति से खण्डन किया जाएगा। वही युक्ति केवल ईश्वर शब्द से उसकी सिद्धि में बाधक होगा।[१]

---

१. विवक्षापरतन्त्रत्वात् न शब्दाः सन्ति कुत्र वा।
तद्भावादर्थसिद्धौ तु सर्वं सर्वस्य सिद्धयति।। प्र०वा० १।१८।।

अनुच्छेद १ (ख)

बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति द्वारा ईश्वर बाधक युक्तियों का प्रदर्शन

धर्मकीर्ति ने उक्त सात कारिकाओं के द्वारा ईश्वर की सिद्धि में नैयायिकों की युक्तियों के खण्डन से ईश्वर को सिद्ध नहीं होने दिया है। और अब वे आठ कारिकाओं में ईश्वर सिद्धि के बाधक प्रमाणों का प्रदर्शन करते हैं। इससे ईश्वर का अस्तित्वाभाव सुदृढ़ हो जाता है। इन्होंने ईश्वर खण्डन में दो तरह का प्रयास किया है- एक तो उसके साधक युक्तियों का खण्डन और दूसरा उसमें बाधक प्रमाणों का प्रदर्शन। पूर्व अनुच्छेद में ईश्वर साधक युक्तियों का खण्डन दिखाया गया है। अब यहाँ उसमें केवल बाधक प्रमाणों को दिखाया जा रहा है।

सृष्टि के आरम्भ में सांसारिक सभी पदार्थों का निर्माण ईश्वर करता है- नैयायिक के इस कथन पर **धर्मकीर्ति** पूछते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर जिस स्वभाव से सांसारिक वस्तुओं की रचना करता है, वह स्वभाव सृष्टि से पहले उसमें था या नहीं। यदि वह स्वभाव था तो प्रश्न उठता है कि सृष्टि से पहले भी उसने पदार्थों का निर्माण क्यों नहीं किया? और यदि निषेध पक्ष मान लिया जाय तो फिर प्रश्न होता है कि किस कारण से ईश्वर में वह स्वभाव नहीं था? जिस हेतु प्रलय में उसने निर्माण छोड़ दिया और किस कारण से सृष्टि के अवसर में वह आ गया, जिससे सृष्टि की शुरुआत हो जाती है। इससे प्रमाणित होता है कि सर्ग के आरम्भ में ईश्वर में कारकत्व शक्ति आ जाती है। अतएव सांसारिक पदार्थों का निर्माण उससे सम्पादित होता है। प्रलय में उस शक्ति का नाश हो जाता है, अतएव वह कुछ बना नहीं सकता है।[१]

खेत भी हल से जोते जाने पर तथा खाद आदि डालने पर उत्पादन शक्ति का संचय करता है और तब वह स्वस्थ अंकुर का जन्म देता है। यदि उसे जोता नहीं जाय तथा खाद आदि अच्छी तरह से नहीं डाला जाए तो अच्छे अंकुर नहीं आ सकते हैं।

---

१. यथा तत्कारणं वस्तु तथैव तदकारणम्।
यदा तत्कारणं केन मतं नेष्टमकारणम् ।। प्र०वा० १।२२

इससे भी सिद्ध होता है कि शक्ति के बिना किसी भी वस्तु में कारणता नहीं आ सकती है। अन्यथा शस्त्र या औषध से यदि किसी को फोड़ा निकल जाए तो ठूठ (बिना पत्तियों के) पेड़ को, जो उस फोड़ा से सर्वथा असम्बद्ध है, उसका कारण मानने में क्या आपत्ति हो सकती है।[१] अतः सिद्ध होता है कि कारकत्व शक्ति जिसमें नहीं रहती है, वह कारण नहीं हो सकता है। ईश्वर में उपर्युक्त रीति से कारकत्व शक्ति का अभाव है। इसलिए वह भी कारण नहीं हो सकता है। यदि कारकत्व शक्ति उसमें रहती तो प्रलय में भी वह सृष्टि अवश्य करता। प्रलय में सृष्टि का विधान नहीं देखा जाता है- यही प्रमाणित करता है कि ईश्वर में कारकत्व शक्ति नहीं है। संसार निर्माण करना ईश्वर का स्वभाव हैं।[२] **न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर** की यह उक्ति **धर्मकीर्ति** द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त युक्ति से खण्डित हो जाता है।

प्रलय में ईश्वर व्यापार से विरत रहता है। इसी से सृष्टि की प्रक्रिया रुकी रहती है। किन्तु सृष्टि के आरम्भ में वह व्यापार में संलग्न हो जाता है। अतएव सांसारिक निर्माण होता रहता है[३]-नैयायिक का यह पूर्वपक्ष **धर्मकीर्ति** की दृष्टि से सर्वथा तर्क विरुद्ध है।

प्रमाणवार्त्तिककार आचार्य धर्मकीर्ति यहाँ अपर एक तर्क उपस्थित करते हैं कि जब तक ईश्वर अपने स्वभाव को नहीं बदलता तबतक यह सम्भव ही नहीं है कि वह किसी भी कार्य के प्रति कारण हो। क्योंकि प्रलय में जो स्वभाव था उसका सर्वथा विपरीत स्वभाव सृष्टि के समय में रहता है। और यह नियम है कि किसी का भी स्वभाव परिवर्तित नहीं होता है। अब, **उद्योतकर** के पक्ष से यह कहना कि स्वभाव से ईश्वर संसार की रचना में प्रवृत्त होता हैं- सर्वथा अयुक्ति पूर्ण है। जिसका स्वभाव एक समय में (प्रलय में) विरत रहना है, वह उसी स्वभाव के अनुकूल होकर सृष्टि के आदि में निर्माण व्यापार में संलग्न होगा, सम्भव नहीं है। व्यापार में रत रहना उसके स्वभाव का विरुद्ध है, और देखा गया है कि स्वभाव का प्रतिकूल किसी का कुछ चलता नहीं है।

जिस वस्तु के अभाव में कार्य नहीं होता है वह उस कार्य का कारण होता है। कार्यकारणभाव के विचार में केवल अन्वय के घटने से किसी वस्तु में कारणता नहीं आती है। अपितु व्यतिरेक का समन्वय आवश्यक है। प्रकृत में ईश्वर नित्य पदार्थ है,

---

१. शास्त्रौषधादिसम्बन्धाच्चैत्रस्य व्रणरोहणे।
असम्बद्धस्य किं स्थाणोः कारणत्वं न कल्प्यते।। प्र०वा० १।२३।
२. तत्स्वाभाव्यात् प्रवर्तते, न्या० वा० ४।१।४१
३. स्वभावभेदेन विना व्यापारोऽपि न युज्यते।
नित्यस्याव्यतिरेकित्वात् सामर्थ्यञ्च दुरन्वयम्।। प्र०वा०१।२४।

उसमें सांसारिक वस्तु के साथ अन्वय घटने पर भी व्यतिरेक नहीं घटता है। अतएव वह कारण नहीं हो सकता है। यदि व्यतिरेक के नहीं घटने पर भी कारणता पदार्थ में आ सकती है-यह माना जाए तो आकाश नित्य पदार्थ होने से प्रत्येक कार्य से पहले अवश्य रहता है। अतएव आकाश की उपस्थिति में कार्य की सत्ता देखी जाती है। अब प्रत्येक कार्य के साथ उसका अन्वय घटता है, अतः उसको प्रत्येक कार्य का कारण मानना रूप आपत्ति हो जायगी।[१]

ईश्वर के खण्डन में **धर्मकीर्ति** की अपर युक्ति यह है कि जिनकी विद्यमानता कार्य सम्पादन अवश्य करती है, उन्हीं को अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर हेतु मानना सङ्गत है। दृष्ट कारणों से ही दृष्ट कार्य की उत्पत्ति होती है।इसी नियम से सांसारिक व्यवहार का निर्वाह होगा। अप्रत्यक्ष ईश्वर मानने की आवश्यकता नहीं है।[२]

नैयायिक यदि पूर्वपक्ष करे कि जैसे विषय तथा इन्द्रिय का संयोग किसी विशेष के अभाव में भी प्रत्यक्ष का अनुभव कराता है। अतएव उस अनुभव के प्रति उस संयोग में कारणता सिद्ध होती है। इसी तरह ईश्वर किसी विशेष के बिना भी केवल सहकारी कारण के सन्निधान से कार्य का सम्पादन करेगा।[३]

इसके उत्तर में बौद्ध का कहना है कि विषय तथा इन्द्रिय का संयोग तथा उपसर्पण प्रलय से उत्पन्न विज्ञान, उत्पादन क्षण रूप प्रज्ञात्मक विशेष की उपस्थिति में ही अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष करा सकता है। अन्यथा नहीं। इसी तरह ईश्वर भी विशेष के अभाव में केवल सहकारी के सन्निधान में किसी कार्य का सम्पादन नहीं कर सकता है।[४]

---

१. येषु सत्सु भवत्येव तेभ्योऽन्यस्य प्रकल्पने।
तद्धेतुत्वेन सर्वेषां हेतूनामनवस्थितिः।। प्र०वा० १।२५।

यद्यपि न्यायकुसुमाञ्जलि (१।१९) में इसका खण्डन किया गया है। तथा धर्मिग्राहक प्रमाण को भी कार्यकारणभाव का ज्ञापक माना गया है। तथापि यहाँ उसकी चर्चा अप्रासङ्गिक है।

२. स्वभावपरिमाणेन हेतुरङ्कुरजन्मनि।
भूम्यादिस्तस्य संस्कारे तद्विशेषस्य दर्शनात् ।। प्र० वा० १।२६

३. यथा विशेषेण बिना विषयेन्द्रियसंतिः।
बुद्धेर्हेतुस्तथेदं चेन् न तत्रापि विशेषतः।। प्र० वा० १।२७

४. पृथक् पृथगशक्तानां स्वभावातिशये संकृतिः।
संहतावप्यसामर्थ्यम् स्यात् सिद्धोऽतिशयस्ततः प्र०वा० १/२८।

उपर्युक्त आलोचना के फलभूत सिद्धान्त देते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि पृथक् रूप से विषय तथा इन्द्रिय में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। अतएव समूह में भी वह नहीं रह सकती है। इसलिए विशेष को मानना ही होगा और तब विशेष के सिद्ध हो जाने पर पृथक् रूप में जिसमें कारणता नहीं भी थी उसमें भी संहति पाकर कारणता आ जाती है, नैयायिक का ईश्वर पृथक् है तथा अकारक पदार्थ के स्वभाव से उसका स्वभाव अभिन्न है, इसलिये यह कारण नहीं हो सकता है।[१]

---

१. तस्मात् पृथगशक्तेषु येषु सम्भाव्यते गुणः।
संहतौ हेतुता तेषां नेश्वरादेरभेदतः।। प्र०वा० १/२९।

अनुच्छेद -२ (क)

अविद्धकर्ण का परिचय, इनकी ईश्वर साधक युक्तियाँ तथा शान्तरक्षित द्वारा उसका खण्डन

अविद्धकर्ण एक विशिष्ट प्राचीन नैयायिक थे। उनको **शान्तरक्षित**, **अभयदेव**, तथा **कर्णकगोमिन्** ने उद्धृत किया है। **शान्तरक्षित** का यह मत है कि **अविद्धकर्ण** ने एक भाष्य व्याख्या लिखी थी और **कमलशील** के अनुसार उन्हीं की **तत्त्वटीका** थी। सम्भव है कि **तत्त्वटीका** तथा **भाष्य व्याख्या** एक ही ग्रन्थ रहा हो। **शान्तरक्षित** ने इस बात की पुष्टि की है कि **धर्मकीर्ति** ने **अविद्धकर्ण** के नाम का निर्देश नहीं करते हुए उनके मतों का उद्धरण दिया है। यह द्रष्टव्य है कि इनका उल्लेख **ज्ञानश्रीमित्र** तथा **रत्नकीर्त्ति** के ग्रन्थों में नहीं मिलता है। इससे प्रमाणित होता है कि उस समय में इनकी कृतियाँ व्यवहार में नहीं थी।[१]

कुछ अप्रासङ्गिक होने पर भी यहाँ **अविद्धकर्ण** के उपलब्ध मतों की आलोचना की जाएगी। क्योंकि **वाचस्पति** के पहले **उद्योतकर** को छोड़कर तत्काल प्रसिद्ध नैयायिकों में **अविद्धकर्ण** का भी ईश्वर सम्बन्धी मत उपलब्ध होता है।

क्षणिकवाद सिद्धान्त के खण्डन के सम्बन्ध में **उद्योतकर** और **अध्ययन** के साथ **अविद्धकर्ण** के विचार में अभिन्नता पायी जाती है। इसके अनुसार अव्यवहित पौर्वापर्य रहने से ही दो घटनाओं के बीच व्याप्ति सम्बन्ध की स्थापना की जा सकती है। इसलिए पौर्वापर्य का प्रेक्षक ज्ञाता को अन्ततः दो क्षणों तक स्थायी होना आवश्यक है। किन्तु यह मत बौद्धाचार्यो को मान्य नहीं है। **तत्त्वसंग्रह** और उसकी व्याख्या **पंजिका** में अविद्धकर्ण की ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी युक्तियाँ उद्धृत है। इसी की सूक्ष्म प्रतिध्वनि **उदयन** के न्यायकुसुमाञ्जलिल में भी मिलती है। **प्रभाचन्द्र** ने भी **प्रमेय कमलमार्तण्ड** में इस मत का उल्लेख किया है।[२] **ध्वंस** के विषय में **अविद्धकर्ण** का कहना है कि यह प्रतियोगी का समसामयिक तथा पूर्ववर्ती नहीं होता है। अपि तु, परिवर्ती ही होगा।

---

१. द्र० लेख, श्रीमान् अनन्तलाल ठाकुर, अखिल भारतीय प्राच्यविद्यासम्मेलन, अहमदाबाद, १९५१।

२. द्र० प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० २६९

यह बौद्धों को भी मान्य है । किन्तु ऐसा होते हुए भी ध्वंस एक निर्दिष्ट काल तथा निर्दिष्ट क्षण में अपने कारण कूट से उत्पन्न होता है स्वतः नहीं हो सकता है। बौद्ध दार्शनिकों के अहेतुक विनाशवाद का यह प्रत्युत्तर है।

आत्मा के नित्यत्व और विभुत्व स्थापन के लिए **अविद्धकर्ण** ने कहा है कि नवजात शिशु का प्रथम ज्ञान से लेकर क्रमिक समस्त ज्ञान एक ही आत्मा का है। क्योंकि प्रत्येक ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञानी का भी अभेद सर्वमान्य है। इससे आत्मा का एकत्व तथा नित्यत्व सिद्ध होता है। संसार के सभी मूर्त्त पदार्थ जो नजदीक में है अथवा जो बहुत दूर में है, प्रत्येक वस्तु मेरे ज्ञान का विषय होता है। अतएव अहं शब्द वाच्य आत्मा विभु पदार्थ माना जाता है।

बौद्ध दार्शनिक संख्या का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते हैं किन्तु **अविद्धकर्ण** को वह मान्य है। **अविद्धकर्ण** परमाणुओं का नित्यत्व भी मानते है। उनके मतानुसार पञ्चावयव रूप न्याय वाक्य में निगमन अन्यान्य वाक्य के समान प्रयोजननीय अवयव है। क्योंकि परस्पर विशिलष्ट प्रतिज्ञा आदि अवयव चतुष्टय को एक सूत्र में ग्रथित करने के लिए अपर एक वाक्य की भी आवश्यकता होती है। नैयायिक निगमन अवयव से इसको पूरा करता है।

अविद्धकर्ण के मतानुसार अनुमान वक्ता के लिए प्रमाण नहीं है। किन्तु इनका कहना है कि उपमान प्रमाण है। उन्होंने उपमान तथा आगम का आपेक्षिक अधिक माहात्म्य प्रदर्शित किया है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान ही दो प्रमाण है–**बौद्ध** के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। **शान्तरक्षित** ने **धर्मकीर्त्ति** कृत **वादन्याय** की **विपञ्चितार्था व्याख्या** में भी **अविद्धकर्ण** का प्रसङ्ग उठाया है। विपञ्चितार्था में एक अनुच्छेद में द्रव्य गुण से भिन्न वस्तु है–इसके प्रतिपादन के लिए **अविद्धकर्ण** ने कहा है कि रूप आदि के प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है। यह सर्वजन अनुभव सिद्ध है। उदाहरण स्वरूप इन्होंने अन्धकार से आवृत स्थल में विद्यमान वस्तुओं का उल्लेख किया है। अन्धकार में अवस्थित अश्व के रूप का किसी को प्रत्यक्ष नहीं होता है। किन्तु अश्व का प्रत्यक्ष होता है। यह बात सत्य है कि रूप के अतिरिक्त अश्व वस्तु का वहाँ प्रत्यक्ष होता है। इसी तरह आपादमस्तक वर्मावृत पुरुष के रूप आदि के प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी उसमें पुरुष का प्रत्यक्ष सर्वमान्य तथ्य है। वलाका पंक्ति में स्थित पक्षी व्यक्तियों के रूप का प्रत्यक्ष हो, चाहे नहीं हो, किन्तु पक्षियों का प्रत्यक्ष होता है। जबाकुसुम आदि के सन्निधान में स्थित स्फटिक का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु उसके रूप का तत्काल में प्रत्यक्ष नहीं होता है। कुङ्कुम राग से रञ्जित वस्तु के रूप का भी इसी युक्ति से प्रत्यक्ष नहीं होकर वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ वस्तु का स्वाभाविक रूप अभिभूत रहता है। इस विषय में **भाविविक्त** और **उद्योतकर** दोनों ही **अविद्धकर्ण** के साथ एकमत हैं।

शान्तरक्षित ने अन्यत्र दिखाया है कि **अविद्धकर्ण** का प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रह स्थान के लक्षण **धर्मकीर्त्ति** से परवर्ती काल में खण्डित हुआ है। **न्यून** नामक निग्रहस्थान की व्याख्या में **शान्तरक्षित** ने पुनश्च इसी को दुहराया है।

तत्त्वबोधविधायिनी नामक **सम्मतितर्क** की व्याख्या में **अभयदेव सूरि** ने **अविद्धकर्ण** के पूर्वोक्त ईश्वरवाद, क्षणिकवाद परमाणुनित्यत्व एवं संख्या सम्बन्धी मतों का उद्धरण दिया है। ईश्वरवाद के सम्बन्ध में **अविद्धकर्ण** का उपलब्ध मत अति संक्षिप्त होने पर भी विशेष महत्व रखता है। शान्तरक्षित के कथन के अनुसार ईश्वर के सम्बन्ध में अविद्धकर्ण का मत यह है।[१]

ईश्वर की सिद्धि में अविद्धकर्ण की युक्तियाँ

जो जो वस्तु अपने आरम्भक अवयव समूह के संयोग विशेष से अपनी पृथक् सत्ता रखती है, वह बुद्धिमान रूप कारण से उत्पन्न होती है। जैसे घट अपने आरम्भक दो कपालों के संयोग विशेष से अपनी पृथक् सत्ता रखता है। अतएव चेतन कुलाल से उत्पन्न होता है। ऐसा कोई भी कार्य नहीं है, जो बुद्धिमान व्यक्ति रूप कारण से उत्पन्न नही हुआ हो। यहाँ अन्वय तथा व्यतिरेक से स्वारम्भकअवयवसन्निवेशविशेष तथा बुद्धिमत्कारणजन्यत्व में व्याप्ति भी सिद्धि हो जाती है। अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि विवाद का विषय दो इन्द्रियों से ग्राह्य तथा अग्राह्य वस्तु समूह बुद्धिमान रूप कारण से उत्पन्न होता है। क्योंकि अपने आरम्भक अवयव समूहों के द्वारा वह अपनी पृथक् सत्ता रखता है। इसी इतबाधसहकारात्मक अनुमान से सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर की सिद्धि होती है। इस अनुमान में जिस वस्तु का चक्षु तथा त्वक् इन दो इन्द्रियों से ज्ञान होता है तथा जिस वस्तु का किसी इन्द्रिय से ज्ञान नहीं होता है, इस तरह का विवादग्रस्त वस्तु पक्ष है। सन्दिग्ध साध्य का अधिकरण पक्ष होता है। और बुद्धिमान रूप कारण से होना साध्य है तथा स्वारम्भक अवयव सन्निवेश विशेष हेतु है-**द्वीन्द्रियग्राह्याग्राह्यवस्तूनि बुद्धिमत्पूर्वकत्वानि स्वारम्भकावयवसन्निवेश विशेषवत्वात्**-जिसमें महत् परिमाण तथा रूप है, जैसे परमाणु तथा द्व्यणुक को छोड़ कर जलीय, तैजस् तथा पार्थिव वस्तु इन्द्रियों से चक्षुष् तथा त्वक् से गृहीत होता है। रूप नहीं रहने से वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इन दो तरह के पदार्थो को पक्ष बनाया गया है। दो इन्द्रियों से ग्राह्य होने पर भी कर्तृत्व के विवाद के अविषय घट पट आदि पक्ष में प्रविष्ट नहीं होते हैं। ऐसे ही परमाणु के अतीन्द्रिय होने से भी उसका पक्ष कोटि में प्रवेश नहीं होता है। क्योंकि यह निर्विवाद अकर्तृक पदार्थ है। परमाणु में बुद्धिमत्पूर्वकत्व की सिद्धिवादी तथा प्रतिवादियों में किसी को भी इष्ट नहीं है। परमाणु के पक्ष कोटि में प्रवेश होने से बाध

---

१. **यत्स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशेषवत्।**
बुद्धिमद्धेतुगम्यं तत्तद्यथा कलशादिकम्।।४७।।
द्वीन्द्रियग्राह्यमग्राह्यं विवादपदमीदृशम्।
बुद्धिमत्पूर्वकं तेन वैधर्म्येणाणवो मताः।।४८।। तत्त्वसंग्रह, भाग १ पृ०४१।

नामक हेत्वाभास की आपत्ति हो जाती है। निश्चित साध्याभाव का अधिकरण अर्थात् विपक्ष यदि पक्ष हो तो बाध दोष होता है। प्रकृत में बुद्धिमत्पूर्वकत्व साध्य है, उसका अभाव परमाणु में उभयवादि सिद्ध है। अतएव पक्षकोटि में इसका प्रवेश बाध होता है। पक्षकोटि में **विवाद का विषय** विशेषण जोड़नें से सिद्ध साधन दोष का निराकरण होता है। अन्यथा घट तथा पट आदि प्रसिद्ध कर्तृक पदार्थ का कर्त्ता दृष्ट ही है। उसको अनुमान से सिद्ध करने की आवश्यकता क्या थी?

पार्थिव द्व्यणुक आदि इन्द्रिय से अग्राह्य भी है तथा यह विवाद का विषय भी है। अतएव वह पक्ष होता है। अब पार्थिव द्व्यणुक पर्वत तथा अंकुर आदि वस्तुओं में बुद्धिमत् पूर्वकत्व की सिद्धि फलतः सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान एक ईश्वर को सिद्ध करता है।

जीव से भिन्न बुद्धिमान को ही शास्त्र में ईश्वरपद से कहा गया है। तथा उक्त साध्यांश में प्रविष्ट बुद्धिमान जीव से भिन्न का वाचक है। क्योंकि उस बुद्धिमान पद से यदि अस्मदादि का ग्रहण किया जाए तो कार्य की सिद्धि नहीं होगी। इस सभी वस्तुओं के निर्माण में समर्थ तथा उपयोगी जिसकी बुद्धि होगी, वही ईश्वर है।

तनु भुवन[१] आदि के उपादान किसी चेतन से अधिष्ठित होकर तनु भुवन आदि का निर्माण करता है रूपवान होने से। जैसे तन्तु रूपवान है, अतएव चेतन पुरुष जुलाहा से अधिष्ठित होकर पट का निर्माण करता है। इसी तरह तनु भुवन आदि का उपादान भी किसी चेतन से अधिष्ठित होकर तनु भुवन आदि का निर्माण कर सकता है। क्योंकि इन उपादानों में भी रूप है।

प्रस्तुत प्रकरण में पूर्वपक्ष रूप में प्रसिद्ध नैयायिक **अविद्धकर्ण** की ईश्वर साधक युक्तियाँ कही गई है। यहाँ बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार इन युक्तियों का खण्डन करना **शान्तरक्षित** तथा **कमलशील** का अभिप्रेत है।

अविद्धकर्ण ने ईश्वर को सिद्ध करने के लिए कहा है कि दो इन्द्रियों के ग्राह्य एवं इन्द्रिय से नहीं ग्रहण करने योग्य सांसारिक वस्तुजात पृथिवी तथा नदी आदि बुद्धिमान की रचना है। क्योंकि अपने कारणों के द्वारा वह अपना स्वरूप लाभ करता है। इस अनुमान में स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशिष्टत्व हेतु है। यहाँ तत्त्वसंग्रहकार **शान्तरक्षित** का कहना है कि **अविद्धकर्ण** का उपर्युक्त हेतु स्वरूपत; असिद्ध है। बौद्ध दर्शन में अवयवों पर परस्पर संयोगात्मक सम्बन्ध का तथा अवयवों के स्वतन्त्र अस्तित्व का सयुक्तिक खण्डन किया गया है।[२] संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा कर्म रूपशाली वस्तुओं में (रूपवान् द्रव्यों) में समवाय सम्बन्ध से रहता है।

---

१. तन्वादीनामुपादानं चेतनावदधिष्ठितम् ।
रूपादिमत्वात्तन्त्वादि यथादृष्टं स्वकार्यकृत् ।।४९।।
२. द्रष्टव्य तत्त्वसंग्रह ५५६ श्लोक, पृ० १८७

अतएव इन गुणों का प्रत्यक्ष होता है। इस वचन के अनुसार अवयवों के सन्निवेश विशेष का साक्षात्कारात्मक ज्ञान सर्वमान्य है। एवं महत्व, अनेक द्रव्यवत्व तथा रूप जिसमें रहता है, उसका प्रत्यक्ष अवश्य होता है। इस वचन के अनुसार अवयवी के प्रत्यक्ष में लेश मात्र भी विवाद का स्थान नहीं है। किन्तु बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि उपलब्धि योग्य वस्तु की अनुपलब्धि उसके अस्तित्वाभाव का साधक होती है। अतएव उस वस्तु से सद्व्यवहार का निर्वाह सम्भव नहीं है। प्रकृत में अवयवों का सन्निवेश विशेष तथा अवयवी उपर्युक्त युक्ति के अनुसार उपलब्धि योग्य सिद्ध होते हैं। किन्तु उन दोनों ही वस्तुओं में बौद्ध मान्यता के अनुसार रूप को छोड़कर और कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतएव उन दोनों ही वस्तुओं की अनुपलब्धि प्रमाणित होती है।[१] जो उन दोनों को खरहे की सींग की तरह असद् व्यवहार का विषय बनाता है। इस विषय में अधिक विवेचना प्रकरण से असम्बद्ध मानकर छोड़ दी गई है। केवल विषय का दिग्दर्शन करा दिया गया है। अधिक विचार के लिए **तत्त्वसंग्रह** का षट्पदार्थविवेचन प्रकरण द्रष्टव्य है। अतएव स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशिष्टत्व हेतु प्रसिद्ध नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि अचेतन उपादान चेतन अधिष्ठाता के बिना कार्य सम्पादन नहीं कर सकता-**नैयायिक अविद्धकर्ण** के इस अनुमान का विपरीत ही कहा जाए-अचेतन उपादान चेतन अधिष्ठाता की अपेक्षा नहीं करते हुए कार्य सम्पादन की क्षमता रखते हैं-तो इसमें बाधक प्रमाण नहीं मिलता है। इसलिए नैयायिक के अनुमान का हेतु विपक्ष से व्यावृत्त है या नहीं-इसका सन्देह रहता ही है, जो हेतु को हेतु नहीं रहने देता है अपि तु अनैकान्तिक हेत्वाभास बना देता है।

यहाँ अनैकान्तिक के प्रकारों का स्वरूप निर्दिष्ट किया जाता है।[२] सपक्ष तथा विपक्ष में हेतु की सत्ता साधारण अनैकान्तिक है। और पक्ष मात्र में हेतु की सत्ता असाधारण अनैकान्तिक है। केवलान्वयि साध्यक हेतु अथवा केवलान्वयि पक्षक हेतु अनुपसंहारी होता है। विपक्ष में हेतु के अभाव का निश्चय नहीं होना अपि तु सन्देह रहना सन्दिग्ध अनैकान्तिक है, और यह चौथा प्रकार ही यहाँ घटता है। अपि च, अवयवों का परस्पर संयोग और अवयवी इन दोनों के नहीं सिद्ध होने से **अविद्धकर्ण** कृत उक्त अनुमान का

---

१. तदत्रासिद्धता हेतोः प्रथमे साधने यतः।
सन्निवेशो न योगाख्यः सिद्धो नावयवी तथा ।।५६।।
दृश्यत्वेनाभ्युपेतस्य यस्यानुपलम्भनात् ।
साधनानन्वितं चेदमुदाहरणमप्यतः।।५७।।
२. मुक्तावली, अनुमान खण्ड, का० ७२-७४

हेतु घटादि रूप साधर्म्यमूलक दृष्टान्त में नहीं रहता है। अतएव दृष्टान्त में साधन का अभाव विद्यमान है। इसे साधनधर्मविकलदृष्टान्त[1] कहा जाता है। और यह साध्य की सिद्धि नहीं होने देता है। **अविद्धकर्ण** के इस अनुमान में आश्रयसिद्ध अथवा पक्षाप्रसिद्ध भी दोष होता है[2] दो इन्द्रियों से गृहीत होने वाली वस्तुओं को पक्ष किया गया है। अतएव पक्ष का एकदेश अप्रसिद्ध है। यही आश्रयासिद्ध हेत्वभास है। अभिप्राय यह है कि बौद्ध मान्यता के अनुसार दो इन्द्रियों से किसी भी वस्तु का ग्रहण नहीं होता है अपि तु चक्षुष् इन्द्रिय से द्रव्यगत रूप का ज्ञान होता है और त्वगिन्द्रिय तद्गत काठिन्य अथवा कोमलता का स्पार्शन अनुभव कराता है। दोनों ही ज्ञान क्रमशः होते है तथा परस्पर भिन्न विषयों पर अपने को आश्रित करते हैं। इसके प्रमाणित होता है कि जैसे गन्ध तथा रस का ज्ञान परस्पर भिन्न विषयाश्रित होता है। उसी तरह चाक्षुष तथा स्पार्शन प्रत्यक्ष परस्पर भिन्न विषयों पर ही है।

यहाँ तर्क उपस्थित करते हुए **कमलशील** कहते हैं कि भिन्न रूप से प्रतिभासित ज्ञान एक विषयाश्रित नहीं होते। जैसे गन्ध तथा रस का प्रत्यक्ष सर्वथा भिन्न रूप से प्रतिभासित होता है। और वह एक विषयाश्रित नहीं हैं। यदि भिन्न रूप से प्रतिभासित ज्ञानों को एक विषयाश्रित माना जाए तब रूप तथा गन्ध के प्रत्यक्षों को भी एक विषयाश्रित मानना होगा। परन्तु यह किसी भी स्थिति में किसी को मान्य नहीं है। इसका फलितार्थ यह है कि नैयायिक **अविद्धकर्ण** के ईश्वर साधक अनुमान में द्वीन्द्रियग्राह्यत्वरूप पक्ष का एकदेश प्रसिद्ध नहीं है। अतः अंशतः पक्षाप्रसिद्ध होता है।

इस तर्क का खण्डन यद्यपि न्यायदृष्टि से हो जाता है। जिस भक्ष्य पदार्थ में सुगन्धि तथा रस दोनों विद्यमान है उस मोदक का (विभिन्न रूप से-गन्धवत्त्व रूप से तथा रसवत्त्व रूप से-प्रतिभास होने पर भी उन विविध रूप में प्रतिभास्यों का आश्रय वह एक मोदक होता है । इसी तरह नील तथा पीत रूप से प्रतिभासित घट का ज्ञान एक विषय (घट) का आश्रित हो जाता है। अतःगुण से भिन्न गुणी (द्रव्य) की सिद्धि हो जाती है। तथापि यहाँ बौद्ध मान्यता दिखायी जा रही है। अतः उसी के अनुसार चलना है।

---

१. अतएव संयोगावयविनोरभावात् साधर्म्यदृष्टान्तो घटः साधनधर्मविकल इति दर्शयति साधनानन्वितमिति।

– तत्त्वसंग्रह की पंजिका व्याख्या।।५७।।

२. चक्षुः स्पर्शनविज्ञानं भिन्नाभमुपजायते।
एकालम्बनता नास्ति तयोर्गन्धादिवित्तिवत् ।। तत्त्वसंग्रह ।।५८।।

यद्यपि '**दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्**'[1] इस न्यायसूत्र की व्याख्या में न्याय वार्त्तिककार **उद्योतकर** ने कहा है कि चाक्षुष तथा सपर्शन ज्ञान का विषय यदि एक नहीं होगा तो प्रतिसन्धानात्मक ज्ञान का होना ही असम्भव हो जाएगा। क्योंकि जिस घट को मैंने दिन में देखा था अन्धकार में उसी का स्पर्श कर रहा हूँ लोक में यह व्यवहार होता है। यही प्रतिसन्धानात्मक ज्ञान है। अतएव बौद्ध की प्रतिज्ञा अनुमान से बाधित है। **उद्योतकर** ने अपना पक्ष समर्थन के लिए भिन्न-भिन्न प्रकारों के अनुमान यहाँ उपस्थित किये है। विवाद का विषय दर्शन तथा स्पर्शन ज्ञान प्रतिसन्धानात्मक है। अतएव एक विषयक है। तथापि बौद्धदर्शन की मान्यता कहती है कि प्रतिसन्धान प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं है। क्योंकि अनेक को एक मानना भ्रम है। अतएव एक विषयक है, क्योंकि वह प्रतिसन्धानात्मक होता है। जैसे नील विशिष्ट तथा उत्पल का ज्ञान प्रतिसन्धान प्रमाण नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि वह कोड़ी कल्पना मात्र है।प्रतिसन्धान प्रमाणान्तर भी नहीं है। अज्ञात का ज्ञापक प्रमाण होता है। जो वस्तु पहले से ज्ञात होता है उसी का पुनर्ग्रहण प्रतिसन्धान शब्द का वाच्य है। अतः प्रतिसन्धान ज्ञात का ज्ञापक होता है। इसलिए **उद्योतकर** द्वारा प्रदर्शित प्रतिसन्धीय मानत्व या प्रतिसन्धानात्मकत्व हेतु अनैकात्रिक-दोश से युक्त है। यदि प्रतिसन्धानात्मक ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध रहता, तब उसमें अनैकान्तिकत्व दोष नहीं आता। किन्तु उसका प्रामाण्य ही जब सिद्ध नहीं है, तो उक्त आपत्ति का आगम क्यों नहीं होगा।

प्रतिसन्धान के स्वरूप की विवेचना करते हुए **कमलशील** कहते हैं कि घट आदि प्रत्यय के विषयों में पहले भिन्न-भिन्न विषय का घट तथा पट आदि का ज्ञान होता है और पश्चात् अनुरूप संकेत से उद्बोधित संस्कार जब एकत्व का अध्यवसाय करता हुआ भ्रमात्मक ज्ञान का उत्पादन करता है तब उसको बौद्ध दार्शनिक प्रतिसन्धान ज्ञान कहते हैं। यथार्थ में यह केवल एक भ्रान्त स्मृति है।

यहाँ **कमलशील** ने अपने मत की पुष्टि के लिए प्राचीन आचार्य की मान्यता का उद्धरण दिया है।[2] आचार्य का वक्तव्य यह है कि दर्शन तथा स्पर्शन इन्द्रियों से भिन्न भिन्न विषयों को ग्रहण करने के बाद तत्सम्बद्ध उभयावगाही एक स्मृत्यात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी को नैयायिकों ने प्रतिसन्धान रूप में मान्यता दी है। यहाँ नैयायिक कहते हैं कि समूहालम्बनात्मक प्रतिसन्धान के विषयीभूत विभिन्नकालिक वस्तु यदि पूर्वानुभूत होता तब उसे स्मृत्यात्मक ज्ञान कहना सम्भव एवं समुचित होता। किन्तु बौद्ध के सिद्धान्त में रूप आदि से भिन्न द्रव्य वस्तु तो मान्य ही नहीं है। रूप आदि का अनुभव

---

१. न्याय सूत्र ३।१।१।

२. **तस्माद्यदेतदाचार्यैरुक्तम् - 'चक्षुः स्पर्शनाभ्यां यथा स्वभिन्नं विषयमुपलभ्यान्य-देव तत्सहचरम् समुदायविषयं स्मार्तभेदज्ञानमुत्पद्यते।**

पंजिका व्याख्या ६० कारिका

करके उसका स्मरण कैसे हो सकता है। किन्तु रूप आदि के अनुभव से घट का स्मरण सर्वथा असम्भव है। अननुभूत वस्तु का स्मरण नहीं होता है। अतएव समूहालम्बन ज्ञान को बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार स्मृतिज्ञान कहना भी उचित नहीं हैं। बौद्ध मत में गुण के प्रत्यक्ष होने पर भी उससे भिन्न द्रव्य वस्तु नहीं माना गया है। अतएव गुण का ही अनुभव होता है और उसी की पश्चात् स्मृति भी होती है। द्रव्यात्मक वस्तु के अभाव के कारण वह अननुभूत है। किन्तु नैयायिक सम्मत प्रतिसन्धान का विषय द्रव्य ही होता है। इसलिए बौद्ध मत में प्रतिसन्धान को स्मरण नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि प्रतिसन्धान का विषय द्रव्य वस्तु पूर्व से अननुभूत है और अनुभूत पदार्थ की ही स्मृति हो सकती है, अननुभूत की नहीं यह सर्वमान्य-सिद्धान्त है।

यहाँ बौद्ध का उत्तर यह है कि रूप आदि से अतिरिक्त घट रूप वस्तु पूर्वानुभूत नहीं है। नैयायिक का यह कहना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। घटादि रूप समूह का व्यपदेश अर्थक्रियाकारी रूप आदि से अभिन्न ही है। विभिन्न इन्द्रियों से भिन्न-भिन्न रूप आदि के ग्रहण करने के बाद घटात्मक एक मिथ्या स्मरण ज्ञान उत्पन्न होता है। उसकी उत्पत्ति में विभिन्न इन्द्रियों से उत्पन्न संस्कार कारण है। बौद्ध मत के अनुसार समूहालम्बन ज्ञान कोड़ी कल्पना ही है। कल्पित वस्तु को फिर से ज्ञान का विषय होना असम्भव नहीं है। अतएव समूहालम्बनात्मक स्मरण को नहीं मानना अनुचित नहीं होगा। यद्यपि इससे न्यायमत में दोष नहीं होता है। क्योंकि रूप तथा रस आदि पूर्वानुभूत वस्तु की समूहालम्बन स्मृति हो सकती है। किन्तु रूपवान घट द्रव्य अननुभूत तथा बौद्ध मान्य नहीं होने से स्मरण का विषय नहीं हो सकता है। कल्पना भी अनुभूत पदार्थ की ही होती है। रूपवान घट अननुभूत होने से कल्पना का विषय भी नहीं हो सकता है। यहाँ उपसंहार में कहना यह है कि प्रतिसन्धान के कल्पनात्मक तथा भ्रमात्मक सिद्ध होने से उस हेतु पर आधारित वस्तु का दो इन्द्रियों से ग्रहण करना रूप साध्य सिद्ध नहीं होता है। इसी से बौद्ध के मतानुसार **अविद्धकर्ण** के ईश्वर साधक अनुमान में द्वीन्द्रियग्राह्यत्व रूप पक्ष के एकदेश का असिद्ध होना प्रमाणित होता है।[१] उल्लिखित युक्तियों द्वारा **शान्तरक्षित** ने **अविद्धकर्ण** के ईश्वर साधक अनुमान में जो दोष दिखाया है वह **धर्मकीर्त्ति** के वक्तव्य का सविस्तर प्रतिध्वनि मात्र है। **धर्मकीर्त्ति** ने ईश्वर के खण्डन में नैयायिक द्वारा प्रदर्शित साधक तर्कों का निरास तथा बाधक तर्कों का प्रदर्शन किया है, जो प्रस्तुत अध्याय के आदि भाग में ही वर्णित है। यहाँ **शान्तरक्षित** का वक्तव्य उपस्थित किया जाता है। तथा उसके मूल में निहित **धर्मकीर्त्ति** की कारिकाएँ पाद

---

१. तत्सामर्थ्यसमुद्भूतकल्पनानुगतात्मकम् ।
प्रतिसन्धानविज्ञानं समुदायं व्यवस्यति।।५९।।
जलानिलादिनेवेदं द्वीन्द्रिय ग्राह्यमस्त्यतः।
आश्रयासिद्धता सिद्धेर्यथाभिहितधर्मिणः ।।६०।। त०स०

टिप्पण में दी जाती है। इससे प्रमाणित होता है कि **धर्मकीर्त्ति** के वक्तव्य का सविस्तर उपपादन के द्वारा ही **शान्तरक्षित** ने भी प्रमुखतः ईश्वर साधक युक्तियों का खण्डन किया है।

शान्तरक्षित कहते हैं कि मानव जिस कार्य को कभी बनते हुए देखता है, जैसे मन्दिर, प्रासाद, गोपुर आदि, उस तरह के प्रसिद्ध कार्य का कर्त्ता निस्सन्देह सिद्ध होता है। किन्तु जिस आकृति की वस्तुओं को कभी किसी ने बनते नहीं देखा है, जैसे तनु भुवन तथा पर्वत आदि, उन वस्तुओं के कर्त्ता रूप में बुद्धिमान का अनुमान करना सङ्गत नहीं माना जा सकता है। इसलिए अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर दृष्ट कार्य से दृष्ट कारण का अनुमान करना युक्ति सङ्गत है। किन्तु बिना कुछ सोच विचार के किसी वस्तु को कार्य मानकर उससे अदृश्य कारण की कल्पना युक्ति सङ्गत नहीं होती है। वह सत्य भी नहीं होती है। अपितु कोड़ी कल्पना रह जाती है। तनु, भुवन आदि का सन्निवेश उस तरह की नहीं है कि उससे दृश्यकर्त्ता का अनुमान हो सके। इस तरह के कार्यों के साथ कर्त्ता के स्वाभाविक सम्बन्ध स्थिर करने के लिए अन्वय के घटने पर भी व्यतिरेक का समन्वय होगा या नहीं, इसका सन्देह रह जाता है। और वह अनुमान के बाधक सन्दिग्धानैकान्तिक को उपस्थित करेगा। अतएव केवल आकृति से पर्वत आदि में सकर्तृकत्व नहीं सिद्ध किया जा सकता है। यदि केवल आकृति से ही व्यतिरेक के अभाव में कार्यत्व के साथ सकर्तृकत्व की व्याप्ति मानी जाए तो कुम्भकार के साथ बल्मीक का भी कदाचित् अन्वय घटता है। तथा मृद्विकार होने से घट का साधर्म्य भी है। अतएव उसे कुम्भकार की रचना माननी होगी।[२] जो सर्वथा लोकानुभव विरुद्ध है। इससे यही सिद्ध होता है कि सन्निवेश विशेष के साथ बुद्धिमान कर्तृत्व की व्याप्ति यदि

---

१. तुलनीय धर्मकीर्त्ति की – ''सिद्धं यादृगधिष्ठात्''
– इत्यादि का० (प्र०वा०१।१३।)

२. सन्निवेशविशिष्टत्वं यादृग्देवकुलादिषु।
कतर्यनुपलब्धेऽपि यद् दृष्टौ बुद्धिमद्गतिः।।६१।।
तादृगेव यदीक्ष्येत तन्वगादिषु धर्मिषु।
युक्तं तत्साधनादस्माद्यथाभीष्टस्य साधनम् ।।६२।।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्कार्यं यस्य निश्चितम्।
निश्चयस्तस्य तद् दृष्टाविति न्यायो व्यवस्थितः।।६३।।
सन्निवेशविशेषस्तु नैवामीषु तथाविधः।
न तु तन्वादिभेदेषु शब्द एव तु केवलः।।६४।।
तादृशः प्रोच्यमानस्तु संदिग्धव्यतिरेकताम् ।
आसादयति बल्मीके कुम्भकारकृतादिषु।६५।।

तुलनीय धर्मकीर्ति की निम्न कारिका की व्याख्या।

अन्यथा कुम्भकारेण मृद्विकारस्य कस्यचित् ।
घटादेः कारणात् सिद्ध्येत् वल्मीकस्यापि तत्कृतिः। प्र०वा०।१।१५

मानते हैं तो वह हेतु असिद्ध है। क्योंकि सन्निवेश का अधिकरण वल्मीक भी हो सकता है। किन्तु उसमें बुद्धिमत्कर्तृकत्व नहीं माना जाता है। इसलिए साध्य के अधिकरण पक्ष में (वल्मीक में) हेतु का अभाव रूप स्वरूपासिद्ध का लक्षण यहाँ समन्वित होता है। और यदि सन्निवेश मात्र के साथ सकर्तृकत्व हेतु की व्याप्ति स्थिर करना चाहते हैं। तो यहाँ व्यभिचार का साधारण भेद होता है। निश्चित साध्य के अधिकरण सपक्ष में तथा साध्याभाव के निश्चित अधिकरण विपक्ष में हेतु की सत्ता साधारण सव्यभिचार का लक्षण है। प्रकृत में बुद्धिमत्कर्तृकत्व साध्य है और सन्निवेश मात्र को हेतु किया गया है। घट आदि सपक्ष में तथा प्रबाल द्वीप आदि विपक्ष में हेतु विद्यमान है। अतएव यहाँ साधारण अनैकान्तिक के उक्त लक्षण का समन्वय होता है।

बौद्ध दार्शनिक की उपर्युक्त युक्ति के खण्डन में नैयायिक सम्प्रदाय कहता है कि सन्निवेश विशिष्टत्व हेतु में स्वरूपासिद्ध तथा अनैकान्तिक दोषों का उद्भावन कार्यसमा नामक जात्युत्तर है। सामान्य धर्म से किसी की सिद्धि के समय में धर्मविशेष के विकल्प के द्वारा उसका खण्डन करना कार्यसम नामक जात्युत्तर है। यथा कृतिजन्यत्वरूप कृतकत्व सामान्य हेतु से शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि के अवसर में यदि कोई कहता है कि क्या यहाँ घट आदि प्रसिद्ध कार्यगत कृतकत्व हेतु है? या शब्दगत कृतकत्व? या उभयगत कृतकत्व? पहला कल्प सम्भव नहीं है। घटगत कृँतकत्व का अस्तित्व शब्द में नहीं रह सकता है। अतएव शब्दात्मक पक्ष में घटगत कृतकत्व रूप हेतु का अभाव विद्यमान है। इसे स्वरूपासिद्ध कहा जाता है। पक्ष में हेतु का अभाव ही उसका स्वरूप है। दूसरा कल्प सम्भव नहीं है। शब्द में अनित्यत्व सिद्धि के लिए यह अनुमानात्मक प्रयास है। अतएव तद्गत कृतकत्व का अस्तित्व ही अभी सन्दिग्ध है। इसलिएं यहाँ सन्दिग्धानैकान्तिक दोष होगा। इन दोनों कल्पों की असिद्धि ही इसके तीसरे कल्प का भी सम्भव नहीं होने देता है। इसी तरह प्रकृत में सन्निवेशविशिष्टत्व हेतु है। उसमें तद्गत सामान्य तथा विशेष को लेकर यथाक्रम असिद्ध तथा व्यभिचार दोष दिखाना जात्युत्तर होता है। वादी को सन्निवेशविशेषात्मक हेतु इष्ट है। उसके विपरीत धर्म को लेकर उसमें दोष दिखाया गया है। अतएव इसके जात्युत्तर होने में लेश मात्र भी सन्देह नहीं है।

बौद्ध दर्शन में हेतु के तीन भेद किए गये हैं–स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि। जिस पदार्थ की उपलब्धि सम्भव है, वह अनुपलब्ध नहीं होता है। क्योंकि उपलब्ध होना उसका स्वभाव है। और वस्तु स्वभाव को छोड़कर क्षण भर के लिये भी टिक नहीं सकता है। अतएव स्वभावात्मक हेतु की उपलब्धि सिद्ध की जाती है। यह वृक्ष है शीशम होने से– इस अनुमान में शीशम वृक्ष रूप में उपलब्ध होता है। यह स्वभाव हेतु का उदाहरण होता है। स्वभाव हेतु ही तादात्म्यलक्षण हेतु शब्द से व्यवहृत होता है। अतएव बौद्ध दर्शन में तादात्म्य का अर्थ स्वभाव होता है, दर्शनान्तर में प्रसिद्ध अभेद नहीं।

जहाँ आग का अनुमान धूम से होता है, उस स्थल में धूम कार्यात्मक हेतु होता है। धूम की उत्पप्ति आग से होती है। अतएव धूम के परिचय में कहा गया है कि जो आग से उत्पन्न होकर आँख को दुःख देता है वह धूम है। कार्यात्मक हेतु ही तदुत्पत्ति लक्षण हेतु शब्द से कहा गया है।[1] इन दोनों हेतुओं से वस्तु का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है। और अनुपलब्धि लक्षण हेतु वस्तु के अभाव का उपपादन करता है। जैसे देवदत्त घर में नहीं है, रहने पर भेंट अवश्य होती, **धर्मकीर्त्ति** ने **न्यायविन्दु** में अनुपलब्धि के ग्यारह प्रकारों का प्रतिपादन किया है–स्वभावानुपलब्धि, कार्यानुपलब्धि तथा व्यापकानुपलब्धि आदि। इन भेदों का विशेष विवरण प्रकृत में अप्रासङ्गिक है। अतएव इस विचार का विराम किया जाता है। प्रकृत में कहना यह है कि नैयायिक ने बौद्ध पक्ष में जात्युत्तर का प्रदर्शन किया है। इस सम्बन्ध में बौद्ध का[2] उत्तर यह है कि शब्द में अनित्यत्व सिद्धि के लिए जो कृतकत्व हेतु प्रतिपादित किया गया है, उस स्थल में स्वभाव लक्षण हेतु की व्याप्ति स्थिर है। क्योंकि कृतक पदार्थ का स्वभाव है अनित्य होना। अतएव उस स्थल में अर्थात् नैयायिक के बुद्धिमत् कर्तृकत्व के अनुमान में व्याप्ति की सिद्धि सम्भव नहीं है। सन्निवेश सामान्य को यदि बुद्धिमत्कर्तृकत्व रूप साध्य के विपरीत को हेतु मानकर अनुमान किया जाए तो उसमें बाधक प्रमाण नहीं मिलते है। इसलिए नैयायिक का हेतु विरुद्ध हेत्वाभास से युक्त है जो व्याप्ति की आशा को भी हटा देता है जो हेतु साध्याभाव का साधक होता है, वह विरुद्ध है। जिसके साथ तदुत्पत्तिलक्षण व्याप्ति स्थिर है। जैसे प्रसिद्ध कर्त्ता कुम्भकार आदि के साथ प्रसिद्ध कार्य घटादि की व्याप्ति, वह प्रकृत में उपादेय ही नहीं है क्योंकि नैयायिक का यह अनुमानात्मक प्रयास समुद्र तथा पर्वत आदि में बुद्धिमत्कर्तृकत्व सिद्ध करने के लिए है। जहाँ पहले पर्वत आदि में कार्यत्व सिद्ध करना ही कठिन है। क्योंकि अवयवसन्निवेशविशिष्टत्व पर्वत आदि में देखा जाता है, किन्तु उस स्थल में बुद्धिमत् कर्तृकत्व का सन्देह है। अतएव संदिग्धानैकान्तिक दोष होता है। और पश्चात् नित्य एवं सर्वज्ञ ईश्वर को उन कार्यों के कर्त्ता रूप में सिद्ध करना है–वह सबके सब असम्भव है।

शान्तरक्षित का कहना है कि नैयायिक यदि कार्यविशेष के साथ बुद्धिमान विशेष की व्याप्ति को छोड़कर सामान्यतः कार्यत्व तथा बुद्धिमत् कर्तृकत्व में व्याप्ति स्थिर

---

१. ननु जात्युत्तरमिदं धर्मभेदविकल्पनात् ।
सामान्यमेव कार्यादि साधनं प्रतिपादितम् ।।६६।।
तुलनीयः-धर्मकीर्ति की १६ कारिका
''साध्येनानुगमात्'' की भूमिका व्याख्या।
२. अतद्रूपपरावृत्तं वस्तुमात्रमनित्यताम् ।
तादात्म्यात् साधयत्येष न न्यायोऽस्तीह साधने।।६७।।

करना चाहते हैं तो तुल्य युक्त्या आग के अनुमान में धवल विशेष रूप धूम हेतु होता है। अब यहाँ भी विशेष को छोड़कर केवल धवलिमा के साथ आग की व्याप्ति होगी। अतएव वर्फ से भी आग का अनुमान सही होगा।[१] धवलिमा जैसे धूम में है उसी तरह वर्फ में भी। इसका फलितार्थ यह हुआ कि कार्यत्व सामान्य के साथ बुद्धिमत् कर्तृकत्व सामान्य की व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है।

सामान्य रूप से साधन धर्म का अभाव विपक्ष में देखकर साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति सिद्ध होने से जहाँ धर्म विशेष को लेकर दोष का उद्धावन किया जाता है उस स्थल में जात्युत्तर होता है।[२] प्रकृत में जिसके साथ जिसको व्याप्ति स्थिर है उस दृष्ट कर्तृक प्रसिद्ध कार्य की सिद्धि में अनुमान का प्रयोजन ही नैयायिक को नहीं है। इसलिए जात्युत्तर की सम्भावना नहीं की जा सकती है।

यदि व्याप्ति की स्थिरता के अभाव में भी सामान्यतः कार्यत्व हेतु से अनुमान किया जाए तो **शान्तरक्षित** यहाँ आपत्ति[३] प्रदर्शित करते हैं कि गो शब्द के बैल, दिशा, वचन तथा किरण आदि विभिन्न अर्थ प्रसिद्ध है। इनमें भी बैल रूप अर्थ में निश्चित रूप से सींग रहने के कारण बैल के साथ यदि गो शब्द का अविनाभाव सम्बन्ध सत्य है तो गो शब्द के साथ सींग का रहना निश्चित है। अब गो शब्द के भिन्न अर्थों में भी सींग का प्रामाणिक अस्तित्व मानना रूप आपत्ति होगी।

नैयायिकों ने ईश्वर को नित्य तथा सर्वज्ञ कहा है। इसके खण्डन में **शान्तरक्षित** की युक्ति यह है कि नित्य[४] तथा सर्वज्ञ ईश्वर के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि किसी भी साधर्म्यमूलक दृष्टान्त में साध्य का अस्तित्व नहीं पाया जाता है। अतएव दृष्टान्त साध्य धर्मविकल है और वह व्याप्ति स्थिर नहीं होने देगा।

---

१. धूमात्मा धवलो दृष्टः पावकाव्यभिचारवान्।
सिताभिधेयतामात्रान्न हिमादपि तद्गतिः।।६८।।
तुलनीय-धर्मकीर्ति की इस कारिका की व्याख्या।
वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य शब्दसाम्यादभेदिनः।
न युक्तानुमितिः पाण्डुद्रव्यादिवद्धुताशने।। प्र०वा० १/१४।
२. सामान्य प्रतिबन्धे तु विशेषाश्रयणी तदा।
चोदना क्रियते तत्र जात्युत्तरमुदाहृतम् ।।६९।।
३. गोशब्दवाच्यतामात्राद्दिगादीनां विषाणिता।
संसिद्ध्येदन्यथा ह्येष न्यायो नाश्रीयते यदि।।७०।।
४. यदि तु प्रतिबन्धोऽस्मिन् प्रमाणेनोपपद्यते।
तदत्र युक्तितः सिद्धे न विवादोऽस्ति कस्यचित् ।।७१।।
किन्तु नित्यैकसर्वज्ञनित्यबुद्धिसमाश्रयः।
साध्यवैकल्यतो व्याप्तेर्न सिद्धिमुपगच्छति।।७२।।

दूसरी बात यह है कि नैयायिक के उक्त अनुमान के हेतु में केवल असिद्ध तथा अनैकान्तिक दोष ही नहीं है। अपितु विरूद्ध हेत्वाभास भी विद्यमान है। विरूद्ध का लक्षण पहले कहा गया है। प्रकृत में नित्य तथा सर्वज्ञ एक कर्त्ता सिद्ध करने का नैयायिकों ने प्रयास किया है। किन्तु इसका सर्वथा विपरीत अल्पज्ञ तथा अनित्य ज्ञान से युक्त बहुत कर्त्ताओं से राजप्रासाद तथा गोपुर आदि का निर्माण देखा गया है। यहाँ नैयायिक के उक्त अनुमान का कार्यत्व हेतु विद्यमान है तथा वह अनेक कर्तृकत्व सिद्ध करता है।[१]

इस अनित्य तथा अल्पज्ञान से युक्त बहु कर्तृकत्व के साथ कार्यत्व की व्याप्ति स्थिर करने के लिए शान्तरक्षित कहते हैं कि कार्य का क्रमशः होना प्रमाणित करता है कि नित्य पदार्थ ईश्वर इसका कर्त्ता नहीं होता है। नित्य ज्ञानवान तथा सर्वज्ञ ईश्वर यदि नित्य कर्त्ता होता तो प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति एक काल में ही हो जाती।[२] नित्य पदार्थ का स्वभाव है सर्वदा विद्यमान रहना और कारण रूप उस ईश्वर की उपस्थिति में कार्य को उत्पन्न होने से कौन रोक सकता है। अतएव अनित्य ज्ञान से युक्त पदार्थ कारण होता है। वह प्रतिक्षण अपना स्वभाव बदलता रहता है। इसी से कार्य में नियतावधिकत्व आता है।

दूसरी बात यह प्रतिपादित हो चुकी है कि नित्य तथा सर्व विषयक ज्ञान से सम्पन्न कर्त्ता सिद्ध नहीं होता है। इसी तरह ज्ञान की नित्यता भी सिद्ध नहीं होती है। क्योंकि विषय क्रमिक है, अतएव विषय सापेक्ष ज्ञान भी क्रमिक होता होगा और उसका क्रमिकत्व ही उसकी अनित्यता का साधक है। ईश्वर का ज्ञान भी क्रमिक होता है, अतएव वह नित्य नहीं हो सकता। ईश्वर के ज्ञान में अनित्यता सिद्ध करने के लिये क्रमिकत्व रूप स्वभावात्मक हेतु का उपादान किया गया है। अतएव सारांश यह हुआ कि ज्ञान की नित्यता प्रमाणित नहीं होती है।

---

१. तथाहि सौधसोपानगोपुराट्टालकादयः।
अनेकानित्यविज्ञानपूर्वकत्वेन निश्चिताः।।७३।।
अतएवायमिष्टस्य विघातकृदपीष्यते।
अनेकानित्यविज्ञानपूर्वकत्वप्रसाधनात्।।७४।।

२. क्रमाक्रमविरोधेन नित्या नो कार्यकारिणः।
विषयाणां क्रमित्वेन तज्ज्ञानेष्वपि च क्रमः ।।७४।।।
तुलनीय-धर्मकीर्ति की कारिका की व्याख्या-
जात्यन्तरे प्रसिद्धस्य शब्दसामान्यदर्शनात्।
न युक्तं साधनं गोत्वाद्वागादीनां विषाणिता। प्र० वा० १/१७।।

अपि च, दृष्टान्त के दो प्रकार होते हैं– साधर्म्यमूलक तथा वैधर्म्यमूलक। साध्य के समान धर्म को लेकर जहाँ साध्य धर्म की निश्चित विद्यमानता रहती है वह साधर्म्यमूलक दृष्टान्त होता है। जैसे वस्तु की अनित्यता सिद्ध करने के लिए उत्पत्तिमत्व हेतु होता है। इसके दृष्टान्त में कहा जाता है कि उत्पत्तिमान पदार्थ अनित्य अवश्य होता है। जैसे घट उत्पत्तिमान है तथा अनित्य होता है।

साध्य के विपरीत धर्म को लेकर जहाँ साध्य धर्म का अभाव प्रतिपादित किया जाता है वह वैधर्म्यमूलक दृष्टान्त है। जैसे जीवित शरीर निरात्मक नहीं होता है प्राण रहने से। जिसमें प्राण नहीं रहता है वह जीवित नहीं होता है। जैसे घट में प्राण नहीं है और वह जीवित भी नहीं है।

प्रकृत में अविद्धकर्ण ने ईश्वर के अनुमान में कहा था कि द्वीन्द्रियग्राह्य तथा अग्राह्य वस्तु समूह बुद्धिमान कर्त्ता से सम्पादित होता है, स्वारम्भक अवयवसन्निवेश विशेष हेतु के रहने से। इसमें वैधर्म्य मूलक दृष्टान्त अणुसंहति को कहा गया है। अणु संहति में उक्त हेतु नहीं रहता है। अतएव साध्य भी नहीं रहता है। इस वैधर्म्यमूलक दृष्टान्त को काटने के लिए **शान्तरक्षित** का कहना है कि अवयवी के स्वतन्त्र अस्तित्व के नहीं सिद्ध होने से कुम्भकार भी अणु संहति का निर्माण करता है। अतएव अणुसंहति रूप वैधर्म्य मूलक दृष्टान्त में बुद्धिमत्कर्तृकत्व रूप साध्य धर्म की विद्यमानता रूप आपत्ति होती है और साधर्म्यमूलक दृष्टान्त में ऊर्ध्वदर्शित साध्यधर्मविकलता दोष होता है। अतएव ईश्वर को सिद्ध करना सर्वथा असम्भव है।[१]

यदि केवल बुद्धिमत् कर्तृकत्व को साध्य मानकर हेतु से अनुमान किया जाता है तब कहना यह है कि बौद्ध दर्शन की मान्यता भी इससे असहमत नहीं है। क्योंकि बौद्ध दर्शन भी कहता है कि साधारण तथा असाधारण शुभ एवं अशुभ कर्म बुरा या अच्छा फल देता है और उस कर्म का कर्त्ता अस्मदादि मानव है। अतएव नैयायिक के अनुमान में सिद्ध साधनता दोष होता है।[२]

---

१. अणुसंहतिमात्रं च घटाद्यस्माभिरिष्यते।
तत्कारक कुलालादिरणूनामेव कारकः।। त०स०७८।।
न व्यावृत्तस्ततो धर्मः साध्यत्वेनाभिवाञ्छितः।
अणूदाहरणादस्माद्वैधर्म्येण प्रकाशितात् ।। त०स०७९।।
२. बुद्धिमत्पूर्वकत्वं च सामान्येन यदीष्यते।
तत्र नैव विवादो नो वैश्वरूपं हि कर्मजम् ।। त०स०८०।।
तुलनीय-धर्मकीर्त्तिकारिका
स्थित्वाप्रवृत्तिसंस्थानविशेषार्थक्रियादिषु।
इष्टसिद्धिरसिद्धिर्वा दृष्टान्ते संशयोऽथवा।। प्र० वा० १।१२।।

अनुच्छेद -२ (ख)

ईश्वर की सिद्धि में आचार्य प्रशस्तमति की युक्तियाँ तथा उनका खण्डन

प्रशस्तमति[१] की ईश्वरवाद सम्बन्धी मान्यता यहाँ **तत्त्वसंग्रह** एवं उसकी **पञ्जिका** व्याख्या से प्रस्तुत की जाती है।[२] अनादिकाल से देखा जाता है कि इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति का व्यवहार उपदेश से चलता है। बालक माँ के उपदेश से पिता को पिता कहकर पुकारता है, भाई को भाई कहता है तथा बहन को बहन कहता है। रोगी वैद्य के उपदेशानुसार चलकर स्वास्थ्यलाभ करता है, विद्यार्थी गुरु से पढ़कर विद्वान् बनता है तथा पतित व्यक्ति सन्त महात्माओं का उपदेश पाकर सन्मार्ग पर चलने की क्षमता पाता है। अतएव सिद्ध होता है कि उपदेश व्यवहार का साधक है। सृष्टि के आदि से ही प्रत्येक व्यक्ति को उपदेश मिलने लगता है कि इस पद से अमुक अर्थ का ग्रहण होता है। अमुक पद से अमुक अर्थ का ग्रहण होता है इत्यादि। किन्तु प्रलयकाल में हमलोगों का यह ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। केवल अदृष्ट. नित्य पदार्थ, आत्मा, मन, आकाश, काल, दिक् तथा परमाणु आदि व्यष्टि रूप में रहते हैं। प्रलय के बाद सृष्टि के प्रारम्भ में जब तक किसी उपदेशक का जन्म नहीं हुआ है तब तक किसके उपदेश से व्यवहार का निर्वाह होगा? इसका समाधान करते हुए **प्रशस्तमति** कहते हैं कि प्रलय काल में भी ईश्वर का ज्ञान विद्यमान रहता है। वह नित्य है, अतएव उसका लोप नहीं होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर हमलोगों को विषयों का उपदेश करता है।[२] **सम्मति टीका** में अक्षरशः इस विषय का उपपादन किया गया है।

ईश्वर सर्वज्ञ है क्योंकि वह सांसारिक प्रत्येक कार्य का कारण है। देखा गया है कि कर्त्ता कार्य के उपादान, उपकरण, प्रयोजन तथा सम्प्रदान का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान रखता है। जैसे घट रूप कार्य का कर्त्ता कुम्भकार उसके उपादान मृत्पिण्ड को, उपकरण

---

१. प्रशस्तमति का परिचय प्रस्तुत प्रबन्ध के पृ०२८ में द्रष्टव्य है।

२. सर्गादौ व्यवहारश्च पुंसामन्योपदेशजः।
नित्यत्वात् प्रवृद्धानां कुमारव्यवहारवत् ।।
प्रशस्तमतिस्त्वाह-सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारोऽन्योपदेशपूर्वकः।

चक्र तथा चीवर आदि को, प्रयोजन जलाहरण आदि को तथा सम्पादन पारिवारिक व्यक्ति(गृहस्थ) को जानता रहता है। उसी तरह ईश्वर इस भुवन का कर्त्ता है। अतएव वह इसके उपादान परमाणु आदि का उपकरण धर्माधर्म आदि, प्रयोजन उपभोग आदि तथा सम्प्रदान पुरुषों को जानता है। इसलिए उसकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है।[1] **सम्मति टीका** में अक्षरशः **प्रशस्तमति** की यह युक्ति भी उठायी गयी है। तत्त्वसंग्रह के पुरुषपरीक्षा प्रकरण में भी **प्रशस्तमति** की ईश्वर प्रतिपादक मान्यता की चर्चा की गयी है। **प्रशस्तमति** का कहना है कि ईश्वर मानव पर दया करता है। इसी हेतु वह संसार की रचना में प्रवृत्त होता है। संसार से सर्वथा निर्लिप्त व्यक्ति ऋषि मुनि प्रभृति जैसे अपने हित तथा अहित की क्रमशः प्राप्ति एवं परिहार से बिरत होकर दूसरों के हित का ही उपदेश करता है, इसी तरह ईश्वर भी अपने ऐश्वर्य तथा विभूति को संसार में प्रचार तथा प्रसार करके प्राणियों पर दया करने के लिए संसार की रचना में प्रवृत्त होता है।

अथवा जैसे काल वसन्त आदि की क्रमिक अभिव्यक्ति से चराचर में विलक्षण विकार पैदा कर देता है। अतएव वसन्त में फूल का खिलना, ग्रीष्म में फल का पकना, वर्षा में खेती का होना, शरद में शीत का संचार, हेमन्त में रात की प्रवृद्धि तथा शिशिर में अधिक ठण्डा लगना स्वाभाविक है। इसी तरह ईश्वर की आविर्भाव, रक्षा तथा संहार करने वाली शक्ति क्रमशः अभिव्यक्त होकर प्राणियों की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय का कारण होती है।[2] **सम्पति टीका** में इसका भी अक्षरशः उपपादन मिलता है।

उत्तरकालं प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्त्वात् । अप्रद्धिवाग्वयवहाराणां कुमाराणां गवादिषु प्रत्यर्थनियतो वाग्यवहारो यथा मात्राद्युपदेशपूर्वक इति। द्रष्टव्य त०स०५१ कारिका की पंजिका व्याख्या तथा सम्मतिटीका पृ० १०१।

१. सर्वकर्तृत्वसिद्धौ च सर्वज्ञत्वमयत्नतः।
सिद्धमस्य यतः कर्त्ता कार्यरूपादिवेदकः।। त०स०का०५४।

तथा चाहुः प्रशस्तमतिप्रभृतयः-सकलभुवनहेतुत्वादेवास्य सर्वज्ञत्वँ सिद्धम्, कर्तुः कार्योपादानोपकरणप्रयोजनसंप्रदानपरिज्ञानात् । इदृग्हि यो यस्य कर्त्ता भवति स तस्योपादानादानि जानीते। यथा कुलालः कुम्भादीनां मृत्पिण्डमुपकरणानि च चक्रादीनि प्रयोजनमुदकाहरणादि कुटुम्बिनं सम्प्रदानं च जानीते इत्येतत् प्रसिद्धम्। तथेश्वरः सकलभुवनानां कर्त्ता स तदुपादानादीनि परमाण्वादिलक्षणानि तदुपकरणानि धर्माधर्मदिक्कालादीनि व्यावहारोपकरणानि सामान्यविशेष-समवायलक्षणानि प्रयोजनमुपभोगं संप्रदानसंज्ञकांश्च पुरुषान् जानीते इति। अतः सिद्धमस्य सर्वज्ञत्वमिति।

द्रष्टव्य पंजिका व्याख्या का०५४। सम्मति टीका पृ० १०१।

२. तेन यदाह प्रशस्तमतिः-

बौद्ध दार्शनिक पूर्वपक्ष में कहते हैं कि अचेतन उपादानों के अधिष्ठापक रूप में किसी बुद्धिमान कर्त्ता के सिद्ध होने पर भी उस कर्त्ता का एकत्व सिद्ध नहीं होता है। एक ही चेतन सभी वस्तुओं का कर्त्ता है-इसमें प्रमाण नहीं मिलता है। लोक में विभिन्न कार्यो के लिए भिन्न भिन्न कर्त्ताओं को देखा गया है। यथा एक भी राजमहल अनेक कर्त्ताओं की रचना होता है। इसलिए सांसारिक सभी वस्तुओं के स्वरूप लाभ में एक कर्त्ता सिद्ध नहीं होता है और इसकी असिद्धि उसकी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होने देती है।

इसके उत्तर में **प्रशस्तमति** का वक्तव्य यह है कि **ब्रह्मा** से लेकर **पिशाच तक** प्रत्येक योनि का प्राणी परस्पर सापेक्ष, सावधिक तथा अतिशयशाली है। अतएव इन सबों का एक ही अधिष्ठाता होगा। लोक में भी देखा गया है कि जितने वस्तु परस्पर अतिशयशाली है उन सबों का एक ही अधिष्ठाता में पर्यवसान है। घर, गाँव, नगर तथा देश के अधिपति एक अधिष्ठाता चक्रवर्ती राजा के शासन से सम्बद्ध रहते हैं। क्योंकि परस्पर अतिशयशाली है। इसी तरह सर्प, राक्षस तथा यक्ष आदि परस्पर अतिशयशाली हैं। अतएव इन सबों का एक ईश्वर के शासन में पर्यवसान हैं।[१] **आचार्य प्रशस्तमति** के अनुसार उक्त तर्क के आधार पर सांसारिक सभी वस्तुओं का कर्त्ता एक ईश्वर सिद्ध होता है। तथा उसका एकत्व ही सर्वज्ञता भी सिद्ध कर देता है।

आचार्य **प्रशस्तमति** ईश्वर की सर्वज्ञता में दूसरी युक्ति उपस्थित करते हैं कि सात भुवन एक बुद्धि की रचना है। क्योंकि एक ही वस्तु में सबों का अन्तर्भाव है। एक मकान में जैसे अनेक कक्ष होते हैं, इसी तरह एक ही भुवन में सातो भुवन अन्तर्भूत है।

परानुग्रहार्थमीश्वरः प्रवर्तते। यथा कृतार्थः कश्चिन्मुरात्महिताहितप्राप्ति-परिहारार्थासंभवेऽपि परहितार्थमुपदेशं करोति। तथेश्वरोऽप्यात्मीयामैश्वर्यं विभूवि विख्याप्य प्राणिनोऽनुग्रहीष्यन् प्रवर्तते इति।

अथवा शक्तिस्वाभाव्यात्। यथा कालस्य वसन्तादीनाम् पर्यायेणाभिव्यक्तौ स्थावरजंगमविकारोत्पत्तिः स्वभावतः। तथेश्वरस्यापि आविर्भावानुग्रहसंहारशक्तीनां पर्यायेणाभिव्यक्तौ प्राणिनामुत्पत्तिस्थिसतिप्रलयहेतुकत्वमिति।

-द्रष्टव्य सम्मति टीका पृ० ११६।।

१. अत्र प्रशस्तमतिरेककर्तृकत्वसिद्धौ प्रमाणयति-

एकाधिष्ठानाः ब्रह्मादयः पिशाचान्ताः परस्परातिशयवृत्तित्वन् । इह येषां परस्परातिशयवृतित्त्वम् तेषामेकायत्तता दृष्टा। यथेह लोके गृहग्रामनगरदेशाधिपतीनामेकस्मिन् सार्वभौमे नरपतौ। तथा च भुजगरक्षोयक्षप्रभृतीनां परस्परातिशयवृत्तित्वम् । तेन मन्यामहे तेषामप्येकस्मिन्नीश्वरे पारतन्त्र्यमिति। त०स० का ९२ की पंजिका व्याख्या। तुलनीय सम्मति टीका पृ० १३२।

इसलिए उन भुवनों को एक बुद्धि की रचना माननी होगी। वह जिसकी बुद्धि की रचना है वह सभी भुवनों का एक सूत्रधार ईश्वर है।[१]

अब उपर्युक्त युक्तियों का सप्रमाण खण्डन बौद्ध दर्शन की मान्यता के अनुसार **शान्तरक्षित** के मतों की व्याख्या करते हुए **कमलशील** उपस्थित करते हैं–

शान्तरक्षित का कहना है कि बौद्ध दर्शन की यह मान्यता नहीं है कि प्रलयकाल में शरीर से रहित एवं ज्ञान तथा स्मृति आदि जिनके लुप्त हो गये हों ऐसे व्यक्ति रहते हैं। किन्तु अभास्वर तेजः पुंज से ज्ञानी तथा देवयोनि विशेष उत्पन्न होते हैं। जो व्यक्ति कृतकर्म के अनुसार नरक भोग के अनुकूल कर्मों को करते हैं, वे इस विवर्त काल में उस अभास्वर तेजः पुंज से छूटकर ज्ञान तथा स्मृति से परिपूर्ण होकर रहते हैं। इसलिए 'प्रशस्तमति के अनुमान में' उत्तरकालं प्रबुद्धानाम्–हेतु का यह विशेषण सिद्ध नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि उपर्युक्त अनुमान में विपक्ष में हेतु का अभाव है या नहीं इसका सन्देह है। अतएव हेतु संदिग्धानैकान्तिक हेत्वाभास से मुक्त नहीं है। तीसरी बात यह है कि केवल किसी दूसरे का उपदेश सांसारिक व्यवहार का साधक है–यही यदि **प्रशस्तमति** का अभीष्ट है तब तो अनुमान में सिद्धसाध्यता दोष लगता है। क्योंकि यह बौद्धों को भी मान्य है। इसमें विवाद ही नहीं है। अनादिकाल से ही व्यवहार किसी के उपदेश पर चलता आया है। और यदि ईश्वर के उपदेश को सांसारिक व्यवहार का साधक मानना उनका लक्ष्य है तो इसमें अनैकान्तिक दोष लगता है। क्योंकि **प्रशस्तमति** का संमत प्रलय बौद्धों को मान्य नहीं है। अतएव वे सृष्टि परम्परा को अनादि मानते हैं। अब, उक्त व्यवहार ईश्वर के बिना किसी भी व्यक्ति के उपदेश पर चल सकता है तब कुमार व्यवहार रूप दृष्टान्त में ईश्वर का उपदेश रूप साध्य का अभाव प्रमाणित हो जाता है। इसे साध्यविकल दृष्टान्त कहते हैं जो अनैकान्तिक होने से अनुमान का बाधक है। देखा गया है कि उपदेश का प्रधान उपकरण मुख है। मुख से उपदेश किया जाता है। किन्तु ईश्वर शरीर रहित है। अतएव शरीर का अंग विशेष मुख भी उसे नहीं है। तब वह उपदेश किससे करेगा? इसलिए ईश्वर के उपदेश से सांसारिक व्यवहार का चलना सम्भव नहीं है। **प्रशस्तमति** के इस अनुमान में–

---

१. सप्तभुवनान्येकबुद्धिनिर्मितानि, एकवस्त्वन्तर्गतत्वात् ।

एकावसथान्तर्गतापवरकवत् । यथैकावसथान्तर्गतानामपवरकाणां सूत्रधारैक-बुद्धिनिर्मित्वम् दृष्टम् तथैकस्मिन्नेव मुवनेऽन्तर्गतानि सप्त भुवनानि। तस्मात्तेषामप्येकबुद्धिनिर्मितत्वं निश्चीयते। यद्बुद्धिनिर्मितानि चैतानि स भगवान् महेश्वरः सकलभुवनैकसूत्रधार इति। त०स० का०९२ की पंजिका व्याख्या।

तुलनीय- सम्मति टीका १३२ पृ०। आचार्य प्रशस्तमति की उक्त दोनों ही युक्तियाँ यहाँ अक्षरशः उद्धृत है।

'सर्गादौ पुंसां व्यवहारः ईश्वरोपदेशजन्यः उत्तरकालं प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्वात्'– हेतु विरुद्ध नामक हेत्वाभास से मुक्त नहीं है। प्रकृत में उत्तरकालं– हेतु है। इससे सृष्टि की परम्परा के क्रम काल में जो उपदेश व्यवहार का साधक होता है उसी की सिद्धि होती है। ईश्वरकृत उपदेश जब उपर्युक्त तर्क से सम्भव ही नहीं है तब उसकी सिद्धि की तो बात ही दूर रही। अएतव उक्त अनुमान का साध्य है ईश्वरकृत उपदेशजन्यत्व, उसका विपरीत हुआ अस्मदादिकृतउपदेशजन्यत्व, इसीका साधक उपर्युक्त हेतु होता है। अतएव विरुद्ध नामक हेत्वाभास का लक्षण समन्वय होता है। यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि उक्त अनुमान से ईश्वर की सिद्धि सम्भव नहीं है।[१]

धर्म तथा अधर्म रूप अदृष्ट शरीर की प्राप्ति कराता है। ईश्वर में अदृष्ट नहीं रहता है, अतएव वह शरीर परिग्रहण नहीं करते । यदि ईश्वर को उपदेशक माना जाए तो उसे अशरीरी एवं मुख से रहित आदि नहीं कहा जा सकता है। अशरीरी तथा मुखहीन व्यक्ति से कदापि उपदेश सम्भव नहीं है।[२]

यहाँ आचार्य **प्रशस्तमति** की ईश्वर की सर्वज्ञता साधक युक्तियों का बौद्ध मान्यता के अनुसार सप्रमाण खण्डन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकरण में **शान्तरक्षित** के वक्तव्य की विशद व्याख्या करते हुए **कमलशील** कहते हैं कि यदि ईश्वर शब्द से अधिष्ठाता की सिद्धि **प्रशस्तमति** का अभिप्रेत है। तो उक्त सर्वज्ञता साधक अनुमान का परस्परातिशयवृत्तित्व रूप हेतु अनैकान्तिक नामक हेत्वाभास से युक्त है। अतएव असद्धेतु है और असद्धेतु से किसी भी वस्तु की सिद्धि नहीं होती है। फलतः ईश्वर की सर्वज्ञता भी सिद्ध नहीं होती है। अभिप्राय यह है कि **प्रशस्तमति** के अनुमान का विपरीत ही यदि उस हेतु से सिद्ध करना चाहे तो उसका बाधक प्रमाण नहीं मिलता है। अब, **प्रशस्तमति** के अनुमान में उपपादित हेतु विपक्ष से व्यावृत है या नहीं–इसका सन्देह विद्यमान है। अतएव यह प्रमाणित होता है कि वह हेतु संदिग्घ विपक्ष व्यावृत्त होकर अनैकान्तिक होता है।

दूसरी बात यह है कि उक्त अनुमान में व्याप्ति ही नहीं बनती है। लोक में इसका विपरीत ही देखा जाता है। एक व्यक्ति से घट तथा पट आदि प्रत्येक वस्तु का निर्माण होता हुआ नहीं देखा जाता है। जुलाहा यदि वस्त्र बनाता है तो कुम्भकार घट की रचना करता है। और राजप्रासाद आदि तो बहुकर्तृक ही होते हैं। अतएव किसी भी दृष्टान्त में साध्य का अस्तित्व नहीं रहता है और साध्यविकल दृष्टान्त व्याप्ति का बाधक है।

---

१. प्रलये लुप्तविज्ञानस्मृतयः पुरुषा न नः।
अभास्वरादिसम्भूतेस्तत एवेह सम्भवात्।।
द्रष्टव्य त०स० का० ८४ तथा इसी की पंजिका व्याख्या।

२. विमुखस्योपदेष्टृत्वं श्रद्धागम्यं परं यदि।
वैमुखं वितनुत्वेन धर्माधर्मविवेकतः।। त०स० का ८५।

अतएव **प्रशस्तमति** के उक्त अनुमान में व्याप्ति स्थिर नहीं होती है और उसके अभाव में हेतु दुर्बल हो जाता है। अतएव साध्य की सिद्धि नहीं कर पाता।

इससे फलित होता है कि **प्रशस्तमति** की सर्वज्ञता साधक युक्ति बालू की भित्तिकी तरह कच्ची थी, इसलिए टिक नहीं सकी। यदि च, **प्रशस्तमति** को ईश्वर रूप अधिष्ठाता अपेक्षित नहीं है, अपि तु केवल चेतन अधिष्ठाता अपेक्षित है, तब बौद्ध सिद्धान्त से उनका विरोध ही नहीं है। बौद्ध दर्शन भी इसका उपपादन ही करता है। सर्वश्रेष्ठ भगवान् बुद्ध ने ही करुणा से वशीभूत होकर सकल संसार का प्रथमोपदेशक हुए थे। अतएव हेतु में सिद्ध साध्यता नामक दोष स्थित है। सिद्ध वस्तु को सिद्ध करना निष्फल जानकर उसमें किसी भी व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं होती है।[१]

आचार्य **प्रशस्तमति** की सर्वज्ञता की दूसरी युक्ति भी संगत नहीं प्रतीत होती है। क्योंकि बौद्ध की मान्यता यह नहीं कहती है कि एक ही भुवन अथवा एक ही शय्या होती है। अपितु उसकी विविधता का उपपादन करती है। **प्रशस्तमति** के उक्त अनुमान का हेतु- **एक वस्त्वन्तर्गतत्व** सिद्ध ही नहीं होता है। जो वस्तु ही प्रसिद्ध नहीं है उससे किसी को सिद्ध करना असम्भव है। व्यवहार सौकर्य के लिए विभिन्न भुवनों को एक संज्ञा दी जाती है। इस अनुमान के दृष्टान्त में साधन विद्यमान नहीं है और साधन से रहित दृष्टान्तमूलक अनुमान से कुछ भी सिद्ध नहीं होता है। अतएव ईश्वर की सर्वज्ञता तथा एकत्व का सिद्ध होना असम्भव है।

दूसरी बात यह है कि राजप्रासाद के प्रकोष्ठों को अनेक कर्त्ताओं से निर्मित होता हुआ देखा गया है। अतएव हेतु अनैकान्तिक दोष से ग्रस्त है। (जो हेतु साध्यधर्म के अधिकरण-सपक्ष में रहता है तथा साध्य धर्म से शून्य के अधिकरण -विपक्ष में रहता है, वह अनैकान्तिक का एक प्रकार साधारण कहलाता है) प्रकृत में एक वस्त्वन्तर्गतत्व हेतु है; जो एक बुद्धि निर्मितत्व के आश्रय घटादि में (सपक्ष में) रहता है तथा

---

१. कर्तृत्वप्रतिषेधाच्च सर्वज्ञत्वं निराकृतम् ।
बोद्धव्यं तद्बलेनैव सर्वज्ञत्वोपपादनात् ।।९१।।
यथोक्तदोषदुष्टानि मा भुवन् साधनानि वा।
तथापि कर्तुरेकत्त्वं व्यभिचारोपदर्शनात् ।।९२।।
एककर्तुरसिद्धौ च सर्वज्ञत्वं किमाश्रयम् ।।९३।।

तत्र यद्ये त् ईश्वराख्येनाधिष्ठिता इत्ययमर्थं साधमितुमिष्टस्तदानैकान्तिकता विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात्। प्रतिबन्धासिद्धेः। दृष्टान्तस्य च साध्यविकलता। अथाधिष्ठायकमात्रेण साधिष्ठितमिति साध्यते। तदा सिद्धसाध्यता। यत इष्यते एवास्माभिर्भगवता संबुद्धेन चूड़ामणिना सर्वमेव जगत् कारुण्यवशादधिष्ठितम् । त०स० का ९२ की पंजिका व्याख्या।

राजप्रासाद आदि अनेक बुद्धिनिर्मितत्व के आश्रय विपक्ष में भी रहता है। अतएव उपर्युक्त साधारण का लक्षण समन्वित होता है।[१]

यहाँ उपसंहार में इतना ही कहना है कि बौद्ध मान्यता के अनुसार आचार्य **प्रशस्तमति** के सर्वज्ञता साधक हेतुओं में विविध दोषों का समावेश है। अतएव उस हेतु से ईश्वर तथा सर्वज्ञता का साधन सर्वथा असम्भव है। आचार्य **प्रशस्तमति** की युक्तियाँ बौद्ध मान्यता के अनुसार प्रमाणपूर्वक खण्डित हो जाती है।

○

---

१. तदत्र हेतुरसिद्धः। नैकं भुवनमावसथादि वास्ति। व्यवहारलाघवार्थम् बहुष्वियं संज्ञा कृता। अतएव दृष्टन्तोऽपि साधनविकलः। एकसौधान्तर्गतानामपवरकादीनामनेकसूत्रधारघटितत्वदर्शनाच्चानैकान्तिको हेतुः। त०स०का० ९२ पंजिका व्याख्या।

अनुच्छेद -२ (ग)

न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर की ईश्वरसाधक युक्तियों का शान्तरक्षित द्वारा खण्डन

शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह के द्वितीय तथा षष्ठ अध्यायों में ईश्वरवाद की चर्चा की है। इसमें परिचित ग्रन्थकार वार्त्तिककार **उद्योतकर** की ईश्वर साधक युक्तियाँ पूर्वपक्ष रूप में खण्डन के लिये उठायी गयी है। इसका सविस्तर विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

उद्योतकर ने ईश्वर की सिद्धि में कहा है कि महाभूत बुद्धिमान कर्त्ता से अधिष्ठित होने पर सुख तथा दुःख आदि का कारण होता है, अचेतन होने से, कार्य होने से, विनाशशील होने से तथा रूपशाली होने से।

शान्तरक्षित ने इसका खण्डन इस तरह से किया है। **अविद्धकर्ण** के ईश्वर साधक अनुमान में जो दोष दिखाए गए हैं, स्वरूपासिद्ध व्याप्ति के नहीं सिद्ध होने से सव्यभिचार, उसके सिद्ध होने पर भी विरुद्ध दृष्टान्त में साध्यविकलता तथा सिद्धसाधन, वे सब के सब इन हेतुओं में भी विद्यमान है। इन दोषों का स्वरूप तथा प्रकृत में समन्वय का प्रकार उक्त प्रकरण में स्पष्टतः दिखाया जा चुका है। अतएव यहाँ दुहराया नहीं जाता है।[१]

उद्योतकर ने ईश्वर की सिद्धि में दूसरी युक्ति यह दी है कि संसार का हेतु परमाणु तथा अदृष्ट प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में किसी बुद्धिमान् की अपेक्षा करता है, क्योंकि स्वयं स्थित रहकर प्रवृत्त होता है। इसके विरोध में **शान्तिरक्षित** कहते हैं कि बौद्ध की मान्यता है कि पदार्थ क्षणभंगुर होता है। अतएव अणु समूह रूप संसार का कारण भी क्षणभंगुर होगा। अब स्थित रहकर प्रवृत्त होना रूप हेतु सिद्ध ही नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक कारण वस्तु की उत्पत्ति में किसी चेतन की अपेक्षा करता है। यह मानने से ईश्वर को भी किसी की अपेक्षा होगी तब उसका ईश्वरत्व नहीं रह सकता है। अतएव परस्पर विरोध प्रत्यक्ष ही है। यदि ईश्वर भी किसी ईश्वरान्तर की अपेक्षा करके वस्तु के उत्पादन में लगे तो अनवस्था हो जाएगी।

---

१. एतदेव यथायोग्यमविशिष्टेषु हेतुषु।
योज्यं दूषणमन्यच्च किंचिन्मात्रं प्रकाश्यते।। त०स०का० ८२।

यदि कहा जाए कि अचेतन कारण चेतन की अपेक्षा से वस्तु का उत्पादन करता है। ईश्वर अचेतन नहीं है, अतएव उक्त आपत्ति का यहाँ प्रश्रय नहीं है। फिर भी बौद्ध की मान्यता है कि ऐसी स्थिति में भी विपक्ष में हेतु का अभाव है या नहीं-इसका सन्देह है, जो संदिग्धविपक्षव्यावृतिकत्वरूप अनैकान्तिक का एक प्रकार है।[१]

शान्तरक्षित ने **उद्योतकर** द्वारा प्रदर्शित ईश्वर साधक तर्कों का निराकरण करके उसकी व्याप्ति के विरोधी अनुमान भी प्रदर्शित किया है। यहाँ उन्हीं अनुमानों को उपस्थित किया जाता है। इन अनुमानों को **शान्तरक्षित** के अभिप्रायों के व्याख्याकार **कमलशील** ने ईश्वर की सिद्धि में बाधक प्रमाण कहा है।यह नियम सा है कि जो उत्पन्न नही होता है वह किसी कार्य का कारण नहीं होता। जैसे आकाश कमल उत्पन्न नहीं होता है। अतएव किसी का कारण भी नहीं होता है। अब प्रकृत में कहना यह है कि ईश्वर के सम्बन्ध में भी यही बात है । ईश्वरवादियों को ईश्वर की उत्पत्ति मान्य नहीं है। इसलिए अनुत्पन्न पदार्थ होने से उक्त नियम के अनुसार वह कारण नहीं हो सकता है। अथवा जिस कार्य का कारण विद्यमान रहता है वह अवश्य उत्पन्न होता है। जैसे चरम अवस्था प्राप्त क्षेत्र स्थित बीज सहकारिओं की उपस्थिति में अंकुर का जन्म देता है। ईश्वर नित्य पदार्थ है, इसका अस्तित्व सर्वत्र सर्वदा रहता ही है। अब, सांसारिक प्रत्येक वस्तु एक देश तथा एक काल में उत्पन्न होने लगेगा। क्योंकि एक काल तथा एक देश में ईश्वरात्मक कारण विद्यमान है।

ईश्वरवादी नैयायिक यदि इसका प्रतिविधान करें कि केवल ईश्वर ही कारण नहीं है है, अपि तु धर्म तथा अधर्म आदि सहकारियों की अपेक्षा से वह संसार का विधान करता है। एक देश तथा एक काल में प्रत्येक कार्य के सहकारी कारण के उपस्थित नहीं रहने से ऊर्ध्व दर्शित दोष का प्रश्रय यहाँ नहीं है, तो इसका उत्तर यह है कि संसार के निर्माण में सहकारी यदि ईश्वर का कुछ उपकारक होता तो उसकी अवश्य सहकारिता मानी जाती । किन्तु ईश्वर को दूसरों की अपेक्षा नहीं होती है। सहकारिओं से ईश्वर को कुछ पाना नहीं है। अतएव ईश्वर अनुपकारी सहकारिओं की अपेक्षा क्यों करे।

अपि च, सहकारी की उत्पत्ति भी ईश्वराधीन है। अतएव संसार की रचना में उसकी अपेक्षा यदि नितान्त आवश्यक हो तो पुनः सर्वदा सर्वत्र कार्यों का यौगपद्य रूप आपत्ति से उद्धार सम्भव नहीं है।

---

१. **स्थित्वा प्रवृत्तिरणवादेर्न सिद्धा क्षणभङ्गतः।**
व्यभिचारश्च तेनैव तस्यापि क्रमवृत्तिता।। त०सं० का ८३।

इस सम्बन्ध में **उद्योतकर** कहते हैं कि यद्यपि नित्य ईश्वर सांसारिक वस्तुओं का कारण होता है। तथापि उक्त आपत्ति से उद्धार सम्भव है। ईश्वर बुद्धि से कार्यों का उत्पादन करता है और सभी कार्यों को करने की बुद्धि उसे एक समय में नहीं होगी। यदि ईश्वर बिना बुद्धि का संसार का निर्माण करता, तब इस आपत्ति की सम्भावना रहती। किन्तु वह बुद्धिपूर्वक कार्यों का उत्पादन करता है। बुद्धि को संलग्न करने में उसकी इच्छा अपेक्षित है। ईश्वर स्वतन्त्र है। अतएव उसकी प्रवृत्ति भी स्वेच्छा से होगी। तस्मात् उक्त दोष कार्यों का यौगपद्य सम्भव नहीं है।

इसके उत्तर में **कमलशील** कहते हैं कि कार्य का होना तथा नहीं होना कारण की इच्छा की अपेक्षा नहीं करता है। अपि तु कार्य की व्याप्ति कारण[१] के साथ है, उसकी इच्छा के साथ नहीं। अतएव कार्य अपनी उत्पत्ति में केवल अपने कारण की सत्ता चाहती है। कारण गत इच्छा का अस्तित्व नहीं। कारण की इच्छा रहने पर भी यदि कारण स्वयं असमर्थ है तो कार्य का उत्पादन नहीं होता है। तथा कारण यदि उपस्थित है तो कार्य उत्पन्न होता ही है। इसी तरह कार्य की उत्पत्ति के समय में जैसे ईश्वर रहता है ठीक उसी रूप में यदि वह विद्यमान रहेगा तो विभिन्न सजातीय एवं विजातीय कार्यो का उत्पादन एक काल में क्यों नहीं होगा? कहने का अभिप्राय यह है कि ऊर्ध्वदर्शित आपत्ति को छुड़ाने के लिए यद्यपि **उद्योतकर** ने बहुत प्रयास किया है। किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली, उक्त आपत्ति विद्यमान ही रही। पुनश्च बुद्धि के अभाव में किसी की इच्छा का अस्तित्व नहीं रहता है और बुद्धि यदि है तो वह इच्छा को भी साथ में रखेगी ही। ईश्वरवादियों ने ईश्वर की बुद्धि को नित्य माना है, अतएव उसका इच्छा भी नित्य होगी और नित्य इच्छा सर्वदा सर्वत्र विद्यमान ही रहेगी। अतएव कार्यों का यौगपद्य रूप आपत्ति से ईश्वरवादियों को उद्धार नहीं है।[२] यदि इस आपत्ति से बचने के लिए ईश्वर की बुद्धि को अनित्य माना जाए तो भी ईश्वर के अस्तित्व के साथ उसका भी सत्ता मानी ही जाएगी। क्योंकि उस बुद्धि का कारण ईश्वर ही है। अतएव ईश्वर के साथ साथ उसकी बुद्धि तथा इच्छा भी सर्वत्र सर्वदा रहने लगेगी। अतः ईश्वरवादियों को उक्त आपत्ति से उद्धार नहीं है।

जो क्रमशः होता है वह नित्य ईश्वर द्वारा निष्पादित नहीं हो सकता है।

---

१. कारणपद सामग्री के लिए व्यवहृत हैं, क्योंकि सामग्री कार्य की व्याप्य होती है। सामग्री सभी कारणों का समुदाय रूप है। समुदाय समुदायी से भिन्न नहीं है-यहाँ यही अभिप्रेत है।

२. नेश्वरो जन्मिनां हेतुरूत्पत्तिविकलत्वतः।
गगनाम्भोजवत् सर्वमन्यथा युगपद् भवेत्।। त.सं. का०८७ तथा इसकी पंजिका व्याख्या।

सांसारिक कार्य कलाप यथाक्रम होता हुआ देखा गया है। अतएव इन कार्यों का निमित्त कारण ईश्वर नहीं हो सकता है। यदि विवेक शून्य न्याय सम्प्रदाय की उपर्युक्त कथा (ईस्वर की सिद्धि में प्रदर्शित हेतु समूह) को सत्य एवं प्रामाणिक मान लिया जाए तो भी पुनः आपत्ति होगी कि यदि प्रत्येक वस्तु ईश्वरकारित है तो, ईश्वर साधक हेतु भी ईश्वर कारित ही होगा और जब ईश्वर की सिद्धि का प्रयास आरम्भ किया गया है उस समय में नैयायिकों की ईश्वर साधक युक्ति ईश्वरजन्य होने के कारण उसकी सिद्धि से पहले विफल प्रमाणित होगी।[१]

यदि वह इष्टापत्ति हो तो फिर शास्त्रों में अनवस्था शब्द की सत्ता ही क्यों मानी जाए? ऐसी स्थिति में ही तो शास्त्रकारों ने अनवस्था का प्रसंग उठाया है। जो ईश्वर की कारणता मानने में भी सर्वज्ञा संलग्न होती है। इससे ईश्वर के अस्तित्व का अभाव ही सिद्ध होता है।[२]

जिन कारणों की उपस्थिति में कार्य होता है उससे भिन्न तथा प्रत्यक्ष के अगोचर ईश्वर को यदि कारण कहा जाए तो फिर प्रत्येक कार्य के अपने प्रसिद्ध कारणों से भिन्न तथा प्रत्यक्ष के अविषय आकाश आदि को भी उसी कार्य के प्रति क्यों न कारण माना जाए।

ईश्वर में यदि कर्तृता ही नहीं प्रमाणित होती है तो कर्त्ता होने के नाते कार्य समूह के उपादानों का प्रत्यक्ष भी ईश्वर को नहीं होगा और इसके अभाव में सर्वज्ञता की तो बात ही दूर रही। क्योंकि ईश्वर को प्रत्येक कार्य का कारण मानने पर ही उसकी सर्वज्ञता निर्भर करती है।[३]

---

१. ये वा क्रमेण जायन्ते ते नैवेश्वरहेतुकाः।
यथोक्तसाधनोद्भूता जड़ानां प्रत्यया इव।। त०सं०का०८८।
तेषामपि तदुद्भूतौ विफला साधनाभिधा।
नित्यत्वादचिकित्स्यस्य नैव सा सहकारिणी।। तं० सं०का०८९
२. येषु सत्सु भवद्दृष्टमसत्सु न कदाचन।
तस्यान्यहेतुता क्लृप्तावनवस्था कथं न ते। सं० का ९०।
३. कर्तृत्वप्रतिषेधाच्च सर्वज्ञत्वं निराकृतम्।
बौद्धव्यं तद् बलेनैव सर्वज्ञत्वोपपादनात्।। त०सं० का०९१।।

अनुच्छेद २ (घ)

प्रकृति तथा ईश्वर उभय कारणतावाद का स्थापन तथा बौद्ध सिद्धान्त के आधार पर उसका खण्डन

यद्यपि शान्तरक्षित ने प्रकृति तथा ईश्वर उभय कारणतावाद के परीक्षा प्रकरण में किसी सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थकारों का नाम निर्देश नहीं किया है। तथापि प्रतीत होता है कि भगवान् पतञ्जलि के सांख्ययोग की मान्यता ही पूर्वपक्ष रूप में इनका अभिप्रेत है।

सेश्वर सांख्य का सिद्धान्त है कि प्रकृति तथा ईश्वर संसार के कारण होते हैं। प्रकृति अर्थात् सांसारिक वस्तुओं के उपादान चेतना से रहित है। वह अकेली किसी चेतन से अधिष्ठित हुए बिना संसार का निर्माण नहीं कर सकती है। ईश्वर भी एकाकी अचेतन उपादानों की सहायता के अभाव में किसी कार्य का उत्पादन नहीं कर सकता है। किन्तु दोनों परस्पर मिलकर संसार का निर्माण करते ही हैं।[१]

उपादान सत्व, रजस् तथा तमस् इन तीन गुणों से युक्त है और ईश्वर जब उपादानों की अपेक्षा चाहता है तो वह उपादान त्रिगुण में वैषम्य उपस्थित करता है। त्रिगुण में वैषम्य रहने से ही प्रकृति से सृष्टि की प्रक्रिया चलती है। यद्यपि सत्त्वगुण के आधिक्य से देवयोनि की उत्पत्ति, रजोगुण के आधिक्य से मनुष्य की उत्पत्ति तथा तमोगुण के आधिक्य से पशुपक्षी तथा वृक्ष आदि की उत्पत्ति मानी गयी है। इसी से यथाक्रम सुख दुःख तथा मोह का आविर्भाव होता है।[२] तथापि ईश्वर रजोगुण से वस्तु का उत्पादन, सत्वगुण से रक्षा तथा तमो गुण से संहार करता है। इन गुणों की सहकारिता क्रमशः मिलती है। अतएव कार्य का क्रमिक होना सिद्ध होता है।[३] पूर्वपक्षियोंके वक्तव्य का यही संक्षेप है।

---

१. गौड़पादभाष्य।

२. उद्भूतशक्तिरूपेण तमसा युज्यते यदा।
प्रलयं सर्वजगतस्तदा किं किं करोत्ययम् ।। त०सं० का०९९।
रजः सत्वादि रूपादि तदेवं सहकारिणः।
क्रमेणैवास्य वर्तन्ते कार्याणां नाक्रमस्ततः।। त०सं०का १००।

३. अथोच्यते प्रधानस्य त्रिरूपत्वं व्यवस्थितम् ।
तत्रायं रजसा युक्तः सर्गहेतुर्महेश्वरः।। त० सं०का० ९७।।

इसके खण्डन में शान्तरक्षित ने कहा है कि पूर्व प्रकरण में पृथक्–पृथक् प्रकृति तथा ईश्वर के कर्तृत्व का खण्डन पहले ही हो चुका है। अतएव उन दोनों की कर्तृता सिद्ध नहीं होती है।[१] सिद्ध होने पर भी समुदाय में कर्तृता का निषेध नहीं होता है। पूर्व पक्षी यदि कहे कि पृथक् रुपमें एक तृण से बन्धन असम्भव होने पर भी उसके समुदाय में रस्सी बनने पर बन्धन की क्षमता हो जाती है। इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि दोनों में परस्पर सहकारिता दो तरह से हो सकती है। परस्पर में अतिशय का आधान हो अथवा एक कार्य सम्पादकत्व धर्म दोनों में रहे।[२] प्रकृत में पहला कल्प सम्भव नहीं है। ईश्वर तथा प्रकृति दोनों ही नित्य पदार्थ है। इसमें विकार कदापि उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। अतएव दोनों में परस्पर अतिशय का आधान असम्भव है। दूसरा कल्प भी सम्भव नहीं है। दोनों नित्य प्रदार्थ है। इनमें यदि एकार्थ सम्पादकत्व धर्म का समावेश होगा तो सभी कार्यों की उत्पत्ति एक काल में ही होने लगेगी। क्योंकि कारण रहने पर कार्य अवश्य होता है। प्रकृति तथा ईश्वर दोनों ही नित्य पदार्थ कारण रूप में प्रस्तुत है। इसका प्रतिबन्ध कभी दृष्ट नहीं होता। तथा ईश्वर और प्रकृति दोनों में किसी का भी सामर्थ्य प्रतिहत नहीं होता है। अपितु सर्वदा विद्यमान ही रहता है। अतएव एक ही काल में सभी कार्यों को अवश्य उत्पन्न करेगा। इससे यही प्रमाणित होता है कि दोनों की परस्पर सहकारिता किसी तरह सम्भव नहीं है। इससे सांख्य योग का प्रकृति- ईश्वर उभयकारणतावाद खण्डित हो जाता है।

सांख्य योग के इस उभयकारणता:वाद के साधक दूसरे प्रमाण के विषय में कहना यह है कि वस्तु की उत्पत्ति के समय में ईश्वर स्थापक तथा संहारक शक्ति को कहीं अपने से हटा नहीं सकता है। अतएव उत्पत्ति के समय में ही वस्तु का संहार होना आरम्भ होगा। तथा संहार के समय वस्तु उत्पन्न होने लगेगा तथा स्थिति काल में संहार तथा उत्पत्ति दोनों की प्राप्ति हो जाएगी। क्योंकि कारण रहने से कार्य अवश्य होता है।

उद्भूतवृत्तिसत्वन्तु यदा संश्रयते पुनः।
तदा सर्वस्य लोकस्य स्थितेर्याति निमित्तिताम् ।। त०सं० का०९८।
उद्भूतशक्तिरूपेण तमसा युज्यते यदा।
प्रलयं सर्वजगतस्तदा किं किं करोत्ययम् ।। त० सं०का०९९।।
रजः सत्वादि रूपादि तदैवं सहकारिणः।
क्रमेणैवास्य वर्तन्ते कार्याणां च क्रमस्ततः।। त०सं० का० १००।
१. प्रकृतीश्वरयोरेवं हेतुत्वप्रतिषेधनात् ।
प्रत्येक सहितं कर्तृ-नोभयं जन्मिनामिदम् ।। त०सं० का० ९४।।
२. साहित्यं सहकारित्वादेतयोः कल्पिते च यत् ।
तत्स्यादतिशयाधानादेकार्थक्रिययाऽपि वा।। त० सं० का० ९५।

संहारक ईश्वर वस्तु की उत्पत्ति के समय में भी विद्यमान ही है तो फिर उसका संहार क्यों नहीं होगा।[1]

उभय कारणतावादी सेश्वर सांख्य योगदर्शन बौद्ध की उक्त मान्यता के खण्डन में कहता है कि उक्त दोनों ही कारण वस्तु की उत्पत्ति के अवसर में उसका नाश आदि नहीं कर सकते हैं। क्योंकि विविध व्यापार के लिए उसे रूपान्तर की अपेक्षा होती है जो वस्तु की उत्पत्ति के समय उसका नाश या स्थिति रूप विविध कार्य नहीं होने देगा।

इसके उत्तर में **शान्तरक्षित** पहले दो विकल्प उपस्थित करते हैं- क्या प्रकृति तथा ईश्वर दोनों ही परस्पर से भिन्न किसी वस्तु की अपेक्षा करता है। या स्वरूपतः कारण होता है। पहला कल्प संभव नहीं है। दोनों से भिन्न जिस वस्तु की अपेक्षा होगी वह भी इन्हीं दोनों की तरह प्रमुख हो जाएगा। अतएव उभयकारणतावाद के बदला अपेक्षित रूप को लेकर त्रितयकारणतावाद रूप सिद्धान्त स्थापित होगा, फलतः इस कल्प में सिद्धान्त के व्याघात का भय है। दूसरा कल्प भी सम्भव नहीं है। ईश्वर तथा प्रकृति दोनों ही कारण स्वरूपतः नित्य है। तथा सर्वदा कार्य करने वाला स्वभाव से युक्त ही रहते हैं। अतएव वस्तु की उत्पत्ति के अवसर में उसका नाश तथा स्थिति आदि पृथक्-पृथक् व्यापार का होना रूप अनिष्ट की ऊर्ध्वदर्शित आपत्ति दृढ़ होती है।[2]

उभय कारणतावादी अपने मत की पुष्टि में बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार प्रदर्शित उपर्युक्त दोष का परिहार करते हुए कहते हैं कि ईश्वर तथा प्रकृति वस्तु की उत्पत्ति के समय उसके नाशक तथा स्थापक सामर्थ्य से हीन रहता है। इसी तरह वस्तु के नाश के समय उसके उत्पादक तथा स्थापक सामर्थ्य नहीं रहता है। इसलिए उत्पत्ति के समय नाश तथा नाश के समय उत्पत्ति रूप आपत्ति का निराकरण हो जाता है।

बौद्ध मान्यता के अनुसार इसका उत्तर यह है कि अभिमत वस्तु की उत्पत्ति के समय ईश्वर स्थापक तथा नाशक सामर्थ्य से यदि हीन रहता है तो वस्तु की स्थिति तथा

न युक्ता कल्पनाद्यस्य निर्विकारतया तयोः।
न द्वितीयस्य कार्याणां यौगपद्यप्रसंगतः।। त०सं० का ९६।।
१. इहोच्यते तयोरेकक्रियाकाले समस्ति किम् ।
तदन्यकार्यनिष्पत्तिसामर्थ्यं यदि वा न तत् ।। त०सं० का १०१।
यद्यस्ति सर्गकालेऽपि द्वयमप्यपरं भवेत्।।
एवमन्यस्य सद्भावे द्वयमन्यत् प्रसज्यते।। त०सं०का०१०२।
२. न हि तत्पररूपेण पुनरन्यस्य कारकम् ।
स्वरूपं च तदेवास्य तत्क्रियाविरतिः कुतः।। त०सं० का० १०३।।

नाश कदापि सम्भव नहीं होगा। क्योंकि कारण में उक्त दोनों सामर्थ्य का अभाव ही, सेश्वर सांख्यदर्शन ने प्रतिपादित किया है। और सामर्थ्य से रहित जैसे आकाशकमल कार्य सम्पादन में सर्वथा अक्षम है। इसी तरह ईश्वर तथा प्रकृति दोनों ही उक्त सामर्थ्य से रहित होने के कारण वस्तु की रक्षा तथा संहार नहीं कर सकते।[१] यहाँ बौद्ध मान्यता के अनुसार धर्म तथा धर्मी को अभेद मानकर सभी बातें कही गयी है।

उभयकारणतावादी यदि अपनी पक्ष-रक्षा के लिए कहता है कि प्रकृति में सभी शक्तियाँ यद्यपि सन्निहित है किन्तु कार्य के अनुसार एक शक्ति जब उत्कट होकर प्रस्फुटित होती है तो अपर शक्तियाँ अनुद्भूत होकर रहती है। इसलिए एक काल में विभिन्न व्यापारों का होना-उत्पत्ति के समय वस्तु का संहार तथा संहार के समय उत्पत्ति आदि पूर्वोक्त कार्यों का यौगपद्य रूप आपत्तियाँ-नहीं हो सकती है।

यहाँ बौद्ध की मान्यता है कि उभयकारणतावादी क्या शक्ति के उत्कट रूप को नित्य स्वतन्त्र मानते हैं? क्या ईश्वर तथा प्रकृति को उसका कारण मानते हैं? या अन्य कारणों से उसकी उत्कटता का आविर्भाव कहते हैं?

पहला कल्प सम्भव नहीं है। क्योंकि किसी शक्ति का उत्कट रूप होना? तथा किसी शक्ति का अनुद्भूत रहना कभी होता है तथा कभी नहीं होता है। इसलिए नियतावधिक होने के नाते यह नित्य तथा स्वतन्त्र नहीं होकर सकारण होता होगा।

दूसरा कल्प भी सम्भव नहीं है। प्रकृति तथा ईश्वर नित्य है और इन्हीं दोनों को उसका कारण मानने पर अनवरत कारणों का अस्तित्व सर्वदा उस कार्य का उत्पादन करेगा, तब पूर्वोक्त कार्य का यौगपद्यरूप आपत्ति यथावत् बनी रह जाती है।

उभयकारणतावादी अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिये तीसरा कल्प मान ही नहीं सकते। अन्यथा प्रकृति तथा ईश्वर को सकल संसार का कारण होना जब निश्चित है तब इसके कारण नहीं होने पर उस मान्यता की भित्ति स्वतः नष्ट हो जाएगी। इसलिए पूर्वपक्षियों को वह इष्ट ही नहीं हो सकता है।[२]

O

१.तत्सामर्थ्यवियोगे तु नैव तज्जनकं भवेत्।
अन्यदा शक्तिशून्यत्वाद् वियदम्भोरूहादिवत् ।। तं० स० का०१०४।

२. उत्कटं शक्तिरूपं च यदि तन्मात्रकारणम् ।
सर्वदा तद्भवेद्धेतोर्नित्यरूपस्य सन्निधेः।। त०सं० का० १०५।
न चापरं परैरिष्टमतो नैवान्यतोऽपि तत् ।
नापि स्वतन्त्रमेवेदं कादाचित्कत्वसम्भवात् ।। त०सं० का० १०६।।

अनुच्छेद २ (ड़)

वेदवादी पुरुषकर्तृत्ववाद सम्प्रदाय का संस्थापन तथा उन युक्तियों का सप्रमाण खण्डन

तत्त्वसंग्रह के पुरुष परीक्षा प्रकरण में **शान्तरक्षित** ने पूर्वपक्ष रूप में एक सम्प्रदाय विशेष की मान्यता का स्थापन किया है। यह ईश्वर के जगत् कर्तृत्ववाद रूप नैयायिक सिद्धान्त से सम्बद्ध है। जैसा कि निम्न विवरण से ज्ञात होता है।

किसी वेदवादी दार्शनिक का कहना है कि एक ही पुरुष सुई से लेकर पर्वत तक सांसारिक प्रत्येक वस्तु का निर्माण करता है, उसकी रक्षा का प्रयास करता है और उसका नाश भी यथा समय करता है। **कमलशील** ने इस प्रसंग में एक प्राचीन श्लोक का उद्धरण दिया है। उसका अभिप्राय यह है कि जैसे मकरी–लूता (कीट विशेष) अपने शरीर से तन्तु उत्पादन कर जाल का निर्माण करती है। यहाँ शरीर विशिष्ट मकरी उपादान कारण है और केवल मकरी निमित्त कारण है। इसी तरह संसार के निर्माण में पुरुष विशेष– माया विशिष्ट ब्रह्म–उपादान कारण और शुद्ध ब्रह्म निमित्त कारण होता है।[१] इस दार्शनिक को ईश्वरवादी नैयायिक से इतना भेद अवश्य है कि नैयायिक सम्प्रदाय ईश्वर तथा उससे भिन्न आत्मा आदि को तथा परमाणु आदि समवायिकरण को भी मानता है। और पुरुषवादी दार्शनिक केवल पुरुष को ही सांसारिक वस्तु का कारण मानता है। किन्तु संसार की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय की प्रक्रिया में दोनों दार्शनिकों में मतैक्य जैसा है। इसके खण्डन में शान्तरक्षित कहते हैं कि ईश्वर के साधन में जो कुछ दोष उपस्थित किये गये हैं, उन सभी दोषों का समावेश यहाँ भी है। अतएव इस मत का टिकना असम्भव है।[२] पुरुष को यदि जगत् का कर्त्ता माना जाए तो प्रश्न यह उठता है कि जिस

---

१. अन्ये त्वीशसधर्माणं पुरुषं लोककारणम् ।
कल्पयन्ति दुराख्यातिसिद्धान्तानुगबुद्धयः।।त० सं० १५३।
समस्तवस्तुप्रलयेऽप्यलुप्तज्ञानशक्तिमान् ।
ऊर्णनाभ इवांऽशूंना स हेतुः किल जन्मिनाम् ।। त०सं० का १५४।
यह मत शाङ्कर दर्शन में उपलब्ध है
२. अस्यापीश्वरवत् सर्वं वचनीयं निषेधनम्।
किमर्थं च करोत्येष व्यापारमिममीदृशम्। त०सं० का १५५।

वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है वह किसी का कारण नहीं हो सकता है। जैसे आकाश कमल उत्पन्न नहीं होता है, अतएव वह कारण भी नहीं होता है। इसी तरह पुरुष उत्पन्न नहीं होता है, वह कारण भी नहीं होगा।

दूसरी बात यह है कि प्रयोजन के बिना मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। अन्यथा विद्वान् की प्रवृत्ति भी जल-ताड़न में देखी जाती। अब प्रश्न होता है कि ईश्वर किस प्रयोजन से संसार की रचना में प्रवृत्त होता है। यहाँ चार विकल्प हो सकते हैं-किसी दूसरे की प्रेरणा से वह प्रवृत्त होता है-या प्राणियों पर दया करने के लिए प्रवृत्त होता है? या खेल के लिए वह प्रवृत्त होता है जैसे बच्चे खेल के लिए विविध व्यापार करते हैं या उसका स्वभाव ही है संसार का निर्माण करना।

यहाँ पहला कल्प सम्भव नहीं है। यदि वह किसी दूसरे की प्रेरणा से अपनी इच्छा नहीं रहने पर भी इसमें प्रवृत्त होता है तो उसके स्वातन्त्र्य की रक्षा नहीं होती है।[१] और स्वातन्त्र्य के अभाव में प्रकृत पुरुष-हमलोगों से उस लोकोत्तर पुरुष में भेद ही क्या रहा? दूसरा कल्प भी सम्भव नहीं है। यदि वह सम्भव रहता तो संसार में किसी को दुःख का भोग नहीं होता। दया परवश व्यक्ति पूर्ण चेष्टा करता है कि दया पात्र का सुख विधान हो। किन्तु इस संसार में आधि, व्याधि दारिद्र्य तथा शोक से पीड़ित ही अधिक दीखते हैं। दूसरी बात यह है कि सृष्टि से पहले दयापात्र प्राणी ही जब नहीं है तो उस समय में किस पर कृपा करके वह संसार की रचना में प्रवृत्त होगा। अपि च, जो थोड़ा बहुत सुख भोग करता भी है उसका प्रलय हो जाता है। यह क्यों होगा? केवल दुःखियों के लिए ही प्रलय क्यों नहीं होता। इसी से सिद्ध होता है कि दया से वह संसार की रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकता है।[२] यदि यह कहा जाए कि दुःख का भोग प्राक्तन कर्म का फल होता है, उसमें पुरुष का कुछ भी दोष नहीं है। तो कहना है कि दयालु ईश्वर उस अदृष्ट की उपेक्षा क्यों नहीं करता। जिसकी

---

१. यद्यन्येन प्रयुक्तत्वान्न स्यादस्य स्वतन्त्रता।
अथानुकम्पया कुर्यादेकान्तसुखितं जगत् ।। त० सं० का १५६।।

२. आधिदारिद्र्यशोकादिविविधायासपीड़ितम्।
जनं तु सृजतस्तस्य कानुकम्पा प्रतीयते। त०सं० का० १५७।।
सृष्टे प्रागनुकम्पानामसत्वे नोपपद्यते।
अनुकम्पापि तद् योगाद्धातायं परिकल्प्यते।। त०सं०का०१५८।
न चायं प्रलयं कुर्यात्सदाऽभ्युदययोगिनाम् ।
तददृष्टव्यपेक्षायां स्वातन्त्र्यमवहीयते।। त०सं०का०१५९।।

उपेक्षा से किसी प्राणी के दुःख का भोग नष्ट हो जाता है।[1]

तीसरा कल्प भी सम्भव नहीं है। खेल के लिए पुरुष संसार की रचना नहीं करता है। यद्यपि **लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्** इस वेदान्त सूत्र में भी इसी विषय का उपपादन है। एवं न्यायवार्त्तिककार **उद्योतकर** ने भी ईश्वर प्रकरण में इस प्रसंग को उठाया है।[2] तथापि इसके खण्डन में **शान्तरक्षित** का कहना है कि यदि खेल के लिए वह संसार की रचना करता है तो फिर खेल के उत्पादन में वह स्वतन्त्र नहीं रह सकता।[3] इसके लिए उसे विविध साधनों के सर्ग, स्थिति तथा प्रलय रूप इस संसार की अपेक्षा करनी होगी। अपिच, खेल से प्रसन्न होने के लिए उसके सभी साधनों को एक काल में ही बनाना होगा। यदि एक काल में उन साधनों को नहीं बना सकता है तो फिर यथाक्रम बनाना भी उसके लिए कठिन है। एक ही विषय में एक व्यक्ति का सामर्थ्य तथा असामर्थ्य दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म नहीं रह सकता है।[4] इस प्रसंग में **प्रशस्तमति** का कहना है कि ईश्वर दूसरों के हित की भावना से संसार के निर्माण में प्रवृत्त होता है–इसका सविस्तर वर्णन तथा सप्रमाण खण्डन प्रस्तुत अध्याय के द्वितीय अनुच्छेद के (ख) भाग में किया गया है।

चौथा विकल्प न्यायवार्त्तिककार **उद्योतकर** द्वारा प्रतिपादित है। **उद्योतकर** ने कहा है कि जैसे पृथिवी का स्वभाव है धारण करना, इसी तरह ईश्वर का स्वभाव है संसार की रचना करना। किन्तु **शान्तरक्षित** ने **उद्योतकर** की इस युक्ति में दृष्टान्त को बदल दिया है। यहाँ वार्त्तिक में पृथिवी की धारण क्रिया को दृष्टान्त रूप में लिया गया है।[5] किन्तु **तत्त्वसंग्रह** में आग का दाह कर्म रूप स्वभाव दृष्टान्त रूप में लिया गया है।[6] इसका खण्डन इस तरह हो जाता है कि प्रतिबन्धक से रहित कारण कूट का समवधान जिस

---

१. पीड़ाहेतुमदृष्टं च किमर्थं स व्यपेक्षते।
उपेक्षैव पुनस्तत्र दयायोगोऽस्य युज्यते।। त०सं० का० १३०।।
२. द्रष्टव्य न्यायवार्तिक-पृ० ४२६
३. क्रीड़ार्था तस्य वृत्तिश्चेत् क्रीड़ायां न प्रभुर्भवेत् ।
विचित्रक्रीड़नोपायव्यपेक्षातः शिशुर्यथा। त०सं०का०१६१।
४. क्रीड़ासाध्या च या प्रीतिस्तस्या यद्यपि साधनम् ।
तत्सर्वं युगपत् कुर्याद् यदि तत्कृतिशक्तिमान् ।। त०सं० का० १६२।।
क्रमेणापि न शक्तः स्यान्नो चेदादौ स शक्तिमान् ।
नाविभक्तस्य युज्येते शक्त्यशक्ती हि वस्तुनः।। त०सं० का० १६३।
५. न्यायवार्तिक ४।१।२१ यथा भूम्यादीनि धारणादिक्रियां तत्स्वाभाव्यात् कुर्वन्ति।
६. अथ स्वभावतो वृत्तिः सर्गादावस्य वर्ण्यते।
पावकादेः प्रकृत्यैव यथा दाहादिकर्मणः।। त०सं. १६४।

देश तथा जिस काल में रहता है उस देश तथा उस काल में कार्य का निश्चित होना नियम है। यदि संसार का निर्माण करना ईश्वर का स्वभाव है तो उस स्वभाव के सर्वदा वर्तमान रहने से तथा सभी कार्यों के कर्त्ता होने से एक काल में अनेक कार्यों का उत्पत्ति रूप अनिष्ट की आपत्ति हो जाएगी।[१]

वार्त्तिककार की युक्ति के खण्डन में **शान्तरक्षित** द्वारा प्रदर्शित तर्क के विरोध में नैयायिक फिर से पूर्वपक्ष करता है कि आग का दाह कर्म रूप स्वभाव नियत है।अतएव सर्वदा सभी वस्तुओं को नहीं जलाता है किन्तु जिसको जलाने के लिए उसका उपयोग होता है उसको जलाता है। इसी तरह ईश्वर का स्वभाव भी नियत होगा। अतएव एक काल में अनेक कार्यों की उत्पत्ति रूप आपत्ति नहीं होगी। इसका उत्तर यह है कि दहन का दाह कर्म रूप स्वभाव अपने हेतुओं से नियत होता है। किन्तु ईश्वर के ऐश्वर्य की रक्षा के लिए उसका अपर कारण नहीं माना जाता है। अतएव वह एक काल में अनेक कार्यों का उत्पादन कर सकता है जो आपत्ति है।[२]

यदि यह कहा जाए कि दया से या क्रीड़ा के लिए संसार की रचना में ईश्वर प्रवृत्त नहीं होता है। अपितु ऐसे ही बिना कुछ सोच विचार का, वह संसार का निर्माण करता है तो यहाँ बौद्ध का उत्तर यह होगा कि इस तरह के ईश्वर को मानने में फल ही क्या है। बिना विचार का अत्यन्त अज्ञ मानव कैवर्त भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। लोक व्यवहार भी निष्प्रयोजन नहीं देखा गया है। अन्यथा जलताड़न में भी लोगों की प्रवृत्ति देखी जाती है।[३]

इस उपर्युक्त आपत्तियों के कारण एक असाधारण अतएव लोकोत्तर पुरुष (ईश्वर) के जगत्कर्तृत्व का खण्डन तो हो ही जाता है। अपि तु विष्णु के आत्मज विधाता इस संसार का कारण है-इस वाद का भी खण्डन हो जाता है।[४]

○

---

१. यद्येवमखिला भावा भवेयुर्युगपत्ततः।
तदुत्पादनसामर्थ्ययोगिकारणसन्निधेः।। त०सं० का० १६५।
२. स्वहेतुबलसम्भूता नियता एव शक्तयः।
असर्वकालभाविन्यो ज्वलनादिषु वस्तुषु। तं० सं० का १६६।।
३. यथाकथंचिद् वृत्तिश्चेद् बुद्धिमत्तास्य कीदृशी।
नासमीक्ष्य यतः कार्ये शनकोऽपि प्रवर्तते।। त०सं० का०१६९।।
४. शौर्यात्मजातयो येऽपि धातारः परिकल्पिताः।
एतेनैव प्रकारेण निरस्तास्तेऽपि वस्तुतः।। त० सं० का०१७०।।

अनुच्छेद ३
शुभगुप्त की ईश्वरभङ्गकारिका का सारांश

आचार्य धर्मोत्तर के विद्यागुरु रूप में **शुभगुप्त** की प्रसिद्धि विद्वत्समाज में पाई जाती है। इनका समय खृष्टीय नवम शतक माना जाता है। इनके ग्रन्थों में **सर्वज्ञसिद्धिकारिका, ब्राह्यार्थसिद्धिकारिका, श्रुतिपरीक्षा, अन्यापोहविचारकारिका** तिब्बती भाषा में मिलती है। किन्तु इनमें से किसी एक प्रकरण का भी संस्कृत मूल उपलब्ध नहीं है। **शुभगुप्त** के ग्रन्थों की चर्चा इतस्ततः मिलती है। आधुनिक गवेषणा के अनुसार कहा जाता है कि **आचार्य उदयन** ने **न्यायकुसुमाञ्जलि** के पूर्वपक्ष में **शुभगुप्त** का मत ही उद्धृत किया है।[१] मेरे परम गुरु पूज्यचरण **म.म. विधुशेखर भट्टाचार्य** ने ईश्वरभंगकारिका का तिब्बती भाषा से संस्कृत में अनुवाद किया है। गुरु परम्परा से वह मुझे उपलब्ध हुआ है। इसी अनुवाद के आधार पर इस प्रकरण में **शुभगुप्त** का ईश्वर खण्डन विषयक मत उपस्थित किया जाता है।

नैयायिक इस चर तथा अचर रूप संसार का निमित कारण ईश्वर को कहते हैं। किन्तु यह समुचित नहीं है। इन सांसारिक वस्तुओं के नाश में यदि दृश्य कारण अपेक्षित है तो इसी से सिद्ध है कि उन वस्तुओं की उत्पत्ति भी दृश्य कारणों से ही होगी। ईश्वर का प्रत्यक्ष किसी को नहीं होता है। अतएव अदृश्य होने से यह संसार का कारण नहीं हो सकता है।[२]

---

१. द्रष्टव्य-सतीशचन्द्र विद्याभूषण कृत न्यायशास्त्र का इतिहास, आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि की कुसुमाञ्जलि हिन्दी की भूमिका-पृ०२०।

२. यः सम्यग्विज्ञभूतः सन् सत्वांच्छास्ति प्रणम्य तम् ।
जगन्नाथं मया सम्यग् व्यवस्थाधिकरिष्यते।।१।।
कर्मतः क्लेशतो जातिः क्षणिकं तदनात्मकम्।
सर्वज्ञो वीतरागश्च संक्षपेणेह वक्ष्यते।।२।।
ये वदन्ति जडप्रज्ञाः सर्वमीश्वरनिर्मितम् ।
न ते जानन्ति नाशाय संसारे व्यक्तमुच्यते।।३।।

शरीर, इन्द्रिय तथा पृथिवी आदि सांसारिक प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति में ईश्वर कारण नहीं हो सकता है।जैसे प्रत्येक कर्म का फल पृथक्- पृथक् होता है। उसी तरह प्रत्येक कार्य का विभिन्न कारण होना चाहिए। एक ही ईश्वर सभी वस्तुओं का कारण नहीं हो सकता है। अन्यथा सभी पदार्थों को ईश्वर निर्मित मानने पर शरीर के साथ-साथ ज्ञान भी (तत्त्वज्ञान भी) उत्पन्न होने लगेगा।क्योंकि ज्ञान तथा शरीर का एक ही ईश्वर कारण है। और तब जीव जन्मतः तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने लगेगा। किन्तु यह सर्वथा अनुभव विरुद्ध है। अतएव किसी भी सम्प्रदाय में मान्य नहीं है। इससे फलित होता है कि सांसारिक सभी पदार्थों का कर्त्ता एक ईश्वर नहीं हो सकता है।[१]

उक्त आपत्ति को काटने के लिए ईश्वरवादी यदि यह कहे कि ईश्वर कृत होने से तत्त्वज्ञानवान होने में कोई नियम नहीं हैं। जैसे घट के ईश्वरकृत होने पर भी ज्ञानवत्व उसमें नहीं आता है। अपि तु अचेतन ही वह रहता है। इसी तरह जन्मकालिक शरीर होते समय उक्त ज्ञान का नहीं रहना सिद्ध होता है। इससे ईश्वर कारणतावाद का व्याघात नहीं होता है, तो इसके उत्तर में **कल्याणरक्षित** का कहना है कि यह सर्वथा निर्मूल है। कारणों की उपस्थिति में कार्य को होने से कोई रोक नहीं सकता है। उक्त ज्ञान का कारण ईश्वर यदि शरीर की उत्पत्ति के समय में विद्यमान है तो उक्त ज्ञान क्यों नहीं होगा।[२]

नैयायिकों के मत में ईश्वर में मिथ्याज्ञान नहीं रहता है। अब, उसे सांसारिक सभी वस्तुओं का कर्त्ता मानने पर शास्त्रों की रचना निष्फल हो जाएगी। शास्त्र का कर्तव्य है- तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर मिथ्याज्ञान से बचाता हुआ मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित करना। अब यदि जन्म के समय में ही सबों को ईश्वर तत्त्वज्ञान करा दे तो शास्त्रों का निष्फल होना स्वतः सिद्ध है। जिस ईश्वरात्मक हेतु से जीवों का जन्म होगा वही यथार्थ ज्ञान भी उसे अवश्य दे देगा। इसी से शास्त्रों की निष्फलता सिद्ध होती है।[३]

सकल विषयों के कर्त्ता होने के नाते प्रत्येक कार्य के कारण कूट का कर्त्ता भी ईश्वर ही होगा। ईश्वर से अतिरिक्त पदार्थ उनके कारण नहीं हो सकते। ईश्वर व्यापक है। यह सर्वदा प्रत्येक स्थान में विद्यमान ही रहेगा। अतएव ईश्वरात्मक कारण की उपस्थिति

---

१. कायेन्द्रियपृथिव्यादि सर्वं नेश्वरनिर्मितम्।
भेदात् कार्यं फलज्ञानं दृश्यते हेतुजं यथा ।।४।।
२. अपि तच्चेश्वरोत्पाद्यं बुद्धिमान् जन्मतो भवेत् ।
यथा घटस्तथान्यत् स्यादिति वाच्यं न सर्वदा।।५।।
३. ईश्वराद्यदि तच्चापि मिथ्याज्ञाननिवर्तनात् ।
शास्त्रारम्भो निरर्थः स्यात् जातिर्यद्धेतुभावतः।।६।।

में एक देश तथा एक काल में विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति रूप आपत्ति होने लगेगा।

जो व्यक्ति एक समय में जितने वस्तुओं को जानता रहता है, पश्चात् उनसे अधिक विषयों को जानता है। एवं मैत्र जितना जानता है उसका पिता उससे अधिक समय गुजारने के कारण उससे अधिक जानता है, इस तरह ज्ञान में एक क्रम है। अब कार्य में यदि यही क्रम माना जाए तो आत्मा तथा ईश्वर की सिद्धि सम्भव नहीं है। इस स्थिति में ईश्वर को क्रम का अधीनस्थ होकर रहना होगा। इससे उसके ऐश्वर्य का व्याघात होगा और ऐश्वर्य का व्याघात उसके स्वरूप की हानि करेगा। अतएव ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता है।[१]

जैसे बुद्धिमान् गन्धर्व के द्वारा बनायी गई नगरी, चौराहा, गोपुर, हाथी, घोड़ा तथा रथ आदि पदार्थ दीखते हैं किन्तु जब उनके बाह्य अस्तित्व को स्थिर करना चाहें तो वे ही विपरीत रूप में मिलते हैं। अर्थात् उनकी बाह्य सत्ता होती ही नहीं है। इसी तरह यह संसार दीखता है। किन्तु बाह्य सत्ता इसकी भी नहीं है। गन्धर्व–नगर की तरह इसका केवल ज्ञान होता है। यह अमुक वस्तु है, यहाँ अमुक है, आदि आदि[२] इससे सिद्ध होता है कि संसार का अस्तित्व केवल ज्ञान में है बाहर नहीं। अतएव यह संसार गन्धर्व नगर की तरह है। प्रकृत में कहना यह है कि अब ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है। इन सांसारिक वस्तुओं के बाह्य अस्तित्व रहने पर ही इनके कारण के अन्वेषण के समय में ईश्वर को इतरवाधसहकृत अनुमान से सिद्ध किया जाता है। किन्तु इस संसार की बाह्य सत्ता ही जब सिद्ध नहीं होती है। तो फिर इसके कर्त्ता के सम्बन्ध में कुछ सोचना ही व्यर्थ है। यहाँ पहले सामान्य रूप से ईश्वर में कर्तृत्वाभाव दिखाकर पुनः विशेष रूप से कर्तृत्वाभाव का प्रदर्शन किया जाता है। अतएव पुनरुक्त दोष नहीं होता है। जैसे गृह विहीन व्यक्ति अपने मन में कल्पना करता रहता है कि मैं अमुक स्थान में मकान बनाऊँगा, इसके इतने महल होंगे, इतनी खिड़कियाँ तथा इतने कक्ष होंगे आदि आदि– इसी तरह शरीर आदि के रूप में भासमान यह संसार कल्पनात्मक है। यह किसी कारण के द्वारा उत्पन्न नहीं होता है। अतएव इसकी बाह्य सत्ता नहीं है। उत्पाद्य नहीं होने से इसके उत्पादक के रूप में ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास ही सर्वथा व्यर्थ है।[३]

---

१. कारणादि निमित्तानि जायन्ते हेतुतो नहि।
बुद्धिवत् क्रमवर्तित्व आत्मेश्वरौ निराकृतौ ।। ७।।

२. सिद्ध्यन्ति निर्मिता भावाः गन्धर्वैर्बुद्धिशालिभिः।।
तेऽपि धर्मविशेषेण सिद्ध्यन्ति वैपरीत्यतः।।८।।

३. नोत्पाद्या कल्पना नाना कायाद्याकारवत्तया।
यथा गृहव्याकुलिको घटे तद्वद्धि दृश्यते।।९।।

नैयायिक सम्प्रदाय ईश्वर सिद्धि के लिये युक्ति देता है कि ईश्वर ही उत्पन्न वस्तुजात का निर्माता है। क्योंकि तदतिरिक्त किसी से मानव शरीर, पर्वत तथा वृक्ष आदि सूक्ष्म अवयव सन्निवेश का निर्माण सम्भव नहीं है। यहाँ अभ्युपगमवाद की दृष्टि में रखकर **शुभगुप्त** का वक्तव्य है कि सर्वत्र स्वभाव से ही वस्तु उत्पन्न होता है। तदतिरिक्त ईश्वरादि कारण से नहीं। यदि पूछा जाय कि ईश्वर से अतिरिक्त अन्य किसी कारण का यहाँ हमलोगों ने प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं किया है तो **शुभगुप्त** का उत्तर यह है कि अन्ध व्यक्ति गृह आदि के अवयव सन्निवेश के कर्त्ता स्थपति का भी प्रत्यक्ष नहीं करता है।[1] किन्तु ईश्वर से भिन्न स्थपति में भी कर्तृव्य सिद्ध होता है। इसी तरह पर्वतादि में भी होगा।

नैयायिक का ईश्वर उत्पन्न नहीं होता है, न उसका नाश ही होता है। और वह आकाश की तरह सर्वत्र व्याप्त रहता है। ईश्वर शक्ति आदि गुण से भी युक्त नहीं है। अन्यथा आगन्तुक स्वभावशाली उस शक्ति आदि के अभाव में ईश्वर में ईश्वरत्व का ही व्याघात हो जाएगा। यहाँ **शुभगुप्त** कहता है कि जिसका हेतु नहीं होता है, जो अकारण होता है, उसका अस्तित्व नहीं होता है। जैसे शशशृंग का अस्तित्व किसी को भी मान्य नहीं है। इसी तरह ईश्वर को निर्हेतुक मानने पर वह भी अलीक रूप में दीखेगा। वह सहेतुक भी नहीं होता है। अन्यथा उसके कारण का निर्देश करना होगा। जिससे ईश्वर का स्वरूप लाभ होगा। अब घट आदि प्रसिद्ध कार्य की तरह ईश्वर भी किसी अन्य का उत्पाद्य होगा, जो उसके ईश्वरत्व का व्याघातक है, अर्थात् स्वरूप हानि रूप आपत्ति होने लगेगी।[2]

तुष्यतु दुर्जन न्याय से ईश्वर में कर्तृत्व स्वीकार करके उसमें दोष दिखाते हुए शुभगुप्त कहते हैं कि ईश्वर को थोड़ी देर के लिए संसार का कर्त्ता मान भी लिया

---

१. बुद्धिमद्धेतुयुक्तं स्यात् सामान्येनाथ साधनम् ।
सिद्धिं प्राप्ते कुतः सर्वकर्मतो ज़ातिरिष्यते।।१०।।
भावानां मण्डनमिति हेतुर्यः परिकीर्तितः।
सोऽप्यसिद्धोऽखिलो भावः स्वभावोऽस्य भवेदिति।।११।।
यहाँ धर्म तथा धर्मी में अभेद की तरह स्वभाव और स्वभावशाली में अभेद माना गया है।
कुतो विभिन्नसिद्धानां भावानां न्यासमण्डनम् ।
सोऽपि विलोचनादीनां दृश्यते न गृहादिवत् ।
२. इष्टेनार्थेन तेनेशो न शक्त्यादिगुणान्वितः।
नोत्पन्नो न विनष्टश्च व्याप्तेराकाशरूपवत् ।। १३।।
सहेतुत्वे घटस्येव परेणोत्पादनं भवेत् ।
अज्ञाने शशशृंगे हि हेतुत्वं नैव विद्यते।।१४।।

जाए तो पुनः प्रश्न उठता है कि ईश्वर को संसार की रचना से क्या प्रयोजन है। यदि ईश्वर का सृष्टि विधान निष्काम है तो पागल से उसमें कुछ भी भेद नहीं रहा। पागल ही निष्काम सब कुछ करता है। और यदि सृष्टि विधान का प्रयोजन मान लिया जाए तो पुनः ईश्वरत्व का ही व्याघात हो जाएगा।[१]

ईश्वर यदि धर्माधर्म रूप अदृष्ट की अपेक्षा से सृष्टि का विधान करता है-यह मान लिया जाए तो पुनः ईश्वर में तथा अन्य साधारण कर्त्ता में कुछ भेद नहीं होगा। जैसे एक साधारण कर्त्ता को उपकरण की आवश्यकता होती है उसी तरह उस ईश्वर को भी होगी। अब सृष्टि विधान में धर्माधर्मात्मक अदृष्ट को ईश्वर के सहायक रूप में मान लेने पर ईश्वर की स्वरूप हानि होती है।[२]

कर्त्ता शरीरी ही होता है। ईश्वर में यदि कर्तृत्व माना जाए तो शरीरी भी उसे मानना होगा। और तब मानव की तरह वह भी अतीन्द्रिय पदार्थों का द्रष्टा नहीं होगा। इस परिस्थिति में भी यदि उसे संसार का कर्त्ता माना जाए तो अल्पज्ञ मानव ही क्या अपराध किया है जो उसे संसार का कर्त्ता नहीं माना जाए। यदि ऐसा मान लिया जाए तो ईश्वर की सर्वज्ञता का व्याघात हो जाएगा।

अपि तु नैयायिक द्वारा प्रतिपादित ईश्वर को जन्म से सम्बन्ध होना होगा और यह नियम है कि जिसका जन्म होता है उसका नाश भी अवश्यम्भावी है। अतएव जन्म से सम्बन्ध रहने पर उसका नाश भी होगा ही। अब पुनः ईश्वरत्व रूप स्वरूप की हानि होती है। अथवा शरीर से रहित आत्मा में कर्म नहीं देखा गया है। जैसे मुक्त आत्माएँ शरीरहीन होने से कर्म रहित है। अब, ईश्वर यदि अशरीरी होगा तो उससे भी किसी कार्य का सम्पादन सम्भव नहीं है। अतएव ईश्वर की सत्ता किस रूप में मानी जाए इस प्रश्न के समाधान नहीं मिलने से उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता हैं।[३]

गुण तथा दोष का विचार करके ही कर्त्ता किसी वस्तु के उत्पादन में प्रवृत होता है। समर्थ कर्त्ता कदापि अप्रयोजनीय या अहितकारी वस्तु का उत्पादन नहीं करेगा।

---

१. विना प्रयोजनं कर्त्ता भवेदुन्मत्तसन्निभः।
अथ प्रयोजनं स्याच्चेदीश्वरो न भवेत्ततः।।१५।।
२. कर्मापेक्षा यदि भवेदीश्वरस्य परस्य च।
उपलब्धिक्षयस्तत्र विश्वासात्तदपेक्षणे।।१६।।
३. यदि देहादिरूपं स्यात् न भवेत्सर्वकारकः।
देहशक्तियुतत्वेन कर्मणा परवत् ततः।।१७।
यथाभाषितततो हेतोरीश्वरो जन्मनान्वितः।
विनाशेन तथा प्रातः सर्वथा हि प्रसज्यते।।१८।।

ईश्वर संसार की सृष्टि का विधाता है। इस सिद्धान्त के अनुयायियों का कहना होगा कि संसार में अहितकारी वस्तुओं का उद्‌भव कैसे और किससे हुआ।[१]

अपने मत से धर्म और धर्मी में अभेद मानकर अथवा[२] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति के अनुयायी वेदान्त मत का खण्डन करते हुए **शुभगुप्त** कहते हैं कि यदि ईश्वर ज्ञान स्वरूप है तो उसे इन्द्रिय तथा अर्थ की अपेक्षा अवश्य होगी। उसमें इन्द्रिय नहीं मानी जाती है। अतएव ज्ञान स्वरूप नहीं हो सकता है। जब निर्माण का आरम्भ नहीं था उस प्रथम सृष्टि के समय में ज्ञेय तो कुछ था ही नहीं और उसके अभाव में ज्ञान भी सम्भव नहीं है। क्योंकि ज्ञान सविषयक होता है। अब उस सृष्टि के प्रथम समय में ईश्वर की सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती है। क्योंकि वह ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान की सत्ता उक्त समय में नहीं हो सकती है।[३]

उत्पन्न कार्य समूह का कारण नित्य ईश्वर है–इस मत के मानने वालों–को पूछना है कि यदि नित्य ईश्वर का स्वभाव कार्योत्पत्ति का कारण है तो नित्य वर्तमान उस स्वभाव से उस कार्य का नित्य उत्पादन होना रूप आपत्ति हो जाएगी।[४]

---

१. कर्त्ता चेदीश्वरः कामान्न किं सर्वत्र कस्यचित् ।
गुणदोषौ विचार्यैव कामः कस्यापि वर्तते।।१९।।
२. जायेते गुणादोषौ यौ पूर्वन्तावीश्वराद् यदि।
तयोस्तेन हि सर्वत्र जातिरेव प्रसज्यते।।२०।।
तन्मात्राज्जातितो जातिरिष्टस्य युगपद् भवेत् ।
न जातं खलु पूर्वं यत्पश्चाज्जायेत तत्कथम् ।।२१।।
३. अथ ज्ञानस्वभावः स्यादिन्द्रियविरहात् कथम् ।
अनिर्माणाग्रलीलायां ज्ञानं ज्ञेयं बिना कथम् ।। २२।।
४. नित्ये हेतावपि सति स्वभावस्यैकतः स्थितेः।
भावानां खलु सर्वत्र नित्यं जातिर्हि जायते।।२३।।
अनेनैव प्रकारेण प्राज्ञस्य न्यायमार्गिणः।
व्यक्तं खल्ववबोद्धव्या विष्णुब्रह्मादयोऽपि च।।२४।।

चतुर्थ अध्याय

अनुच्छेद (१)

ईश्वर की सिद्धि में वाचस्पत्ति की युक्तियाँ

"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्" ४-१-१९। इस न्यायसूत्र के "ईश्वरः कारणम्" इस अंश की व्याख्या में वार्त्तिककार **उद्योतकर** तथा षड्दर्शन के व्याख्याकार **वाचस्पति मिश्र** में परस्पर मतभेद परिलक्षित होता है।

वार्त्तिककार **उद्योतकर** ने उपर्युक्त अंश की व्याख्या में कहा है कि उक्त पद का तात्पर्य यह है कि केवल ईश्वर ही संसार का कारण है। यहाँ पूर्वपक्षियों का अभिप्रेत कर्म (अदृष्ट) निरपेक्ष केवल ईश्वर कारणतावाद है। यह एक प्राचीन मान्यता है । अतएव महर्षि **गौतम** ने भी इसे उठाया है । इस मान्यता का विशेष विवरण द्वितीय अध्याय में दिया जा चुका है। किन्तु तात्पर्यटीकाकार **वाचस्पतिमिश्र** ने इस अंश की व्याख्या में वेदान्त दर्शन के ब्रह्म उपादान कारणतावाद को पूर्वपक्ष रूप में उपस्थित किया है तथा इस प्रसिद्ध मत के दो अवान्तर भेदों को भी दिखाया है। ब्रह्म परिणामवाद और ब्रह्म विवर्तवाद।[1]

वाचस्पति का कहना यह है कि जैसे मिट्टी घट आदि की आकृति में परिणत हो जाती है। सुवर्ण कुण्डल आदि आकृति पा लेता है। इसी तरह ब्रह्म संसार के नामधारी वस्तुओं के रूप में परिणत हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि इस संसार का उपादान कारण ब्रह्म है और यह संसार उसका परिणाम है। तात्त्विक अन्यथा भाव होना- जो जिस स्थिति में है उससे भिन्न स्थिति में उसका अस्तित्व परिणाम है। जैसे सुवर्ण का परिणाम कुण्डल तथा दूध का परिणाम दही होता है। अविकृत परिणामवाद में कार्य तथा कारण का अस्तित्व यथार्थ रहता है। अतएव ब्रह्म तथा जगत् दोनों की यथार्थ सत्ता रहती है। और विकृत परिणामवाद में कार्य की सत्ता रहती है किन्तु कारण का अस्तित्व उस रूप में नहीं रहता है।[2]

---

१. मा भूदयं नामरूपप्रपञ्चः शून्यतोपादानोऽपि तु ब्रह्मोपादानो भविष्यति ४।१।१९ तात्पर्यटीका।

२. परिणामवाद वैष्णव वेदान्तियों की मान्यता है। इसमें भी दो मान्यताएं हैं-विकृतपरिणामवाद और अविकृतपरिणामबाद-

चतुर्थ अध्याय

अनुच्छेद (१)

ो सिद्धि में वाचस्पत्ति की

रुषकर्माफल्यदर्शन्नात्'' ४-१-१९। इस
ाख्या में वार्त्तिककार **उद्योतकर** तथा षड्
पर मतभेद परिलक्षित होता है।
कर ने उपर्युक्त अंश की व्याख्या में कह
ईश्वर ही संसार का कारण है। यहाँ पूर्व
ल ईश्वर कारणतावाद है। यह एक प्र
इसे उठाया है । इस मान्यता का वि
किन्तु तात्पर्यटीकाकार **वाचस्पतिमि**
ब्रह्म उपादान कारणतावाद को पूर्वपक्ष
 दो अवान्तर भेदों को भी दिखाया है।

 है कि जैसे मिट्टी घट आदि की आ
ाकृति पा लेता है। इसी तरह ब्रह्म स
ना है। इससे सिद्ध होता है कि इस स
का परिणाम है। तात्त्विक अन्यथा
ते में उसका अस्तित्व परिणाम है।
णाम दही होता है। अविकृत परिण
ता है। अतएव ब्रह्म तथा जगत्
ाद में कार्य की सत्ता रहती है वि

ून्यतोपादानोऽपि तु ब्रह्मोपादा

र्गों की मान्यता है। इसमें भी
रिणामबाद-

 संसार ब्रह्म का परिणाम नहीं हो सकता है। क्योंकि कारण गत
हैं। संसार की अनित्यता बहुसम्मत है। अतएव शेषवत्[१] अनुमान
ात अनित्यता कारणात्मक ब्रह्म की भी अनित्य प्रमाणित करने
पादान कारणवादियों को किसी भी स्थिति में यह मान्य नहीं है।[२]
 कहना है कि वह पदार्थ नित्य है जिसमें तत्त्व का विनाश नहीं,
ा समन्वय होता है। क्योंकि सांसारिक रूप में परिणत होने पर भी
नि नहीं होती है। अतएव ब्रह्म का परिणाम संसार भले ही अनित्य
त्य नहीं हो सकता है। खटाई के योग से दूध भले ही दही में
अपना स्वाद बदल दे किन्तु इससे दूध का स्वभाव उजलापन तथा
ो छोड़ता नहीं है। मिट्टी भले ही कुम्भकार की कला से घट आदि
कर ले किन्तु इससे घट आदि में मिट्टी का स्वभाव नहीं बदलता है।
नित्यता भी नहीं घटती है। क्योंकि ब्रह्म का नित्य रहना स्वभाव है।
परिशुद्धि में आचार्य **उदयन** ने कहा है कि जैसे सत्ता तथा तादात्म्य
उत्पत्ति वृद्धि तथा विपरिणाम आदि विकारों को पाकर भी अपनी
त्याग नहीं करता है । अतएव सत्त्व नित्य शब्द से लोक में व्यवहृत

 प्रवर्तक बल्लभाचार्य का हैं। इसका उदाहरण सुवर्ण का कुण्डल
ुवर्ण से कुण्डल बनता है पुनः कुण्डल से सुवर्ण बन सकता है।
विकृत परिणाम है। इसी से कुण्डल में सुवर्ण की प्रतीति होती है।
प्रतीति नहीं होती है, जो विकृत परिणाम का उदाहरण है। यह
 दूसरा प्रकार अन्य दार्शनिकों को भी मान्य है। दूध का परिणाम
 स्वरूप का (दूध) लाभ नहीं कर पाता है।
ान के तीन प्रकार गौतम के सूत्र में वर्णित हैं- पूर्ववत्, शेषवत् तथा
'' अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च''।
१।५।
 दर्शन से कारण विषयक अनुमान शेषवत् शब्द से न्याय दर्शन में
से पहले नदी में उतना वेग नहीं था जितना अब दृश्य हो रहा है। इस
 की पूर्णता को देखकर वर्षा हुई है-यह अनुमान इसका उदाहरण है।
त्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते। पा० महाभाष्य।।१।१।१।

होता है । इसी तरह परिणामी होने के नाते उत्पत्ति आदि विकारों से सम्बद्ध होने पर भी ब्रह्म की नित्यता में आँच नहीं आती है।[१]

संक्षेप में ब्रह्म के परिणामवाद तथा विवर्तवाद का परिचय इस प्रकार है–ब्रह्म संसार का उपादान कारण होता है। किन्तु अविद्या रूप उपाधि से सम्बद्ध होने के कारण सांसारिक प्रत्येक वस्तु के रूप में अर्थात् विभिन्न रूप में सद्रूप से वह प्रतीत होता है। ब्रह्म यद्यपि सच्चिदानन्द रूप है तथापि कार्य में चित् और आनन्द तिरोहित रहता है केवल सद्अंश आविर्भूत होता है। जैसे मणि, दर्पण तथा कृपाण आदि विभिन्न पदार्थों में एक ही मुख का प्रतिविम्ब कहीं छोटा, कहीं मोटा, कहीं लम्बा तथा कहीं चौड़ा दीखता है। इसी तरह ब्रह्म भी वृक्ष रूप में, पर्वत रूप में, मानव रूप में तथा अन्य विभिन्न वस्तुओँ के रूप में अथवा एक शब्द में सकल चराचर के रूप में दीखता है। यही प्रतिविम्बवाद शब्द से कहा जाता है। अन्यथाभाव होना विवर्त का स्वरूप है। जो जिस रूप में नहीं है उसको उसी रूप में देखना विवर्त है। अन्धकार में रस्सी को देखकर सर्प का ज्ञान होना इसका उदाहरण है। रस्सी तत्काल में सर्प रूप में परिवर्तित अवश्य हुई थी किन्तु वह परिवर्तन यथार्थ नहीं भ्रमात्मक था।

ब्रह्म अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता है किन्तु लोग इसे अविद्या के कारण भिन्न–भिन्न सांसारिक कार्यों के रूप में देखते हैं और यही उसका विवर्त है। इस मत में कारण का अस्तित्व यथार्थ रहता है और कार्य की सत्ता मिथ्या होती है। अतएव ब्रह्म को यथार्थ कहा गया है और संसार को मिथ्या।

परिणामवाद और विवर्तवाद में साम्य इतना है कि ब्रह्म के उपादान कारण होने में किसी की विप्रतिपत्ति नहीं है किन्तु वैषम्य यह है कि परिणामवादी कारण तथा कार्य की सत्ता यथार्थ मानते हैं। और विवर्तवादी कारण की सत्ता को यथार्थ और कार्य की सत्ता को मिथ्या मानते हैं। अतएव इस मत में ब्रह्म की यथार्थता और संसार का मिथ्यात्व सिद्ध होता है।

परिणाम और विवर्त की व्याख्या दूसरे प्रकार से भी होती है। कारणगत संख्या तथा परिमाण का अविकल रूप से कार्य में अवस्थान परिणाम है। उदाहरण के लिए मिट्टी के जितने गोले बने रहेंगे और उनका जो परिमाण होगा उसी परिमाण के उतने ही घट बनेंगे। कार्य में कारणगत संख्या तथा परिमाण का वैषम्य विवर्त का रूप है। जैसे महाकवि भवभूति ने एक ही करुण रस को शृंगार आदि विभिन्न रसों का उत्पादक कहा

---

१. यथा सत्तातादात्म्यस्थितानां पिण्डानामुत्पत्तिव्यवस्थितिवृद्धि-विपरिणामविनाशेष्वपि सद्रूपताया अविलोपात्तन्नित्यत्वम् । तथा विशेषाणामुत्पत्यादिष्वपि ब्रह्मणस्ताद्रूप्याविलोप इत्यर्थः। परिशुद्धि ४।१।१९

है।[1] यहाँ कार्य तथा कारण में संख्याकृत वैषम्य है। कार्य अनेक हैं और कारण एक। इसी तरह ब्रह्मरूप एक कारण से सांसारिक विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति यदि माना जाए तो वहाँ संख्या तथा परिमाण में वैषम्य सिद्ध ही है। अतएव इस लक्षण के अनुसार भी यह सिद्ध होता है कि संसार ब्रह्म का विवर्त है। दार्शनिक ग्रन्थों में इन दोनों के लक्षण इस प्रकार वर्णित है। **''कारणसमसत्ताकः कार्यः परिणामः। कारणविषमसताकः कार्यः विवर्तः। सत्तायाः साम्यं वैषम्यं च संख्याकृतं परिमाणकृतं चेति।**

यहाँ ध्यातव्य यह है कि वेदान्त दर्शन में ब्रह्म की सत्ता में अविवाद रहने पर भी भिन्न-भिन्न मान्यताओं पर आधारित विभिन्न सम्प्रदाय प्रसिद्ध है, जो किसी आचार्य विशेष के वैयक्तिक विचार पर निर्भर करके चलते आए हैं। यहाँ पूर्व वर्णित ब्रह्म परिणामवाद के प्रवर्तक रूप में आचार्य भास्कर का उल्लेख होता है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र के ऊपर **आचार्य शंकर** की तरह एक भाष्य की रचना की है। वह भास्कर भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है। कुसुमाञ्जलि में **आचार्य उदयन ने भास्कराचार्य** के इस ब्रह्म परिणामवाद की चर्चा की है।[2] ब्रह्म विवर्तवाद अद्वैत स्वरूप तो वेदान्त के प्रवर्तक **आचार्य शंकर** की मान्यता के रूप में प्रसिद्ध ही है।

वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त न्यायसूत्र की तात्पर्यटीका में इन दोनों ही मतों को उठाया है। उनका कहना है कि उक्त दोनों ही मान्यताएँ पूर्वपक्ष रूप में गौतम का अभिप्रेत है।[3] इससे इतना तो अवश्य मानना होगा कि **वाचस्पति मिश्र** की धारणा थी कि ब्रह्म परिणामवाद और ब्रह्म विवर्तवाद दोनों ही मान्यताएँ **महर्षि गौतम** के समय में चिर प्रसिद्ध थी। जो इन दोनों मतों को प्राचीनतम सिद्ध करता है।

इस सम्बन्ध में परवर्ती विद्वान् वृत्तिकार **विश्वनाथ** तथा न्यायसूत्र के विवरणकार **गोस्वामी राधामोहन** आदि ने **वाचस्पति** को छोड़कर वार्त्तिककार का ही अनुसरण किया है। अतएव न्यायसूत्र की उक्त वृत्ति में कहा गया है कि **वाचस्पति मिश्र** ने यद्यपि उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या में ब्रह्म उपादान कारणतावाद का पूर्वपक्ष रूप में लिया है किन्तु **महर्षि गौतम** का यह प्रकरण जीव कर्म निरपेक्ष केवल ईश्वर कारणतावाद के लिए है। यहाँ **वाचस्पति** के वचन में प्रमाण की उपलब्धि नहीं होती है।[4]

---

१. एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव न तु नतुसमग्रम्।
उत्तररामचरितम् -तृ०अ० अन्तिम पद्य

२. ब्रह्मपरिणतेरिति भास्करगोत्रे युज्यते। न्या०कु० २।३। की व्याख्या।

३. एतद्दर्शनद्वयमपाकरोति। न्या०ता० ४।१।२०।

४. वस्तुतस्तु केवलेश्वरकारणतापरं प्रकरणं तदुपादानतापरत्वे तु न किमपि मानमवलोकयामः। वि० वृ०४।१।१६।

वाचस्पति ने विचार किया होगा कि वार्त्तिककार **उद्योतकर** द्वारा प्रदर्शित पूर्वपक्ष का खण्डन तो हो ही जाता है और वेदान्त मत ब्रह्म उपादान कारणतावाद का भी खण्डन होता है। अतएव वेदान्त मत यहाँ न्यायसिद्धान्त के-अदृष्ट सापेक्ष ईश्वर कारणतावाद के-अतिरिक्त अन्य सभी मतों का उपलक्षण है, जिन मतों का खण्डन ही यहाँ वाचस्पति का अभिप्रेत है।

सूत्र में केवल ईश्वर पद के रहने से विनिगमनाविरह से ब्रह्मपरक भी उसे माना जा सकता है। अन्यथा अदृष्ट निरपेक्ष ईश्वरकारणता में ही क्या प्रमाण है?

अतएव ४-१-२१ न्यायसूत्र की भूमिका में तात्पर्य टीका कहती है कि ब्रह्मोपादान कारणतावाद एवं अदृष्ट निरपेक्ष केवल ईश्वर कारणतावाद खण्डित हो जाता है।

महर्षि गौतम ने प्रेत्यभाव पदार्थ की परीक्षा के प्रसङ्ग में **व्यक्ताद्व्यक्तानां इत्यादि**[1] सूत्र के द्वारा संसार के उपादान कारण के विषय में अपना सिद्धान्त प्रकाशित किया है। और उसमें दृढ़ीकरण के लिए इस सम्बन्ध में अन्य दार्शनिकों के भी विचारों को पूर्वपक्ष रूप में उठाया है।

अभाव ही इस संसार का उपादान कारण है-इस मत को उठाकर खण्डन किया गया है। अतएव वाचस्पति ने यह समझकर कि जगदुपादानकारणतावाद का ही प्रकरण चल रहा है 'ईश्वरः कारणम्' इस पद की उपर्युक्त व्याख्या की होगी। इसी से इस विषय में वार्त्तिककार के साथ इनका मतभेद रहा हो। पूज्यचरण म. म. फणिभूषण तर्कवागीश ने इस तरह की बात अपनी भाष्य व्याख्या में कही है।[2]

वार्त्तिककार के समक्ष में नकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय का अदृष्ट निरपेक्ष ईश्वर कारणतावाद तथा शैव सम्प्रदाय का जीवकर्म सापेक्ष ईश्वर निमित्तकारणतावाद का झगड़ा रहा होगा। अतएव कण्ठतः इन्होंने नकुलीशपाशुपत मत का सयुक्तिक खण्डन दिखाकर शैव सम्प्रदाय को अपने सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित करने के लिए युक्तियाँ प्रस्तुत[3] की है।

---

१. न्या० सू० ४।१।११।

२. द्रष्टव्य-न्यायभाष्य की वंगभाषामयी व्याख्या, चतुर्थ खण्ड पृ०३७,३८।

३. यः पुनरीश्वरम् - सापेक्षे त्वीश्वरे यथोक्ते न दोषः। शेषं भाष्ये- न्या०वा०४।१।२१।

यदि किसी की जिज्ञासा हो कि सूत्र में ईश्वर पद का प्रयोग है, ब्रह्मपद का नहीं इस स्थिति में ईश्वर शब्द से ब्रह्म का बोध कैसे हो सकता है-तो इसका उत्तर यह है कि वह ईश्वर है। जिसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति[१] रूप ईशना है। ब्रह्म में भी वे दोनों शक्तियाँ विद्यमान है। अतएव वह भी ईश्वर शब्द से कहा जा सकता है। ब्रह्म संसार का उपादान कारण है। इसकी पुष्टि के लिए तात्पर्यटीका में छान्दोग्य उपनिषद से प्रमाण भी उपस्थित किया गया है। **तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय**।[२] इसकी व्याख्या करते हुए **आचार्य उदयन** ने परिशुद्धि में कहा है कि दर्शन इच्छा तथा उत्पादन के लिये श्रुति में कहा गया है। क्योंकि दोनों से सामानाधिकरण्य है। अर्थात् एक के उपादान से तीनों लिए जा सकते है। प्रकृत में केवल ऐक्षत से ईक्षण लिया जाता है। जो उपर्युक्त अवशिष्ट दोनों को साथ में लाता है। अतएव उक्त श्रुति का फलितार्थ होता है कि चेतन का परिणाम यह संसार है।[३]

ईक्ष धातु का अर्थ दर्शन होता है। ज्ञान अर्थ में दर्शन का व्यवहार होता है। अतएव उपनिषद् के ऐक्षत पद से ब्रह्म में चेतनाशक्ति का अस्तित्व सिद्ध होता है। प्रजनन उत्पादन क्रिया का वाचक है। अतएव 'प्रजायेय' यह पद उसमें क्रियाशक्ति का अस्तित्व स्थिर करता है। तस्मात् ब्रह्म को ईश्वर शब्द से कहा जाना अनुचित नहीं है। **वाचस्पति मिश्र** का यही अभिप्राय रहा होगा।

उक्त श्रुति वाक्य से एक बात और सिद्ध होती है कि संसार का कारण चेतन भी होता है। केवल प्रकृति या केवल परमाणु ही नहीं। वह चेतन हमलोगों की तरह कोई मानव नहीं हो सकता है। मानव का कर्म विफल भी देखा गया है। अतएव मानव को संसार का चेतन कारण मानने पर उसके कर्म विफल हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में सांसारिक सृष्टि की प्रकिया का अवरोध भी हो सकता है। इसलिए संसार का चेतन कारण हमलोगों से विलक्षण सांसारिक सभी विषयों का ज्ञान रखने वाला सर्वज्ञ ईश्वर हो सकता है। संसार को अनादि मानने पर भी यह मानना आवश्यक है।

वाचस्पति मिश्र के मतानुसारन पुरुषकर्माभावे फलानिष्पते[४] इस सूत्र से उपर्युक्त वेदान्त दर्शन के दोनों मतों का खण्डन हो जाता है। इस सूत्र की तात्पर्यटीका में

---

१. तात्पर्यपरिशुद्धि में उदयन ने कहा है कि यहाँ क्रियाशक्ति पद से इच्छा तथा प्रयत्न दोनों ही विवक्षित हैं और ज्ञानशक्ति से केवल ज्ञान। फलतः ईश्वर में नित्यज्ञान नित्ययत्न तथा नित्य इच्छा रहती है-क्रियाशक्तिरिच्छा प्रयत्नौ-न्या० प०४।१।१९।

२. छा० उ० ६।२।३

३. ईक्षणेच्छाप्रजनानां सामानाधिकरण्यश्रुतेः जायमानप्रपञ्चतादात्म्यात् चेतनः परिणमते इति गम्यते इत्यर्थः। न्या० परिशुद्धिः ४।१।१९।

४. न्याय सू० ४।१।२०

वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि मिट्टी के परिणाम घट आदि की तरह यह नाम रूपात्मक संसार ब्रह्म का परिणाम नहीं हो सकता है। क्योंकि इस ब्रह्म परिणामवाद सिद्धान्त के विरोध में दो विकल्प उठते हैं–क्या ब्रह्म सर्वथा अपना अस्तित्व खोकर सांसारिक वस्तु रूप में परिणत होता है? या अंशतः संसार रूप में परिणत होता है प्रथम कल्प सम्भव नहीं है। इसमें ब्रह्म का अस्तित्व ही नष्ट हो जाएगा। वेदान्त मतवाद के समर्थक विद्वान् '**यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते**' नित्यत्व के इस लक्षण का उद्धरण देते हुए ब्रह्म को उसी रूप में मानते हैं। यदि ब्रह्म अपना अस्तित्व खोकर सांसारिक नाम रूपात्मक वस्तु रूप में परिणत होता है–यह माना जाए तो उक्त मान्यता का सर्वथा विपरीत सिद्ध हो जाएगा।

दूसरा कल्प भी असम्भव है। ब्रह्म अंशतः संसार रूप में परिणत होता है–इसका अर्थ होता है कि वह अंशशाली है अर्थात् सावयव है। और तब उसे अनित्य मानना होगा। क्योंकि नियम है कि सावयव पदार्थ अनित्य होता है। वेदान्ती दार्शनिकों को किसी भी स्थिति में ब्रह्म की अनित्यता मान्य नहीं है। अतएव संसार आंशिक ब्रह्म का परिणाम है–यह कदापि प्रमाण से संगत नहीं हो सकता है।

ब्रह्म परिणामवादी यह नहीं कह सकता है कि तत्त्व से अनुगत ब्रह्म का परिणाम संसार है। क्योंकि तब वह परिणाम ही नहीं रहेगा। परिणाम होने से वस्तु में विकार होता है। जैसे दूध से परिणाम दही में दूध से विलक्षणता पाई जाती है।और यह सम्भव नहीं है कि ब्रह्म सांसारिक वस्तु रूप में परिणत होकर स्वरूप की रक्षा भी करेगा। परिणाम का स्वभाव है वस्तु में विकार लाना और ब्रह्म का स्वभाव है यथावत् स्थिर रहना जो परस्पर विरुद्ध है। उसका सामनाधिकरण्य–एक अधिकरण में रहना असम्भव है। यह नियम है कि परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले पदार्थ एक अधिकरण में नहीं रहते है। यह कदापि सम्भव नहीं है कि जिसका विभाग नहीं होता है, जो एक है ज्ञानस्वरूप है, वह सांसारिक वस्तुओं के रूप में परिणत होकर विभागशाली बने। अनेक नामों से विभिन्न वस्तुओं के रूप में पुकारा जाए। अतएव यह उपपन्न होता है कि संसार को ब्रह्म का परिणाम[१] मानना सङ्गत नहीं है।

संसार ब्रह्म का विवर्त भी नहीं है। शुक्ति में चाकचिक्य के कारण रजत का भ्रम होता है। इसी भ्रम के लिए अविद्या से रजत की उत्पत्ति मानी जाती है। क्योंकि प्रत्यक्ष में इन्द्रिय तथा विषय का संयोग कारण होता है और यहाँ रजत की उत्पत्ति ही विवर्त पदार्थ है। यहाँ नैयायिक का कहना है कि भ्रम के लिए, भ्रम होने से पहले, जिसमें जिस वस्तु का भ्रम होता है, उन दोनों में रहने वाला सामान्य धर्म का ज्ञान तथा उन दोनों के अपने विशेष धर्मों का अज्ञान अपेक्षित है। अन्यथा भ्रम नहीं हो सकता है।

---

१. यह आपत्ति विकृतपरिणामवादियों के लिए दी गयी है। अविकृत परिणामवाद इस आपत्ति से मुक्त है।

प्रकृत में शुक्ति में रजत के भ्रम स्थल में सामान्य धर्म चाकचिक्य का ज्ञान रहता है और विशेष धर्म शुक्ति के पृष्ठ भाग के मालिन्य आदि का ज्ञान नहीं रहता है। अतएव थोड़ी देर के लिए शुक्ति को व्यक्ति चाँदी समझ लेता है। यहाँ वह रजत है-इस प्रतीति में चाकचिक्य से पूर्वदृष्ट रजत का स्मरण ज्ञानलक्षणात्मक अलौकिक सन्निकर्ष से होता है तथा शुक्ति रूप अंश में विषय तथा चक्षुष का संयोग रूप लौकिक सन्निकर्ष होता है। इन दोनों सन्निकर्षों से उक्त भ्रमात्मक ज्ञान होता है। यहाँ आविद्यिक रजत की उत्पति के अभाव में लौकिक सन्निकर्ष उपपन्न नहीं हो सकता है। और यह उसका भ्रमात्मक ज्ञान होता है। किन्तु जो व्यक्ति शुक्ति के पृष्ठभाग का मालिन्य देख लेता है अर्थात् उसके विशेष धर्म से अवगत हो जाता है, उसे भ्रम नहीं होता है। इसी तरह पूर्व परिचित अंश रहित एक एवं स्वसंवेदन रूप ब्रह्म का ज्ञान जब व्यक्ति को रहेगा और उस ब्रह्म के विशेष धर्म अविकृतत्व का ज्ञान नहीं रहेगा तब सामान्य ज्ञान से संसार को उसका विवर्त माना जा सकता है। किन्तु उन दोनों का समावेश ही यहाँ नहीं है। न उस ब्रह्म के विशेष रूप का अज्ञान ही है, न सामान्य ज्ञान ही। अतएव उपपन्न होता है कि यह संसार ब्रह्म का विवर्त भी नहीं है। दूसरी युक्ति यह है कि शुक्ति रूप दृष्टान्त विवर्त के बिना भी उपपन्न होता है। अतएव आविद्यिक रजत की उत्पत्ति गौरव से ग्रस्त तथा प्रयोजन रहित है।

नैयायिक की मान्यता है कि ईश्वर संसार का निमित्त कारण है। धर्म एवं अधर्म की अपेक्षा करके ही वह भी संसार की रचना करता है। अन्यथा पुरुष कर्म जन्य अदृष्ट के बिना भी सुख दुःख आदि का भोग उसे होने लगेगा।

'तत्कारितत्वादहेतुः'[१] इस सूत्र की तात्पर्यटीका में **वाचस्पति मिश्र** ने कहा है कि जीवकर्म निरपेक्ष केवल ईश्वर कारणतावाद एवं ब्रह्म उपादानकारणतावाद अर्थात् ब्रह्मपरिणामवाद एवं ब्रह्मविवर्तवाद के उपर्युक्त हेतुओं के बल पर खण्डन हो जाने के बाद अब **महर्षि गौतम** अपनी मान्यता उपस्थित करते हैं।[२]

संसार का उपादान कारण परमाणु है और पुरुष कर्म जन्य अदृष्ट की अपेक्षा करता हुआ ईश्वर उसका निमित्त कारण है। जो जिसकी अपेक्षा करता है वह उसका भी कारण हो सकता है। ईश्वर को पुरुष कर्म अपेक्षित है, फिर भी उनका निमित्त कारण ईश्वर ही है। **पुरुषकार**- जिन कर्मों को पुरुष करता है- ईश्वर के द्वारा सम्पादित होता है। अतएव उसका निमित्त कारण ईश्वर सिद्ध हुआ।

---

१. न्या० सू० ४।१।२१

२. तदेवमीश्वरोपादानत्वं च ब्रह्मविवर्तत्वं च निरपेक्षेश्वरनिमित्तत्वं च निराकृत्याभिमतं पक्षं गृह्णाति। न्या०सू० ४।१।२१। की तात्पर्यटीका भूमिका भाग।

धर्म तथा अधर्म रूप अदृष्ट संसार की रचना में ईश्वर का सहायक है। फलतः जीव कर्म सापेक्ष ईश्वर में संसार की निमित्त कारणता आती है। जीवों का कर्म ही केवल संसार का निमित्त कारण है इस पक्ष में तथा जीव कर्म निरपेक्ष केवल ईश्वर ही संसार का निमित्त कारण है– इस पक्ष में **पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः**, यह वाक्य हेतु नहीं होता है। यही उक्त सूत्र का अभिप्राय है। **वाचस्पति मिश्र** के मतानुसार इस सूत्र का अभिप्राय यह होगा कि ब्रह्म उपादान कारणतावाद के समर्थन में भी उपर्युक्त वाक्य हेतु नहीं होता है।

सारांश यह कि अदृष्ट सापेक्ष ईश्वर इस संसार का निमित्त कारण है–यही नैयायिकों की मान्यता है। यह मान्यता विविध प्रमाणों से उपर्युक्त रीति से पुष्ट होती है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि न्याय सम्प्रदाय ईश्वर को सगुण मानता है। संसार का निमित्त कारण ईश्वर, आत्मा का ही एक प्रकार है, अतएव द्रव्य है। और द्रव्य सगुण होता ही है। यद्यपि ईश्वर के गुणों की संख्या के सम्बन्ध में नैयायिकों में ऐकमत्य नहीं है तथापि कुछ गुण ऐसे हैं जो ईश्वरात्मक आधार में सर्वमान्य होकर रहते हैं। यद्यपि **भाष्यकार वात्स्यायन** ने ईश्वर के कितने गुण हैं एवं कौन कौन से गुण हैं– इत्यादि विषयों की चर्चा नहीं की है तथापि इतना तो अवश्य कहा है कि वह सगुण है। गुण से युक्त आत्मविशेष ही ईश्वर है।[१]

वार्तिककार **उद्योतकर** ने पहले ईश्वर को छह गुणों का आश्रय कहा है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग तथा बुद्धि–इन छह गुणों का आश्रय ईश्वर है।[२] किन्तु पश्चात् नित्य बुद्धि की तरह नित्य इच्छा का भी आधार उसे माना है।[३] केवल इन्होंने प्रयत्न का उल्लेख नहीं किया है। इससे प्रमाणित होता है कि **उद्योतकर** के मत से ईश्वर में उपर्युक्त सात गुण रहते हैं।

यहाँ **वाचस्पति मिश्र** ने तात्पर्यटीका में यद्यपि इस प्रसंग में **उद्योतकर** पर ही अपना भार डाल दिया है। उन्होने कहा है कि ईश्वर के ज्ञान आदि गुणों का उपपादन

---

१. गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः ।४।१।२१ न्यायभाष्य।

२. तत्र हि नित्या बुद्धिः, संख्यादयश्च सामान्यगुणाः। षड्गुण आकाशवदीश्वर इति। संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागबुद्धय एव तस्य गुणाः। न्या०वा०पृ० ९५।१।

३. इच्छा तु विद्यतेऽक्लिष्टाऽव्याहता सवार्थेषु यथा बुद्धिरिति। न्या०वा० पृ०९५२।

वार्त्तिककार स्वयं करेंगे ही।[1] तथापि कुछ अंश में **उद्योतकर** के साथ इनका मतभेद परिलक्षित होता है। **वाचस्पति मिश्र** का कहना है कि नित्य ज्ञान की तरह नित्य इच्छा तथा नित्य प्रयत्न भी ईश्वर में सर्वदा विद्यमान रहते हैं और ये इनके सकर्तृकत्व के साधक है।[2] किन्तु वार्त्तिक में अधिक गुण के व्यवच्छेदक पद नहीं है। एक नियम सा ही व्यवहार में पाया जाता है कि जो जिसका कर्त्ता होता है उसमें उसका ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न अनिवार्य रूप से रहता ही है। ईश्वर को यदि संसार के कर्त्ता रूप में माना गया है तो उसमें चराचरात्मक इस संसार का ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न विद्यमान होंगे। ईश्वर साधक प्रमाणों के द्वारा ही इन पदार्थों की स्थिति भी ईश्वर में सिद्ध होती है। कर्त्ता में ज्ञान इच्छा तथा यत्न का अस्तित्व निश्चित रूप से रहना आवश्यक है। अन्यथा ईश्वर में नित्य प्रयत्न की सत्ता नहीं मानने से–उसकी कर्तृता ही नहीं सिद्ध हो सकती है।

परवर्त्ती विद्वान् आचार्य **उदयन** ने **वाचस्पति मिश्र** के साथ मतैक्य होकर आत्मतत्त्वविवेक में कहा है कि सकल विषयक ज्ञान का अस्तित्व ही ईश्वर में इच्छा तथा प्रयत्न का अस्तित्व बना देता है।[3] **उदयन** की वार्त्तिक एवं तात्पर्यटीका में समन्वय की रीति यहाँ स्पृहणीय है।

महामहोपाध्याय **फणिभूषणतर्कवागीश** ने ईश्वर में प्रयत्न की सत्ता सिद्ध करने के लिए प्राचीन विद्वानों से अस्पृष्ट एक विलक्षण युक्ति उपस्थित की है। वह यह कि कृ धातु का अर्थ नैयायिकों ने कृति माना है, वह यत्न का पर्याय है–यह सबों को ज्ञात है। कृतिमान् अर्थात् जिसमें कृति रहती है–कर्त्ता है। इससे सिद्ध होता है कि कर्तृपद का मुख्य अर्थ होता है प्रयत्नवान्। अब संसार के कर्त्ता होने के नाते ईश्वर में प्रयत्न अनिवार्यतः रहेगा ही। हो सकता है कि प्राचीन आचार्यो ने भी इसे सोचा हो किन्तु उनमें से किसी ने इस तरह से प्रतिपादित[4] नहीं किया है। इसलिए यह युक्ति यहाँ म.म. तर्कवागीशजी के नाम से ही उठायी गयी है।

महानैयायिक जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में **आचार्य उदयन** के द्वारा उपपादित ईश्वर में रहने वाले गुणों को उदयन से पहले ही स्वीकार कर चुके हैं और धर्म तथा

---

१. गुणा ईश्वरस्य ज्ञानादीन्युपपादयिष्यति वात्तिककारः।

२. बुद्धि वदिच्छाप्रयत्नावपि तस्य नित्यौ सकर्तृकत्व-
साधनान्तर्गतौ वेदितव्यावित्यादि। ता०टी०पृ० ९५६।

३. सर्वगोचरे ज्ञाने सिद्धे चिकीर्षाप्रयत्नयोरपि तथाभावः
आत्मतत्त्वविवेक पृ० ३९०।

४. द्रष्टव्य न्यायभाष्य की वंगभाषामयी व्याख्या चतुर्थ खं० पृ०७२।

नित्य सुख का आश्रय भी ईश्वर को कहा है।[1] आत्मतत्वविवेक की टिप्पणी में परवर्ती नैयायिक रघुनाथगिगिमणि ने ईश्वर में नित्य सुख का अस्तित्व माना है। अतएव आनन्द शब्द का मुख्य अर्थं में ही प्रयोग किया है। किन्तु आधुनिक नैयायिक **गदाघर** ने दीधिति के मंगलाचरण में प्रयुक्त-**अखण्डानन्दबोधाय**[2] इस पद के आनन्द शब्द का दुःखाभाव रूप अर्थ लिया है। अतएव सिद्ध होता है कि **गदाघर भट्टाचार्य** के मत से नैयायिक सम्प्रदाय आत्मा में नित्य सुख नहीं मानता है। क्योंकि सुख एवं दुःख शरीर विशिष्ट आत्मा में ही रहते हैं ईश्वर शरीरी नहीं है। अतएव उसमें सुख नहीं रह सकता है।[3] नित्य सुख में प्रमाण नहीं है। महानैयायिक **जयन्तभट्ट** के मत में ईश्वर की इच्छा अनित्य एवं उत्पत्ति से युक्त भी होती है। इनका कहना है कि सृष्टि तथा प्रलय के बीच में संसार के अस्तित्व के समय में अमुक कार्य करने से पुरुष को अमुक फल मिले- इस तरह की ईश्वरीय इच्छा का प्रादुर्भाव होता है।[4] यद्यपि इन्होंने ईश्वर की नित्य इच्छा का आदि में समर्थन किया है।[5]

इसका समाधान करते हुए भाष्यकार **वात्स्यायन** ने कहा है कि ईश्वर अधर्म, मिथ्याज्ञान तथा प्रमाद आदि से रहित है और धर्म, ज्ञान, समाधि तथा ऐश्वर्य आदि गुणों से विभूषित है। संसारी आत्मा में अधर्म तथा मिथ्याज्ञान आदि रहते हैं जो ईश्वर में नहीं है। मुक्त आत्मा में धर्म तथा ज्ञान आदि नहीं रहते हैं अथवा एक शब्द में वह निर्गुण होता है किन्तु ईश्वर में उक्त गुणों का समावेश है। अतएव ईश्वर आत्मा के उपर्युक्त दोनों प्रकारों से विलक्षण ही अपना स्वरूप रखता है। सगुण पदार्थ द्रव्य ही होता है। उसमें भी बुद्धि आदि आत्म विशेष गुण है, जो आत्मा को छोड़ कर अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। अतएव ईश्वर आत्म विशेष रूप ही है।

---

१. धर्मस्तु भूतानुग्रहवतो वस्तुस्वाभाव्याद्भवन्न वार्यते। तस्य च फलं परमार्थ-निष्पत्तिरेव। सुखन्त्वस्य नित्यमेव नित्यानन्दत्वेनागमात् प्रतीतेः
न्या०म०पृ० १८५।

२. असुखितस्य चैवंविधकार्यारम्भयोग्यताभावात्।
अखण्डानन्दबोधाय पूर्णाय परमात्मने।
मंगल, बौद्धाधिकार टिप्पणी तथा अनुमितिसंगति।

३. अत्र नित्यसुखज्ञानवते नित्यसुखज्ञानात्मकाय इति यथा व्याख्यानं वेदान्तिनामेव शोभते नैयायिकानां तैर्नित्यसुखस्यात्मनि
ज्ञानसुखाभेदस्य वाऽनभ्युपगमात्।गादाधरीटीका।

४. सर्गसंहारयोरन्तराले तु जगतः स्थित्यवस्थायाम् अस्मात् कर्मण
इदमस्यं सम्पद्यतामितीच्छा भवति प्रजापतेः। न्या० म० पृ० १८५।

५. इच्छा स्वरूपमात्रेण नित्याऽपि..........। न्या०म०पृ० १८५।

पहले ही कहा जा चुका है कि **वात्स्यायन** ने कहा है कि ईश्वर के अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य उसके धर्म तथा समाधि के फल हैं। ईश्वर के संकल्प से धर्म उत्पन्न होता है। वह प्रत्येक जीव के अदृष्ट समष्टियों को तथा पृथिवी आदि भूतवर्गों की सृष्टि के लिए प्रवृत्त कराता है। ईश्वर के स्वकृत कर्मों के फलों का लोप नहीं हो, इसलिए निर्माणप्राकाम्य–केवल इच्छा होने से संसार की सृष्टि करना–उसके स्वकृत कर्म का फल कहा गया है।

तात्पर्यटीकाकार **वाचस्पति मिश्र** ने कहा है कि ईश्वर यदि कर्म का अनुष्ठान नहीं करता है तो उसे धर्म नहीं हो सकता है। क्योंकि धर्म के प्रति कर्म को कारण माना गया है। कारण के अभाव में कार्य नहीं होता है। धर्म के बिना अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य ईश्वर में उत्पन्न नहीं होते हैं। अतएव अकृताभ्यागम अर्थात् जो कर्म नहीं किया गया है उसकी फलप्राप्ति रूप आपत्ति होने लगेगी। इसलिए भाष्यकार का कहना है कि ईश्वर के केवल संकल्प से धर्म उत्पन्न होता है। वह भूत वर्गों को सृष्टि में प्रवृत्त कराता है। ईश्वर में बाह्य कर्म नहीं रहने पर भी सृष्टि से पहले उसका संकल्प रूप अनुष्ठान से उसके धर्म विशेष की उत्पत्ति होती है। इसी धर्म का फल है ऐश्वर्य की प्राप्ति और ऐश्वर्य का फल है निर्माण का प्राकाम्य ।

ईश्वर साधक प्रमाण जो विरोधी तर्क के द्वारा असंगत सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षियों का कहना है कि ईश्वर कर्त्ता नहीं हो सकता है। क्योंकि कारक[१] के दो प्रकार होते हैं–अर्थित्व और अनर्थित्व। जिसकी जिससे प्रयोजन सिद्धि की संभावना रहती है वह (अर्थी) कार्य करने में प्रवृत्त होता है। अतएव अर्थित्व के साथ कारकत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध पाया जाता है। ईश्वर को कुछ प्रयोजन हो ही नहीं सकता है अन्यथा उसके ऐश्वर्य का व्याघात हो जाएगा।

बिना प्रयोजन से अचेतन पदार्थ ही कार्य के करने में प्रवृत्त कराया जाता है। जैसे घट से मिट्टी का कुछ भी प्रयोजन नहीं है किन्तु उससे घट बनाया जाता है। अतएव यदि प्रयोजन नहीं रहने पर भी ईश्वर में कर्तृता मानी जाए तो उसमें भी अचैतन्य रहने लगेगा अर्थात् उसका अचेतन होना रूप आपत्ति हो जाएगी।

कारक आत्मा या उससे भिन्न पदार्थ होते हैं। ईश्वर को आत्मरूप नहीं माना जा सकता है। क्योंकि आत्मा में अनित्य ज्ञान आदि गुण रहते हैं। ईश्वर भी यदि आत्मरूप होगा तो उसमें अनित्य ज्ञान आदि गुण रहने लगेंगे। उससे भिन्न पदार्थ भी ईश्वर नहीं हैं क्योंकि आत्मा से भिन्न सभी पदार्थ अचेतन होते हैं। अतएव ईश्वर भी अचेतन हो जाएगा।

---

१. करोति क्रियां निष्पादयति इति कारकः, कारणसामान्यार्थकः क्रियाजनकं कारकं भवतीति लक्षणं चेतनाचेतनसाधारणम्।

करुणा या उसका अभाव चेतन को प्रवृत्त कराता है। ईश्वर यदि करुणा से सृष्टि में प्रवृत्त होगा तो वह दुःख का उत्पादन नहीं कर सकता है। करुणा की परिभाषा- **करुः क्लेश इति ख्यातः क्लेशं न सहते यतः। यस्य धीः करुणा सा स्यात्।** भाव प्रकाशन में **शारदातनय** ने की है। दुःख के हटाने के लिये जो प्रवृत्त होगा वह दुःख का सृजन कैसे करेगा।

यदि ईश्वर में करुणा नहीं है और सृष्टि में प्रवृत्त होता है तो वह राग द्वेष आदि गुणों से भी युक्त होगा। क्योंकि प्रवृत्त होता है और करुणा नहीं हैं, तो स्वतः सिद्ध है कि वह राग तथा द्वेष आदि से प्रेरित होकर प्रवृत्त होगा।

इन सभी तर्कों में ईश्वर जबतक सिद्ध नहीं हुआ है तब तक आश्रयासिद्धि नामक हेत्वाभास विद्यमान है। क्योंकि इन सारे तर्कों का आश्रय ईश्वर है जो अभी सिद्ध नहीं हुआ है।

कोई भी व्यक्ति किसी कार्य को निरुद्देश्य नहीं करता है। अन्यथा जल ताड़न आदि कार्य में-जिससे किसी भी उद्देश्य की सिद्धि सम्भव नहीं है-लोगों की प्रवृत्ति देखी जाती। अब प्रश्न उठता है कि जिसको सब कुछ मिल गया है। कुछ भी इस संसार में प्राप्य नहीं है, उस अखण्ड ऐश्वर्यशाली ईश्वर को संसार की सृष्टि से क्या प्रयोजन है? और प्रयोजन नहीं रहने से वह प्रवृत्त ही क्यों होगा? इसके उत्तर में **वाचस्पति मिश्र** ने कहा है कि संसार के निर्माण से यद्यपि ईश्वर की स्वार्थसिद्धि नहीं होती है, तथापि जीवों को अनुगृहीत करने के लिए ही वह इसमें प्रवृत्त होता है। यहाँ इन्होंने भाष्यकार का ही अनुसरण किया है। उनका कहना है कि जैसे पिता अपने सन्तानों का भरणपोषण अनुग्रह से करता है उसी तरह प्राणियों के ऊपर अनुग्रहशील ईश्वर उसका भरण पोषण करता है। अतएव ईश्वर प्राणियों का पितृतुल्य है।

किन्तु न्यायवार्त्तिककार **उद्योतकर** का कहना है कि जैसे पृथिवी का स्वभाव है धारण करना, उसी तरह ईश्वर का स्वभाव है संसार का निर्माण करना। अतएव प्रश्न ही नहीं उठता है कि वह संसार का निर्माण क्यों करता है। स्वभाव को छोड़कर एक क्षण के लिए भी किसी की स्थिति सर्वथा असम्भव है। स्वभाव का परिवर्तन भी सम्भव नहीं है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर संसार की रचना क्यों करता है। इसके समाधान में भी **उद्योतकर के** साथ **वाचस्पति मिश्र** का मतैक्य नहीं है। एक यदि स्वभाव से संसार की रचना में ईश्वर की प्रवृत्ति मानते हैं तो अपर करुणा से उसकी प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते है।

आत्मा से भिन्न प्रकार ईश्वर का नहीं हो सकता है-भाष्य की इस पंक्ति की भूमिका में **वाचस्पति मिश्र** ने कहा है कि ईश्वर आत्म रूप नहीं हो सकता है। क्योंकि आत्मा अनित्य ज्ञान आदि गुणों से युक्त रहता है और ईश्वर में इसकी भिन्नता पाई जाती

है। ईश्वर में अनित्य गुणों का समावेश नहीं है अपि तु नैयायिकों ने नित्य ज्ञान का आश्रय उसे माना है। किन्तु इसका समाधान यह है कि जैसे करका आदि में अनित्य रूप एवं अनित्य स्पर्श आदि की उपलब्धि होती है किन्तु वह जलात्मक है–इसमें विवाद नहीं है। जल में बाहुल्येन अनित्य स्पर्श आदि गुणों की उपलब्धि होती है फिर भी इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि जलीय परमाणु भी नित्य रस आदि गुणों का आश्रय नहीं हो सकता है। इसी तरह जीव में अनित्य ज्ञान आदि गुणों के रहने पर भी नित्य बुद्धि के आश्रय होने से उसे आत्मा का ही प्रकार मानना होगा। आत्मा से भिन्न प्रकार का वह हो ही नहीं सकता है, भले ही जीव में अनित्य गुणों के रहने से तथा ईश्वर में नित्य गुणों के रहने से दोनों में आंशिक भेद हो।

करुणा से प्रेरित होकर ईश्वर संसार के निर्माण में प्रवृत्त होता है–**वाचस्पति** के इस सिद्धान्त में प्रश्न उठता है कि इस स्थिति में ईश्वर केवल सुखियों का ही सृजन करेगा। कदापि भूल से भी दुःखियों का सृजन नहीं कर सकता है। जीव में रहने वाले धर्म और अधर्म की सहायता से संसार में विचित्रता आती है। जो व्यक्ति धर्माचरण में रत है उसे सुख मिलता है, जिसका आचरण धर्ममूलक नहीं है अथवा जो अधर्म करता है उसे दुःख का भोग अवश्य होता है। किन्तु यह कथ्य भी ठीक नहीं है। क्योंकि किसी से यदि वह (अदृष्ट) अधिष्ठित नहीं है तो फिर अचेतन होने से स्वतः किसी कार्य को नहीं कर सकता है। अचेतन पदार्थ चेतन की सहायंता के अभाव में कार्य करने का सामर्थ्य ही नहीं रखता है। ईश्वर कारुणिक है, अतएव उसका अधिष्ठाता होना असम्भव है।

ईश्वर की अनुकम्पा से यदि सृष्टि का विधान माना जाए तो दुःखियों की सृष्टि ही रुक जाएगी। कोई भी किसी को दुःख देने की कृपा नहीं करता है। अपि तु उससे उद्धार के लिए कृपा करता है। संसार में सुखी एवं दुःखी सभी प्रकारों के जीवों के समावेश होने से संसार का वैचित्र्य प्रत्यक्ष सिद्ध है। फलतः ईश्वर के अनुग्रह प्रयुक्त सृष्टि का विधान मानना न समुचित है न सम्भव है। और यही युक्ति है जो ईश्वर को नहीं सिद्ध होने देता है।

न्यायभाष्य में इसका समाधान इस प्रकार है–जीवों के पूर्वकृत कर्मों के फल रूप धर्म तथा अधर्म के समूह की अपेक्षा नहीं करके सृष्टि कार्य में प्रवर्तमान इस ईश्वर के सम्बन्ध में अनिवार्य रूप से उन आपत्तियों का समावेश होता है, जो शरीर की सृष्टि को कर्म निमित्तक नहीं मानने पर कहे गये हैं। **वाचस्पति मिश्र** ने उक्त भाष्यपंक्ति की व्याख्या में कहा है कि यद्यपि ईश्वर कारुणिक है तथा जीव की अपेक्षा अधिक महिमाशाली है तथापि वह किसी वस्तु के सामर्थ्य की अन्यथा नहीं कर सकता है। अतएव उत्पत्तिशील वस्तु अधर्म आदि ईश्वर के प्रभाव से नित्य नहीं हो सकते हैं। फल उत्पादन करके नष्ट होना जिसका स्वभाव है वह अधर्म आदि फल बिना दिए हुए कभी

नष्ट नहीं हो सकता है। अतः मानना होगा कि जीव के अदृष्ट की सहायता से अर्थात् उसका उल्लङ्धन नहीं करके ईश्वर अधर्म को भी अधिष्ठित करता है और तब अधर्म के अनुसार दुःख विधान भी जीवों के लिए उन्हें करना ही पड़ता है। अधर्म से निवृत्ति के लिए ईश्वर जीव को दुःख देकर शिक्षा भी देता है कि कुकर्म में पुनः उसकी प्रवृत्ति न हो।

इसका सारांश यही है कि ईश्वर कारुणिक होकर भी अदृष्ट के साहाय्य से वस्तुओं के स्वभाव के अनुकूल संसार की रचना करता है। जैसे न्यायाधीश कारुणिक होकर भी दोष देखकर अपराधी को सजा देता है और निरपराध को दोषमुक्त होने की घोषणा करता है। न्यायभाष्य की उपर्युक्त पंक्तियों से इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है।

यहाँ परिशुद्धि में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि ईश्वर को स्वार्थ नहीं है, इसी से निश्चय किया जाता है कि वह परार्थ ही सृष्टि के लिए प्रवृत्त होता है। वह करुणा से प्रवृत्त होता है। इसलिए तब तक वह प्रवृत्त होता रहेगा जब तक दूसरों के दुःख का निर्मूल उपशम नहीं हो जाता है।[१]

वाचस्पति मिश्र का कहना है कि इस चराचरात्मक संसार में जितने पदार्थ उपलब्ध हैं, उनका विभाजन तीन भागों में होता है। कुछ ऐसे प्रदार्थ हैं जो मानव के द्वारा निर्मित होते हैं। कुछ ऐसे हैं जो निर्मित ही नहीं होते हैं। जैसे घट पट आदि मानव कर्तृक पदार्थ प्रसिद्ध ही हैं। आकाश, काल तथा दिशा आदि किसी भी स्थिति में अकर्तृक ही है। किन्तु कुछ ऐसे पदार्थ हैं जिनमें सन्देह है कि ये अकर्तृक है या सकर्तृक। यदि सकर्तृक है तो फिर कौन इनके कर्त्ता हैं? जिन वस्तुओं के निर्माण का किसी ने प्रत्यक्ष नहीं किया है, इन पदार्थो को **वाचस्पति** के शब्द में सन्दिग्धकर्तृक कहा जाता है। पृथिवी, पर्वत, सागर तथा नदी प्रभृति इस तरह के पदार्थ हैं। इन पदार्थों का कर्त्ता है या नहीं – इन विप्रतिपत्तिमूलक दोनों पक्षों में किसी एक पक्ष का पोषक प्रमाण नहीं मिलता है। अतएव उभय पक्ष में ही साधक एवं बाधक प्रमाणों का अभाव है एवं प्रमेयत्व रूप सामान्य धर्म है। अतएव संशय सामग्री की उपस्थिति में संशय होता है कि ये पदार्थ सकर्तृक है अथवा अकर्तृक ?

यहाँ बौद्ध प्रतिपक्षी **आचार्य धर्मकीर्ति** ने–सिद्धँ 'यादृगधिष्ठातृ' इत्यादि कारिका के द्वारा उक्त संशय के निषेध कोटि का समर्थन किया है। किन्तु **वाचस्पति मिश्र** ने इसका खण्डन किया है–परमाणु प्रभृति बहुत ऐसे पदार्थ हैं जो सबों के दृश्य नहीं होते हैं। अब अदृश्य होने से यदि वस्तु का अस्तित्व ही मिट जाए तो इन पदार्थों की सत्ता ही

१.स्वार्थाभावात् परार्था तावन्निश्चिता प्रवृत्तिरीश्वरस्य। सा च परस्य सकल-दुःखोपशमपर्यन्तत्वात् कारूण्येनेत्येतदपि निश्चितम्। ४।१।२१ ता०प०।

नहीं सिद्ध हो सकती है। किन्तु उसका अस्तित्व वादी तथा प्रतिवादी दोनों को मान्य है। अतएव अदृश्य वस्तु का अस्तित्वाभावकथन रूप उक्त नियम कदापि मान्य नहीं हो सकता है। इसी तरह जो वस्तु इन्द्रियगम्य है केवल उसी को सकर्तृक मानना निर्युक्तिक है। अन्यथा परमाणु आदि के इन्द्रियगम्य नहीं होने से बौद्ध के मतानुसार इसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा।

नैयायिक सम्प्रदाय उक्त संदिग्धकर्तृक पदार्थो के अनुमान प्रमाण के आधार पर सकर्तृक सिद्ध करता है। इस का कहना है कि जो पदार्थ उत्पत्तिशील है वे सकर्तृक होते हैं-किसी कर्त्ता की सहायता से स्वरूप लाभ करते हैं। किन्तु ये उत्पत्तिशील है इसीमें क्या प्रमाण है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जिसका उपादान अचेतन होता है वह उत्पतिशील अवश्य होता है। उदाहरण के लिए घट का उपादान मिट्टी अचेतन है अतएव घट उत्पत्तिशील है। पृथिवी आदि का उपादान भी अचेतन है। अतएव उसको उत्पत्तिशील होना ही होगा। जो पदार्थ सावयव होते हैं, वे उत्पन्न अवश्य होते हैं। जैसे शरीर आदि का सावयव होना प्रसिद्ध ही है, अत: उनका उत्पन्न होना भी सुनिश्चित है। पृथिवी आदि भी सावयव होते हैं, अतएव उनका भी उत्पन्न होना निश्चित ही होगा। जिसमें महत्त्व तथा क्रिया देखी जाती है वह उत्पत्तिशील अवश्य होता है। जैसे वस्त्र महत्त्वशील है एवं क्रिया भी उसमें रहती है, अतएव वह उत्पन्न होता है। इसी तरह पृथिवी आदि में भी महत्त्व तथा क्रिया मिलती है, अतएव उनका भी उत्पत्ति से युक्त मानना ही होगा।

वाचस्पति मिश्र ने पृथिवी आदि सन्दिग्धकर्तृक पदार्थो में कार्यत्व प्रमाणित करने के लिए उपर्युक्त तीन युक्तियाँ उपस्थित की है। अब प्रश्न होता है कि जैसे घट आदि प्रसिद्ध कार्यो का कर्त्ता कुम्भकार प्रभृति प्रसिद्ध है, इसी तरह पृथिवी आदि कार्यों का कर्त्ता कौन होगा? इसका समाधान यह है कि कर्त्ता को उपादान का साक्षात्कारात्मक ज्ञान अपेक्षित है, जिससे किसी अन्य कार्य के उपादान से भिन्न कार्य का उत्पादन करने का प्रयास करते हुए वह विफल न हो जाए। पृथिवी आदि के उपादानों का प्रत्यक्ष हमलोगों को नहीं हो सकता है। अतएव सर्वज्ञ ईश्वर उसके कर्त्ता रूप में सिद्ध होता है।

शंका होती है कि बौद्ध दर्शन का कर्म चेतन तथा मीमांसा दर्शन का क्षेत्रज्ञ चेतन संसार का कर्त्ता क्यों न होगा? इसी से चेतन कर्त्ता का होना सिद्ध है- अतएव नैयायिक का उपर्युक्त अनुमान सिद्ध साधन से युक्त है। जो पदार्थ स्वयं किसी प्रकार से सिद्ध है उसे सिद्ध करने का जो प्रंयास किया जाता है वहाँ सिद्धसाधन दोष होता है। किन्तु इसका समाधान यह है कि उपर्युक्त क्षेत्रज्ञ चेतन तथा कर्मचेतन सांसारिक यावतीय पदार्थो के उपादानों का ज्ञान नहीं रखता है। अतएव वह कर्त्ता नहीं हो सकता है। किसी वस्तु के कर्त्ता होने के लिए उसके उपादान का साक्षात्कार होना आवश्यक है। अतएव

ईश्वर की सिद्धि का प्रयास युक्ति संगत है। यदि उक्त कर्म चेतन तथा क्षेत्रज्ञ चेतन सांसारिक सभी वस्तुओं के उपादानों का साक्षात्कारात्मक ज्ञान रखता है तो वही ईश्वर है। नैयायिक के साथ तब अंशतः भी विरोध नहीं है। नैयायिक का ईश्वर सर्वज्ञ होता है। कर्म चेतन आदि ही यदि सर्वज्ञ है तो केवल नाम में विरोध है जिसका कुछ मूल्य नहीं होता।

पृथिवी, पर्वत आदि सन्दिग्धकर्तृक कार्य सकर्तृक होते हैं कार्यत्व रहने से। नैयायिक के ईश्वर साधक इस अनुमान में दृष्टान्त में साध्यविकलता दोष नहीं है। प्रकृत में घट पट आदि प्रसिद्ध कार्य दृष्टान्त होते हैं; जहाँ कुम्भकार एवं जुलाहा आदि का कर्तृत्व निर्विवाद है। यहाँ हेतु की विरुद्धता रूप आपत्ति भी नहीं होती है। यह तब सम्भव था यदि घट पट आदि प्रसिद्ध कार्य अपने उपादान से अनभिज्ञ कर्त्ता के द्वारा सम्पादित किया गया होता। घट आदि दृष्ट कार्य के सम्पादन के समय में कुम्भकार उक्त कार्य के उपादान से अनभिज्ञ रहता है- यह बौद्ध दार्शनिकों को भी मान्य नहीं है।

धर्मकीर्त्ति के सिद्धं यादृगधिष्ठातृ इत्यादि श्लोक के अभिप्राय को उठाकर परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि दृष्टकर्त्ता कुलाल आदि शरीरी होता है। अतएव कर्त्ता कहने से अर्थतः शरीरी कर्त्ता का होना ही सिद्ध है। किन्तु ईश्वर का शरीर नहीं होता है। अतः उसका कर्त्ता होना भी प्रमाण विरुद्ध है। हेतु यदि साध्याभाव का व्याप्त होता है तो विरुद्ध नामक हेत्वाभास होता है। जैसे हिम अग्निमान् है क्योंकि उसमें तृण आदि के विकार पाये जाते हैं-किसी ने यह अनुमान किया। किन्तु तृण आदि के विकार से होने वाला उद्भूत रूप और उष्ण स्पर्श का विरुद्ध शीत स्पर्श प्रत्यक्षतः उपलब्ध होता है। इसलिए यह हेतु प्रत्यक्ष से बाधित है। यहाँ हेत्वाभास के विरुद्ध नामक प्रकार का होना सिद्ध है। इसी तरह किसी विषय का प्रत्यक्ष आत्मा तथा मनस के सन्निकर्ष एवं त्वक् तथा मनस के संयोग आदि से शरीरी को होता है। ईश्वर भी उक्त सन्निकर्ष से ही क्षिति आदि कार्यो के उपादानों का प्रत्यक्ष करेगा। क्योंकि त्वक् और मनस् दोनों का समावेश शरीर में ही है। अतएव उक्त संयोग शरीरी को ही हो सकता है। फलतः संयोग से अर्थापत्ति के द्वारा शरीर का आक्षेप होता है। ईश्वर का शरीर प्रमाण से सिद्ध नहीं है प्रत्युत बाधित है। अतएव शरीर के अभाव में उक्त सन्निकर्ष का होना असम्भव है। इसके अभाव में सभी कार्यो के उपादानों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है इसके नहीं होने से उसका कर्त्ता होना किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होगा। यदि आग में से उसके स्वभाव उष्णता और उद्भूत रूप को हटा देने पर भी उसकी सत्ता मानकर हिम को अग्निमान् माना जाए और वह संगत भी हो तभी अशरीर ईश्वर का कर्त्ता होना सम्भव है।

किन्तु यह सर्वथा अनुभव विरुद्ध है। इसलिए ईश्वर में कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता है। नैयायिक इस आपति को दूर करने के लिए कहता है कि व्यापक के अभाव में व्याप्य

का अभाव होता है। शरीर ज्ञान का व्यापक नहीं है, क्योंकि शरीर ज्ञान के प्रति कारण नहीं है। इसलिए शरीर के अभाव में ईश्वर में ज्ञान रह सकता है। अनित्य ज्ञान के प्रति त्वक् एवं मनस् के संयोग को कारण मानने पर भी नित्यज्ञान के प्रति उसकी कारणता सिद्ध नहीं है। अव्यापक की निवृत्ति से अव्याप्य की निवृत्ति में प्रमाण नहीं मिलता है। इसलिए शरीरी नहीं होने से ईश्वर में ज्ञान भी नहीं रहेगा– इसमें युक्ति नहीं है। दूसरी बात यह है कि शरीर के अभाव में ज्ञान भी ईश्वर में नहीं रहता यदि क्षिति आदि के उपादानों का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान शरीर का कार्य होता। किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। अव्यापक की निवृत्ति से अव्याप्य की निवृत्ति को नियम मानने पर मैत्र को घोड़ा नहीं है। अतएव गाय का भी नहीं रहना प्रामाणिक होने लगेगा, जो सर्वथा लौकिक अनुभव विरुद्ध है।

ज्ञान नित्य नहीं हो सकता है, व्यवहार में उसकी अनित्यता का बहुल प्रचार देखा जाता है–प्रतिवादी का यह कहना सर्वथा असंगत है। व्यवहार में अनित्य ज्ञान की बहुलता उसकी अनित्यता का प्रमाण नहीं है, न उसके नित्यत्व का बाधक ही है। इसमें प्रमाण नहीं मिलता है कि हिम तथा करका आदि रूप जल में अनित्य गुण रहते हैं। अतएव उसके परमाणुगत रूप आदि गुण भी अनित्य ही हो। वैशेषिकों का मत है कि जो सत् है तथा अकारण होता है वह नित्य पदार्थ है।[१]

शरीरी को ही ज्ञान होता हुआ देखा गया है। अतएव शरीर को व्यापक और ज्ञान को व्याप्य मानना चाहिए और तब उपर्युक्त रीति से ईश्वर का नहीं सिद्ध होना प्रमाणित होता है– यह कहना असंगत है। स्वाभाविक सम्बन्ध रूप व्याप्ति[२] जहाँ रहती है उसी स्थल में व्याप्यव्यापकभाव का विचार होता है। किन्तु प्रकृति में शरीर के साथ ज्ञान की व्याप्ति मानने में कार्यत्व उपाधि हो जाता है। कार्यत्व शरीर रूप साध्य का व्यापक है और ज्ञानात्मक साधन का अव्यापक भी। जहाँ ज्ञान रहता है उस स्थल में कार्यत्व नहीं भी रहता है। यथा ईश्वर में ज्ञान है किन्तु कार्यत्व नहीं है। अतएव ज्ञान के अपने अधिकरण ईश्वर में विद्यमान अभाव से कार्यत्वाभाव को लेकर कार्यत्व में उसकी प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्मवत्त्व ही रहता है। अतएव व्यापक के लक्षण के नहीं घटने से ज्ञान का अव्यापक कार्यत्व होता है। साध्य का व्यापक एवं साधन का अव्यापक पदार्थ उपाधि शब्द से कहा जाता है। अतएव सोपाधिक हेतु व्याप्यत्वासिद्ध होता है।[३]

---

१. सदकारणवन्नित्यम् वै०सू०।

२. सम्बन्धविशेष का नाम व्याप्ति है। इस सम्बन्ध का प्रतियोगी व्यापक होता है और अनुयोगी व्याप्य।

३. उपाधि व्यभिचार का उन्नायक होता है। क्योंकि उपाध्यभावरूप व्यापकाभाव से साध्याभाव रूप व्याप्याभाव की सिद्धि होती है। जैसे धूमवान् वह्नेः इस असद्धेतुक अनुमान में आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि होता है। आर्द्रेन्धन संयोग रूप उपाधि के अभाव के अधिकरण में धूमाभाव रहता है। और उस स्थल में वह्नि रूप हेतु विद्यमान है जो

जहाँ जहाँ शरीरत्व रहता है उस स्थल में कार्यत्व रहता ही है। शरीरत्व के अधिकरण शरीर में कार्यत्वाभाव नहीं रहता है। अतएव अपने अधिकरण में रहने वाले अभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेक धर्मवत्त्वरूप व्यापकत्व कार्यत्व में सिद्ध होता है। यही उपाधि ज्ञान में शरीर की व्याप्ति सिद्ध नहीं होने देती है। यही शरीर तथा ज्ञान में व्याप्यव्यापकभावसम्बन्ध नहीं होने देता है। शरीर अनित्यज्ञान का कारण हो सकता है। अतएव नित्य ज्ञान भी शरीरी को ही होगा–इसमें प्रमाण नहीं है। वह शरीर को छोड़कर भी रह सकता है। तस्मात् अनित्य ज्ञान के साथ शरीर के सह अस्तित्व रहने पर भी नित्य ज्ञान का अस्तित्व लुप्त नहीं हो सकता है।

शब्द अनित्य होता है उत्पत्तिमान् होने से। जो उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है। जैसे घट उत्पत्तिशील पदार्थ है। अतएव वह अनित्य होता है। यदि यहाँ कोई आपत्ति करे कि अनित्य घट के साधर्म्य से शब्द में जैसे अनित्यता आती है इसी तरह घट में रहने वाले रूप आदि गुण का अस्तित्व शब्द में क्यों नहीं माना जाता? इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि गुण किसी गुण का आधार नहीं होता है। अतएव रूप आदि शब्द में नहीं रह सकते हैं। अब यह भी कहा जा सकता है कि जैसे घट के साधर्म्य रहने पर भी रूप आदि नहीं रहते हैं। इसी तरह अनित्य भी वह नहीं होगा–किन्तु यह कहना सर्वथा दोषपूर्ण है। इसमें उत्कर्षसम नामक जात्युत्तर का एक प्रकार होता है। जात्युत्तर उस स्थिति में होती है। जहाँ साध्य तथा दृष्टान्त के उसी अंश को उठाया जाता है जिस अंश में वैषम्य रहता है[1] उत्तर के रूप में इस दोष के व्यवहार करने पर यदि प्रतिपक्षी या मध्यस्थ अच्छी तरह इसे जानता हुआ इसका उद्घाटन कर देता है तो व्यवहर्ता पराजित घोषित किया जाता है।

प्रकृत में कहना यह है कि शरीर के अभाव में केवल अनित्यज्ञान के उत्पन्न होने में असम्भवता तथा व्यवहार में अनित्यज्ञान का बाहुल्य देखकर नित्य ज्ञान का खण्डन करना अथवा नित्य ज्ञान के अभाव का समर्थन करना युक्तिपूर्ण नहीं है, किन्तु नित्यज्ञान की सत्ता निश्चित रूप से सयुक्तिक होने से मान्य ही होगी। और उसे शरीर की अपेक्षा नहीं रहती है। अशरीर ईश्वर में उसका अस्तित्व रह सकता है। तस्मात् उपर्युक्त युक्ति के आधार पर नित्यज्ञान के आश्रयरूप में नैयायिक सम्प्रदाय का ईश्वर सिद्ध ही है।

पूर्वपक्ष होता है कि घट आदि प्रसिद्ध कर्तृक कार्यो में (दृष्टान्त में) उत्पत्तिमत्त्व रूप हेतु के साथ उपादान विषयक अनित्य ज्ञान से युक्त प्रसिद्ध कर्त्ता रूप साध्य का स्वाभाविक सम्बन्ध माना जाना समुचित है। किन्तु सर्वज्ञ कर्त्ता के साथ उत्पत्तिमत्त्व की व्याप्ति उपपन्न ही नहीं होती है। क्योंकि प्रसिद्ध घट आदि में वह उपलब्ध होता है इस पूर्वपक्ष का मूल धर्मकीर्त्ति का **असिद्धिर्वा दृष्टान्ते** यह कारिकांश है।

वाचस्पति मिश्र ने इसका प्रतिवाद नहीं करके पहले एक प्रश्न ही पूछा है–रूप आदि अर्थ की उपलब्धि–

साध्याभाव के अधिकरण में रहने से व्यभिचारी होता है। सोपाधिक हेतु व्याप्यत्वासिद्ध होता है। वह्निःधूमव्यभिचारी धूमव्यापकार्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचारित्वात्।

१. अविद्यमानधर्माध्यारोपः उत्कर्षसमा जातिः। न्या०वा० ५।१।४

रूप क्रिया से चक्षुष आदि इन्द्रिय का अनुमान कैसे होता है? काटना रूप क्रिया का साधन कुल्हारी होता है, इन्द्रिय नहीं। कुल्हारी के बिना काटना सम्भव नहीं है। अतएव साधारणतया क्रिया[1] अपने साधन कुल्हारी को सिद्ध कर सकती है इन्द्रिय को नहीं। इसी से सिद्ध होता है कि क्रिया से इन्द्रिय का अनुमान प्रामाणिक कदापि नहीं हो सकता है। किन्तु इसका समाधान यह है कि दृष्टान्त में प्रत्यक्ष के अयोग्य भी इन्द्रिय रूप आदि अर्थ की उपलब्धि रूप क्रियात्मक हेतु से, पक्षधर्मता के बल पर सिद्ध होती है। अभिप्राय यह है कि रूप आदि अर्थों की उपलब्धि रूप क्रिया उसी कारण को सिद्ध करेगी जो उसे उपलब्धि कराने में समर्थ होगा। कुल्हारी से काटना रूप क्रिया का सम्पन्न होना यद्यपि सम्भव है तथापि वह रूप आदि अर्थों की उपलब्धि नहीं करा सकता है। इसलिए पक्ष में हेतु का अस्तित्व रूप पक्षधर्मता कुल्हारी से विलक्षण–प्रत्यक्ष के अयोग्य चक्षुष आदि इन्द्रिय का अनुमान करा सकता है। पूर्वपक्षी का यदि यही अभीष्ट है तो यह नैयायिक सम्प्रदाय को भी मान्य होगा।

ईश्वर को नित्य एवं सर्वज्ञ मानने पर ही अपरिमेय तथा अनियत देश दिशा में स्थित प्रत्यक्ष के योग्य तथा अयोग्य इस चराचर रूप कार्यकलाप का एककाल में उत्पन्न होना उत्पन्न होता है।

ईश्वरीय ज्ञान अनित्य शरीर का कार्य नहीं है। अन्यथा ईश्वर अपने शरीर की उत्पत्ति से पहले अचेतन व्यवस्था में रहेगा। इसलिए तत्काल कार्य निष्पादन के लिए ईश्वरान्तर की कल्पना करनी होगी। पुनः इस ईश्वर के शरीरी होने से पूर्ववत् तत्काल सांसारिक कार्य निष्पादक अपर ईश्वर चाहिए। इस तरह से अनवस्था होती जाएगी जो इष्ट का विधातक होगा, साधक नहीं। इसलिए ईश्वर में नित्यत्व, सर्वज्ञत्व तथा एकत्व का मानना समुचित तथा आवश्यक है। उपर्युक्त युक्ति के आधार पर धर्मकीर्त्ति की[1] दो मान्यताओं का स्पष्टतः खण्डन हो जाता है। एक तो यह कि इस संसार का कर्त्ता एक नहीं है[2] और दूसरा यह कि ईश्वर नित्य शरीर तथा नित्य इन्द्रिय का आश्रय है।

बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति की, सिद्धं यादृगधिष्ठातृ इत्यादि कारिका के विषय को पूर्वपक्ष रूप में उठाते हुए तात्पर्यटीका में कहा गया है कि सामान्यतः बुद्धिमान् के साथ उत्पत्तिशील कार्य की व्याप्ति नहीं बन सकती है किन्तु दृष्टकार्य के साथ दृष्टकर्त्ता की व्याप्ति हो सकती है। अभिप्राय यह है कि जहाँ कार्य तथा कर्त्ता में अन्वय तथा व्यतिरेक का समन्वय होता है– इस तरह के विशेष कार्य के साथ विशेष कर्त्ता का स्वाभाविक

---

१. विशेष क्रिया को लेकर यह दोष उपस्थित किया गया है। ज्ञानश्रीमित्र ने विशेष ज्ञान–अनित्य ज्ञान–को लेकर दोष दिखाया है। अतएव उत्तर भी उसी रूप में दिया गया है।

२. सन्निवेशादिमत् सर्वम् ....।

..........................एक कारणता कुतः। प्र०वा०

सम्बन्ध माना जाना समुचित है। इसी से सांसारिक व्यवहार का निर्वाह सम्भव है ही पुनः सामान्यतः कार्य तथा कर्त्ता में स्वाभाविक सम्बन्ध मानने की आवश्यकता नहीं है। अन्यथा सामान्य व्याप्ति के अकारण मान लेने पर धूम से वह्नि के अनुमान को आधार मानकर कपोत तथा कुमुद आदि में रहने वाली पाण्डुता-स्वच्छता से भी आग का अनुमान प्रामाणिक होने लगेगा।

यहाँ **वाचस्पति मिश्र** ने पूछा है कि क्या पूर्वपक्षियों को इसमें अन्वय तथा व्यतिरेक का विशेष विवक्षत है? अथवा कर्त्ता का प्रत्यक्षविशेष विवक्षित है। यदि पहला कल्प माना जाए तो वह जैसे कुम्भकार तथा घट रूप प्रसिद्ध कर्तृक कार्य में पाया जाता है। उसी तरह तनु भुवन आदि कार्य एवं ईश्वर रूप कर्त्ता में भी है ही। अतएव इससे ईश्वरसिद्धि की अनुपपत्ति नहीं होती है। यदि दूसरा कल्प माना जाए तो जिस घट को इस क्षण में बनते देखा गया उससे भिन्न बाजार में उपलब्ध घटों के साथ व्याप्ति की उपपत्ति सर्वथा असम्भव हो जाएगी। उन घटों को किसी ने बनाया है-इतना ज्ञान रहने पर भी किसने बनाया-यह तो अज्ञात है।

यहाँ पूर्वपक्षी युक्ति प्रस्तुत करता है कि जिस वस्तु को इस क्षण में बनते हुए देखा गया है उस जातीय वस्तुओं में अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर स्वाभाविक सम्बन्ध माना जाता है। इसी से उपर्युक्त आपत्ति बाजार में रहने वाले घट के साथ कुम्भकार की व्याप्ति की अनुपपत्ति हट जाती है। पुनः यहाँ **वाचस्पति** कहते हैं कि इसी तरह तनु भुवन आदि के साथ ईश्वरात्मक कर्त्ता की व्याप्ति उत्पन्न होगी उसे कोई लाठी के बल पर भी हटा नहीं सकता है।

अन्वय तथा व्यतिरेक के बल पर केवल घट जातीय के साथ बुद्धिमान् का स्वाभाविक सम्बन्ध मानकर ईश्वर को नहीं सिद्ध होने देना युक्ति विरुद्ध होगा। अन्यथा राजभवन आदि को घट जातीय नहीं होने से बनते हुए देखने पर भी उसके कर्त्ता के साथ उसके स्वाभाविक सम्बन्ध की अनुपपत्ति हो जाएगी।

जिस जातीय कार्य के साथ जिस जातीय कर्त्ता का अन्वय तथा व्यतिरेक देखा जाता है उन दोनों में ही सामान्य रीति से कार्यकारणभाव मानना उचित है। यह कहने पर भी तनु भुवन आदि एवं उनके कर्त्ता ईश्वर में कार्यकारणभाव का व्याघात नहीं होता। क्योंकि तनु भुवन आदि भी कार्य जातीय है। इसमें विशेष भेद नहीं है। अतएव जैसे राज भवन के निर्माण में कर्त्ता अपेक्षित है उसी तरह तनु भुवन आदि के लिए भी कर्त्ता चाहिए ही।

मिट्टी के विकार होने के नाते जैसे घट का कर्त्ता कुम्भकार होता है उसी तरह बल्मीक को भी कुम्भकार की रचना माननी होगी, वह भी मिट्टी का विकार है- **धर्मकीर्ति** का यह कहना संगत नहीं है। इसमें प्रत्यक्ष विरोध स्पष्ट ही देखा जाता है कि बल्मीक को कुम्भकार बनाता नहीं है। वह किसी अदृश्य चेतन की रचना है।

पूर्वपक्ष होता है कि उत्पतिशील पदार्थ और बुद्धिमान् का स्वाभाविक सम्बन्ध सार्वत्रिक नहीं हो सकता है। किन्तु जिस कार्य के उपादान का ज्ञान हमलोंगो को है उस कार्य और उस कार्य के कर्त्ता में व्याप्ति हो सकती है। तनु भुवन आदि कार्यों के उत्पत्तिशील होने पर उनके उपादानों का ज्ञान हम लोगों को नहीं है, न हो ही सकता है। इसलिए ईश्वरात्मक कर्त्ता के साथ इन कार्यों की व्याप्ति सम्भव नहीं है। नैयायिक सम्प्रदाय का अनुसरण करते हुए **वाचस्पति मिश्र** ने इसका यह उत्तर दिया है कि उत्पत्तिशील पदार्थ और उसके उपादानों को जानने वाला कर्त्ता में यदि अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर व्याप्ति बन जाती है तब उपर्युक्त व्याप्ति निर्मूल सिद्ध हो सकती है। क्योंकि हमलोगों का किसी कार्य के उपादान विषयक ज्ञान व्याप्ति का साधक नहीं है।

स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) के आधार पर ज्ञान सामान्य को ईश्वर में सिद्ध किया जाता है और पक्षधर्मता से उस ज्ञान में नित्यता आती है। उपाधि की अनुपलब्धि से उत्पत्तिमत्त्व के साथ बुद्धिमत् हेतुकत्व की व्याप्ति में दृढ़ता आती है। इसमें किसी तरह का विघटन उसकी व्याप्ति में हानि का द्योतक होगा–बौद्ध तथा न्यायदर्शन की मान्यता के आधार पर उपर्युक्त वाद–प्रतिवाद से यही फलितार्थ उपपन्न होता है।

पुनः पूर्वपक्ष होता है कि क्षिति तथा पर्वत आदि सर्वज्ञ की रचना नहीं है, प्रमेय होने से, जैसे घट प्रमेय है तथा सर्वज्ञ का निर्माण नहीं है। सर्वज्ञता साधक नैयाथिक के अनुमान में सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास का खण्डन करते हुए नैयायिक **वानस्पतिमिश्र** ने कहा है कि इस अनुमान से पूर्वपक्षी का क्या अभिप्राय है, क्या कार्य में सर्वज्ञपूर्वकता का निषेध करते हैं? अथवा केवल चेतन–पूर्वकता का? यदि पूर्वकल्प माना जाए तो यह अपसिद्धान्त होगा। क्योंकि बौद्ध दार्शनिकों ने सर्वज्ञ को नहीं माना है। अतएव उसको मानकर खण्डन करना अपसिद्धान्त होगा। अपि च सर्वज्ञ का खण्डन संभव भी नहीं है। हमलोग तनुभुवन आदि कार्य का सम्पादन नहीं कर सकते है और वह प्रमाणित है कि तनुभुवन आदि कार्य हैं। कार्य किसी चेतन से सम्पादित होता है। इसलिए अर्थापत्ति से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। दूसरा कल्प भी मान्य नहीं है। यदि मान लिया जाए कि रचना किसी भी चेतन से सम्पादित नहीं होती है तो प्रश्न उठता है कि प्रसिद्ध कार्य घट आदि का ही निर्माण कैसे हुआ? अतएव इस कल्प में भी स्वतः व्यभिचार है।

अशरीरी अधिष्ठाता नहीं होता है। और ईश्वर शरीरी नहीं है। अतएव वह परमाणु आदि का अधिष्ठाता नहीं हो सकता है। जैसे मुक्तात्मा किसी कार्य का अधिष्ठाता नहीं होता है। एवं ईश्वर सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता है। क्योंकि उसे नित्य ज्ञान का आश्रय कहा गया है। किन्तु ज्ञान अनित्य ही होता है। ज्ञानत्व धर्म का अधिकरण बाहुल्येन अनित्य ज्ञान ही देखा गया है। विपक्षियों के इस तरह के अनुमानों में पक्षधर्मता की सिद्धि के लिए पक्ष रूप में ईश्वर की

---

१. स्वाश्रय अथवा स्वसमवायि संयुक्त संयोग, अदृष्ट के आश्रय-समवायि जीव से संयुक्त परमाणु का संयोग ईश्वर में सिद्ध होता है।

आवश्यकता होगी ही और उसमें नित्य बुद्धि का अधिकरणता तब तक अपने साधक प्रमाणों के विरोधियों को नहीं देखती है जब तक अपना अस्तित्व सिद्ध नहीं कर लेती है। उसके सिद्ध हो जाने के बाद विरोधी प्रमाण मिलेंगे ही नहीं। फलतः सर्वज्ञत्व तथा नित्य ज्ञानत्व ईश्वर में निश्चित रूप से सिद्ध होते हैं। अतएव पूर्वपक्षियों के अनुमान में आश्रयासिद्धि तथा साध्याप्रसिद्धि आदि अपरिहार्य दोषों की आपत्ति होगी।

आगम तथा अनुमान पहले सर्वज्ञता तथा ज्ञान की नित्यता को सिद्ध कर लेता है। पश्चात् जगत्कर्त्ता ईश्वर को सिद्ध करता है। पूर्वपक्षियों को इन दोनों प्रमाणों से (आगम और अनुमान से) विरोध करना होगा जो संगत नहीं है।

बुद्धि की तरह इच्छा तथा प्रयत्न ईश्वर के नित्य ही होते हैं। कर्त्ता में ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न- ये तीनों ही गुण रहते हैं। इन सबों में परस्पर अविनाभाव है। इसलिए एक के सिद्ध होने से अतिरिक्त दोनों का ही सिद्ध होना निश्चित ही है। फलतः उत्पत्तिमत्त्व हेतु से ही पक्षधर्मता के बल पर पक्ष रूप में सर्वज्ञ ईश्वर सिद्ध होता है।

अथवा कार्य और कर्त्ता की व्याप्ति से केवल कर्त्ता का पहले अनुमान होता है और बाद में परिशेष अनुमान से उसमें नित्य का सर्वविषयक ज्ञान को सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि तनु भुवन आदि का कर्त्ता अनित्य ज्ञान वाले अल्पज्ञ नहीं हो सकते हैं। तनु भुवन आदि को ज्ञान को नित्य और सर्व विषयक मानना आवश्यक है।

परमाणुओं का परस्पर भेद (यह पार्थिव परमाणु है और यह जलीय परमाणु है आदि भेद) और प्रत्येक जीव में रहने वाले धर्म और अधर्म का ज्ञान ईश्वर को छोड़कर अन्य किसी को भी संभव नहीं है। अन्य पुरुष में समवाय सम्बन्ध से स्थित धर्म और अधर्म का अधिष्ठाता (फलदाता) ईश्वर होता है। सृष्टि के आदि में योगियों के नहीं रहने से इन पदार्थो का अधिष्ठान योगियों से असम्भव है। ईश्वर से संयुक्त परमाणु है और परमाणु से प्रत्येक जीव संयुक्त है।

उसी जीव में समवाय सम्बन्ध से जीववृत्ति धर्म और अधर्म रहता है। उसका अधिष्ठाता परम्परया- संयुक्तसंयोगिसमवायसम्बन्ध से[१] ईश्वर सिद्ध होता है। जो व्यक्ति अज संयोग[२] मानते है उनके मत से संयुक्त[३] समवाय सम्बन्ध से भी धर्माधर्म का

---

१. दो विभु पदार्थों का संयोग वैशेषिक पक्ष में असिद्ध है किन्तु नैयायिक पक्ष में सिद्ध है। वैशेषिक का कहना है कि संयोग सर्वात्मना नहीं हो सकता है। संयोगियों के अवयव रूप सीमावच्छेदेन ही होता है। क्योंकि संयोग अव्याप्यवृत्ति होता है। विभुपदार्थों की सीमा नहीं है। अतः विभुद्वय संयोग असिद्ध है। न्यायमत में अविभुरूप एक तृतीय पदार्थ के माध्यम से दो विभु पदार्थों में परम्पराक्रम से संयोग सिद्ध होता है जिसे संयोगज संयोग कहते हैं। इसी का नाम अज संयोग है। संयोग के तीन प्रकार हैं- अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज तथा संयोगज संयोग। द्र० कारिकावली, गुणनिरूपण ११५ का०।

२. स्वसमवायिसंयोग। ३. न्यायसूत्र० २।१।६८।

अधिष्ठाता ईश्वर होता है। धर्म और अधर्म समवाय सम्बन्ध से जीव में रहता है और जीव के साथ ईश्वर का संयोग है। इस तरह ईश्वर से संयुक्त जीव में समवाय सम्बन्ध से धर्माधर्म रहते हैं। इसलिए उपर्युक्त दोनों सम्बन्धों से ईश्वर अदृष्ट को अधिष्ठित करता है।

न्यायसूत्रकार **महर्षि गौतम** ने वेद के प्रामाण्य का समर्थन करते हुए। **आप्त प्रामाण्यात्** इस हेतु का प्रतिपादन किया है। यहाँ भी ईश्वर का प्रसंग आता है । वेद आप्त पुरुष का वाक्य है। यह **महर्षि गौतम** का सिद्धान्त है। इन्होंने सार्थक शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध का तथा शब्द के नित्यत्व का खण्डन करके उसके अनित्यत्व सिद्धान्त का स्थापन किया है। मीमांसक का मत वेद की अपौरुषेयता **महर्षि गौतम** का सम्मत नहीं है। किन्तु गौतम ने **आप्तप्रमाण्यात्** में आप्त पद का वाच्य क्या है- यह स्पष्टतः नहीं कहा है। **उद्योतकार** ने प्रकृत सूत्र की व्याख्या में कहा है कि वेद पुरुष विशेष से अभिहित है। यही पुरुषविशेष आप्त है। **उद्योतकार** की व्याख्या से यह स्पष्ट नहीं होता है कि वह आप्त ईश्वर ही है। इन्होंने स्पष्टतः वेद के कर्त्ता को ईश्वर नहीं कहा है। भाष्यकार ने भी वेद के कर्त्ता को ईश्वर नहीं कहा है। भाष्यकार ने कहा है कि आप्त गण वेदों के द्रष्टा तथा वक्ता हैं। किसी एक व्यक्ति ने ही सम्पूर्ण वेदों की रचना की है-यह भी भाष्यकार ने नहीं कहा है।

तात्पर्यटीकाकार **वाचस्पति मिश्र** ने वार्त्तिककार के अभिप्राय का वर्णन करते हुए कहा है कि वेद पुरुषविशेष-ईश्वर का प्रणीत है। इनका कहना है कि इस संसार का निर्माता भगवान् परमेश्वर परम करुणामय तथा सर्वज्ञ है। इष्ट लाभ तथा अनिष्ट की निवृत्ति के उपायों के विषय में अज्ञ एवं विविध दुःख रूप दहन में नियत रूप से दह्यमान जीवों को दुःख से विरति के लिये ईश्वर अवश्य उपाय करता है। करुणामय परमेश्वर जीवों का पिता है। इन्होंने जीवों की सृष्टि का विधान किया तथा कृत कर्मों के फलानुसार दुःखभोग करने वाले उन जीवों के प्रति उससे उद्धार के लिये उपदेश नहीं देकर रहना इनके लिये असम्भव था। फलतः इन्होंने पहले सृष्टि का विधान किया और बाद में जीवों की हितप्राप्ति तथा अहितनिवृत्ति के उपायों का उपदेश देता रहा-इसमें सन्देह नहीं। वेद उस परमेश्वर के उपदेश वाक्यों का समूह ही है। शाक्य आदि विद्वानों का शास्त्र परमेश्वर का वाक्य नहीं है। क्योंकि शाक्य आदि संसार का कर्त्ता नहीं हैं। इन लोगों की सर्वज्ञता भी सन्देहपूर्ण है। 'ऋषि' आदि श्रेष्ठ विचारकों ने शाक्य आदि के शास्त्रों को ईश्वर का वाक्य मानकर व्यवहार नहीं किया है। वर्णाश्रम धर्म तथा इसके आचार आदि की व्यवस्था करने वाला वेद ही सभी शास्त्रों में प्राचीन तथा आदि ग्रन्थ है। ऋषि मुनि आदि श्रेष्ठ विचारकों के द्वारा मूर्धन्य ग्रन्थ के रूप में परिगृहीत तथा वर्णाश्रम के आचारों का व्यवस्थापक वेद है, ईश्वर द्वारा प्रणीत होने से अतएव प्रमाण है। आप्तवाक्य मन्त्र तथा आयुर्वेद प्रामाण्य की तरह सबों को मान्य है।

क्योंकि उसमें वैदिक, पौष्टिक तथा शान्तिक कर्मों का अनुमोदन है। तथा आयुर्वेद में विहित रसायन के निर्माण के समय वेदविहित चान्द्रायण व्रत का विधान है-इससे सिद्ध होता है कि आयुर्वेद से वेद का प्रामाण्य उपपन्न होता है। अतएव जो सर्वसिद्ध प्रमाण है उस आयुर्वेद के द्वारा भी वेद का प्रामाण्य तथा वर्णाश्रम के आचार के व्यवस्थापक होने से ऋषि मुनि प्रभृति श्रेष्ठ विचारकों द्वारा उसका परिगृहीत होना निश्चित होता है। ईश्वर की सिद्धि में **वाचस्पति** के वेद कर्तृत्व रूप युक्ति का अनुमोदन **आचार्य उदयन** तथा **गंगेश** आदि परवर्ती विद्वानों ने किया है। इसका उपपादन अवसर पाकर किया जाएगा।

○

अनुच्छेद (२)

ईश्वर की सिद्धि में अल्प परिचित नैयायिकों के मतवाद

प्रस्तुत अध्याय में बौद्ध दार्शनिक **आचार्य धर्मकीर्त्ति** द्वारा ईश्वर-खण्डन में उपस्थापित युक्तियों के निरास में यथासम्भव क्रमानुसार न्यायसम्प्रदाय का आलोचन किया जा रहा है।

यहाँ आलोचित मतों में केवल **आचार्य भासर्वज्ञ** का मत उसकी न्याय भूषण नामक न्यायसार की टीका में उपलब्ध है। **आचार्य शङ्कर** तथा **वित्तोक** के ग्रन्थ अन्वेषण करने पर भी उपलब्ध नहीं होता है। विद्वानों की धारणा है कि यहाँ जिन आचार्यों के मतों को उठाया गया है वे सभी धर्मकीर्ति से परवर्ती तथा **वृद्ध वाचस्पति** से प्राचीन है। तात्पर्य टीकाकार **वाचस्पति** के गुरु आचार्य **त्रिलोचन** का उल्लेख न्यायप्रकीर्ण तथा न्यायमज्जरी के कर्त्ता रूप में विभिन्न ग्रन्थों में हुआ है। **वाचस्पति मिश्र** ने **आचार्य त्रिलोचन** को तात्पर्यटीका में कण्ठतः अपना गुरु माना है।[१] इन्होंने विधि विवेक की व्याख्या न्यायकणिका के प्रारम्भ में न्यायमञ्जरीकार को प्रणाम किया है।

' अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम् ।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमः गुरवे'।।[२]

किन्तु दुःख यही है कि आचार्य **त्रिलोचन** का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

शतानन्द का नाम एवं उनके किसी ग्रन्थ की सूचना कहीं भी उपलब्ध नहीं है। केवल बौद्ध दार्शनिक **ज्ञानश्रीमित्र** ने बहुत स्थलों पर अपर शब्द से इनके मतों को पूर्वपक्ष रूप में उठाया है। ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली की मातृका के पत्रप्रान्त में दो स्थलों में अपर शब्द का पर्याय **शतानन्द** दिया गया है। इसी से ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली के सम्पादक ने उक्त ग्रन्थ के सम्पादन के अवसर में टिप्पणी में अपर शब्द के स्थान पर शतानन्द नाम दिया है। उपर्युक्त अनुपलब्ध ग्रन्थों का बहुत अंश **ज्ञानश्रीमित्र** ने अपने ईश्वरवाद निबन्ध में उद्धृत किया है। **ज्ञानश्रीमित्र** का शिष्य **रत्नकीर्ति** ने भी ईश्वरसाधनदूषण

१. त्रिलोचनगुरून्नीतमार्गानुगमनोन्मुखैः।
यथामानं यथावस्तु व्याख्यातमिदमीदृशम् ।। तात्पर्यटीका १।१।४।

२. विधिविवेक की न्यायकणिका व्याख्या का मङ्गल पद्य।

नामक निबन्ध में तत्तत् ग्रन्थों का उल्लेख एवं भिन्न-भिन्न मान्यताओं का उद्धरण दिया है। **रत्नकीर्ति** ने केवल एक स्थल में **नरसिंह** नामक किसी प्राचीन नैयायिक के ईश्वर विषयक सिद्धान्त का उद्धरण[१] दिया है, जो प्रायः अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

ईश्वर की सिद्धि में न्यायमञ्जरीकार आचार्य त्रिलोचन का वक्तव्य

बौद्ध दार्शनिक **धर्मकीर्ति** के प्रमाणवार्तिक की-'**सिद्धं यादृगधिष्ठातृ**' इत्यादि कारिका के विषय को पूर्वपक्ष रूप में उठाकर तात्पर्यटीकाकार **वाचस्पति मिश्र** के विद्यागुरु **आचार्य त्रिलोचन** का कहना है कि प्रसिद्ध कार्य घट आदि की उत्पत्ति के साथ चेतन पूर्वकत्व की व्याप्ति बन सकती है और सिन्धु-भूधर आदि के साथ नहीं-बौद्धों का यह कहना सर्वथा निर्मूल है। घट आदि प्रसिद्ध कार्यो में ऐसा कुछ विशेष दृष्टिगोचर नहीं होता है, जिसके आधार पर उसमें चेतनपूर्वकत्व की व्याप्ति के निश्चय होने पर भी सिन्धु तथा भूघर आदि में उस विशेष के अभाव से उपर्युक्त व्याप्ति नहीं बन पायेगी।

कुम्भकार आदि प्रसिद्ध कर्त्ता का क्रियाकलाप भी यह निर्णय नहीं करा सकता है कि केवल घट आदि दृश्य कार्य ही किसी की रचना हो सकती है, सिन्धु तथा भूघर आदि नहीं। जो व्यक्ति कुम्भकार के क्रियाकलाप को देखा ही नहीं है, वह भी घट आदि में कर्तृत्व का अनुभव करता है। इसलिए उक्त क्रियाकलाप किसी के कर्तृत्व होने में कारण नहीं हो सकता है।

घट आदि में महत्परिमाण पाया जाता है। अतएव वही इसके चेतन कर्तृक होने का कारण है। परमाणु तथा द्व्यणुक में महत्परिमाण नहीं है। इसलिए उसके कार्य के साथ उक्त व्याप्ति नहीं बनती है-यह कहना भी अयुक्तिपूर्ण है। परमाणु तथा द्व्यणुक गत परिमाण किसी परिमाण का कारण नहीं होता है। चूँकि परिमाण स्व सजातीय उत्कृष्ट परिमाण का जनक होता है। अतः परमाणुगत परिमाण के अल्प होने से उस में यदि कारणता मानी जाए तो वह अल्पतम परिमाण का जनन करेगा। परम्परा क्रम से घट आदि का प्रत्यक्ष भी नहीं हो पाएगा। क्योंकि प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व कारण होता है जो यहाँ नहीं है। इसीलिए त्रसरेणु गत परिमाण का कारण अवयव (द्व्यणुक) गत बहुत्व संख्या है। अवयव में रहने वाली बहुत्व संख्या, महत्त्व तथा प्रचय महत्परिमाण के कारण होते हैं। अनेक द्व्यणुक में रहने वाली बहुत्व संख्या त्रसरेणु गत महत्परिमाण का कारण है। कपाल का परिमाण घट परिमाण का कारण है। रुई के दीर्घ होने में शिथिलाख्य संयोग (प्रचय) कारण है। क्षिति आदि के कारण अवयव में महत् परिमाण है, जो इस क्षिति आदि के महत्परिमाण का कारण होता है। अब घट तथा क्षिति में परस्पर भेदकतत्त्व के अभाव में क्षिति आदि में चेतनपूर्वकत्व ही सिंद्ध होता है।

---

१. द्र० रत्नकीर्तिनिबन्धावली पृ० ३५।

प्रयत्न से घट का होना निश्चित है और क्षिति आदि में इसका निश्चय नहीं है कि प्रयत्न से ही होता है। अतएव कृतकत्व दोनों का परस्पर भेदक है। अब घट आदि के सकर्तृक होने पर भी सिन्धु तथा भूधर आदि में वह सिद्ध नहीं होता-इस पूर्वपक्ष के उत्तर में **त्रिलोचन** कहते हैं कि कारण में समवाय सम्बन्ध से स्थित तथा पहले से नहीं रहकर प्रादुर्भाव शील जैसे घट होता है उसी तरह क्षिति आदि भी। अब क्षिति और घट में परस्पर भेदक तत्त्व दिखाकर एक में चेतन पूर्वकत्व सिद्ध करके अन्य में उसका नहीं सिद्ध होने देना इन्द्र के भी वश की बात नहीं है।

ईश्वर की सर्वज्ञतासिद्धि में **त्रिलोचन** कहते हैं कि आदि के कर्त्ता से विलक्षण कर्त्ता को सिद्ध करना मेरा लक्ष्य नहीं है। किन्तु केवल कर्त्ता को सिद्ध करना ही लक्ष्य है। उस कर्त्ता का स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) विशेष के साथ होता है। वह कर्त्ता प्रत्येक कार्य के उपादानों का साक्षात्कार करता है, यही उसका विशेष है और इसी विशेष के साथ उस कर्त्ता का स्वाभाविक सम्बन्ध होता है। कर्त्ता के सिद्ध होते ही वह विशेष स्वतः सिद्ध हो जाता है, और उस विशेष के अभाव में कर्त्ता का सिद्ध होना असम्भव है। प्रकृत में-क्षिति आदि के कर्त्ता के सिद्ध होने में क्षिति आदि के उपादान कारण परमाणु समूह-जीवगत कर्म अदृश्य एवं दिशा आदि उपकरण तथा सम्प्रदान जीव, प्रयोजन उसका उपभोग- इन चारों को विशेष मानना होगा। इन विशेषों का प्रत्यक्ष करने वाला इस क्षिति आदि का कर्त्ता होता है। इसमें सर्वज्ञ ही समर्थ है। उक्त विशेषों का प्रत्यक्ष जीव को कदापि नहीं हो सकता है। योगियों को योग बल से कदाचित् हो भी सकता है। किन्तु सृष्टि के आदि में उनका अपना ही अस्तित्व नहीं रहता है। अतएव सृष्टि के आदिकाल में केवल ईश्वर उन विशेषों का प्रत्यक्ष करता है। **त्रिलोचन** की उपर्युक्त उक्ति पर पूर्वपक्ष होता है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो जिस वस्तु का कर्त्ता होता है उसके उपादान का ज्ञान उसको आवश्यक ही है। घट का कर्त्ता कुम्भकार उसके परम्परया उपादान द्व्यणुक के उपादान परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं कर पाता है।

यहाँ **त्रिलोचन** कहते हैं कि यह नियम युक्तिपूर्ण ही है। किन्तु प्रतिपक्षी का इस नियम में दोष दिखाने वाला तर्क असंगत है। क्योंकि द्व्यणुक का निर्माण कुम्भकार से नहीं होता है। अन्त्य अवयवी के जितने अंग होते हैं उन सबों का निर्माण कुम्भकार से ही नहीं होता है अपनी योग्यता के अनुसार कारण का प्रयोग करना कर्त्ता का स्वभाव है। जिस कार्य की योग्यता जिस कर्त्ता में नहीं रहती है, वह कर्त्ता उस कार्य को नहीं करता है। घट का निर्माण करने वाला कुम्भकार द्व्यणुक बनाता ही नहीं है। इसलिए क्षिति आदि की तरह द्व्यणुक भी सर्वज्ञ ईश्वर के साधक अनुमान में पक्ष ही होता है।

त्रिलोचन कहते हैं कि जैसे बौद्ध दार्शनिक क्षणिकत्व सिद्ध करते हुए उससे सम्बद्ध नैरात्म्य की सिद्धि अनायास कर लेते हैं, उसी तरह कर्त्ता सिद्ध करते हुए

नैयायिक गण भी उससे सम्बद्ध सर्वज्ञता की सिद्धि कर लेते हैं। स्थिर आत्मा की सिद्धि यदि हो जाए तो बौद्ध का **'सर्वं क्षणिकम्'** वाला क्षणिकवाद सिद्धान्त की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि सकल पदार्थो के क्षणिक होने पर आत्मा भी क्षणिक होगा और वह नित्य एवं विभु है तब तो कदाचित् यही कह पाते कि उसको छोड़कर अन्य पदार्थ क्षणिक है। अतएव **सर्वं क्षणिकम्** इस सिद्धान्त का भंग होता है। नैयायिक कर्त्ता की व्याप्ति के द्वारा आकृष्ट सर्वज्ञता रूप विशेष की सिद्धि करते हैं। सर्वज्ञता की सिद्धि में **आचार्य धर्मकीर्त्ति** ने जो कुछ दोष दिखाया था वह असंगत ही प्रमाणित हुआ। उनका कहना था कि जितनी दूर तक सर्वज्ञता साधक हेतु की पहुँच है उस स्थल तक दोष भी पहुँचता है। किन्तु हेतु से सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं की जाती है, हेतु केवल कर्त्ता का साधक है, सर्वज्ञता तो स्वतः परिस्थिति सिद्धि कर देती है। अतएव नैयायिक का सर्वज्ञ ईश्वर युक्तियों से प्रतिपन्न होता है।[१]

ईश्वर के विषय में शतानन्द के पाँच तर्क

बौद्ध कहता है कि एक (चेतन पुरुष) ईश्वर एक समय में अनेक कार्यों का उत्पादन नहीं कर सकता है। एक व्यक्ति एक काल में एक ही कार्य को करता हुआ देखा गया है। अतएव अकेला ही ईश्वर एक समय में विभिन्न कार्यों की रचना कैसे करें।

नैयायिक **शतानन्द** ने इस मत के खण्डन हेतु दृष्टान्त के द्वारा तर्क उपस्थित करते हुए ईश्वर का समर्थन किया है।

(१) आग के बिना भी किसी अन्य कारण से किसी भी स्थान में तथा किसी भी काल में धूम यदि उत्पन्न होता तो आग से एकबार भी वह अपना अस्तित्व लाभ नहीं कर पाता। क्योंकि जहाँ आग रहती है उस स्थल में धूम उपलब्ध होता है एवं आग के अभाव में धूम नहीं होता हैं। अतएव यह सिद्ध है कि धूम आग से ही उत्पन्न होता है। धूम यदि आग से उत्पन्न नहीं होता रहता तो उस आग के अभाव में भी वह उत्पन्न होता, जिससे आग के सजातीय वस्तु उसका कारण होते और तब एक बार भी आग से धूम उत्पन्न नहीं होता देखा जाता। जो जिसका कारण रहता है वही उसका उत्पादन कर सकता है। आग से धूम होता है। अतः धूम को आग का कार्य मानना होगा।

अभिप्राय यह है कि आग से धूम का जन्म होना सर्वथा प्रमाणित है। धूम के वह्निजन्य नहीं होने में साधक प्रमाण रूप- धूम यदि वह्नि का व्यभिचारी होता तो वह कदापि वह्नि से उत्पन्न नहीं होता रहता–इस तर्क से–आग और धूम का स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) सिद्ध होता है। इसी तरह चेतन कर्त्ता के अधिष्ठान के बिना अन्य कारणों से (बुद्धिमान से अतिरिक्त हेतुओं से) यदि एक भी कार्य होता तो उपादान कारण को जानने वाला कुम्भकार के द्वारा घट आदि कार्य का सम्पादन कदापि नहीं होता। किन्तु कुम्भकार चेतन पुरुष, कारण सामग्री का अधिष्ठाता (घट का निर्माण

---

१. ज्ञानश्री मिश्र नि. पृ. २३६-२३९

करता है। अतएव कुम्भकार) घट आदि कार्य का कर्त्ता माना जाता है। यह प्रमाणित है कि संसार भी कार्य है। अतएव इसके निर्माण में भी अधिष्ठाता की अपेक्षा है। इतरबाध सहकृत अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है कि वह अधिष्ठाता ईश्वर ही हो सकता है। जहाँ दृष्टान्त रूप में आग और धूमवाला उपर्युक्त तर्क संगत होता है।

(२) वह्नि से भिन्न कारण के द्वारा धूम की उत्पत्ति बौद्ध दर्शन में भी नहीं मानी जाती। अन्यथा (धूम के हेतु के अनियम से) वह अनियत हेतुक (जिसका हेतु नियत नहीं) हो जाएगा और अनियत हेतुक पदार्थ बिना कारण के भी होते हैं। अतएव इस तरह के पदार्थों का नित्य अस्तित्व रहता है या अस्तित्व होता ही नहीं है। सापेक्ष नहीं होने से कारण की अपेक्षा जब उन पदार्थों को नहीं होती तो पुनः उनका कब रहना या न रहना निश्चित करना असम्भव है। अतएव उनका अस्तित्व क्यों न नित्य हो? अथवा अस्तित्व हो ही कैसे? **आचार्य धर्मकीर्ति** ने प्रमाणवार्त्तिक में कहा है कि भाव पदार्थ अपेक्षा से ही (कारण की अपेक्षा रखकर ही) कदाचित् (एक नियत समय में) होते हैं।[1] अब धूम यदि कारण की अपेक्षा नहीं रखता हैं तो उसके भी नित्य अस्तित्व की आपत्ति हो जाएगी अथवा अस्तित्व ही नहीं रहेगा। इसी तरह नैयायिक शतानन्द ने प्रकृत में कहा हैं कि उपादान का ज्ञान रखने वाला कर्त्ता (चेतन पुरुष) के अभाव में कार्य का होना सर्वथा असम्भव है। अन्यथा इसका भी नित्य अस्तित्व या अस्तित्वाभाव होगा जो सार्वजनीन अनुभव के विरुद्ध होने से आपत्ति मानी जाएगी। अल्पज्ञ होने से हमलोगों को संसारात्मक कार्य के उपादानों का ज्ञान नहीं है। अतएव ईश्वर (सर्वज्ञ चेतन) ही इस कार्य का सम्पादन कर सकता है तथा करता हैं। इस तरह ईश्वर संसार के कर्त्ता रूप में सिद्ध होता हैं।

(३) धूम वह पदार्थ है जिसके साथ आग का अन्वय और व्यतिरेक स्थिर होता है एवं आग वह पदार्थ है जिससे धूम उत्पन्न होता हैं। अथवा दूसरे शब्दों में जो धूम का उत्पादक है। इसलिए धूम आग से उत्पन्न होता है या नहीं–इस संशय के विषय धूम को अन्त में निर्णय होने पर आग का ही कार्य माना जाता है। इसी तरह कार्य वह है जिसे बुद्धिमान् व्यक्ति करता है एवं चेतन अधिष्ठाता वह है, जो पृथिवी आदि कार्यों का निर्माण करता है। चेतन अधिष्ठाता के अभाव में यदि चेतना रहित पदार्थों की प्रवृत्ति देखी जाती तो क्रिया के अविरामरूप से चलने से अनवरत कार्य का उत्पन्न होना रूप आपत्ति होने लगती। क्योंकि स्वभावतः यदि अचेतन पदार्थ कार्य के सम्पादन रूप व्यापार में लग जाए तो रोकथाम के लिए चेतन तो है नहीं, इसलिए अबाधगति से निरन्तर कार्योत्पादन होता ही रह जाएगा। यदि वह अचेतन थोड़ी देर के लिए इस सबसे उदासीन हो जाए तो कहीं भी प्रवृत्ति ही उसकी नहीं होगी। क्योंकि वह स्वयं अचेतन है एवं कोई प्रवर्त्तक नहीं है। इसी से मानना होगा कि चेतन कारण के बिना किसी भी अचेतन पदार्थ की प्रवृत्ति नहीं होती है। चेतन को अधिष्ठाता मान लेने पर ही नियत समय के लिए नियत स्थान में नियत वस्तु के उत्पादन में अचेतन पदार्थ की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति देखी जाती है। अचेतन कदापि अधिष्ठाता नहीं हो सकता है। क्योंकि उसमें इच्छा नहीं रहने से

१. अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः प्र.वा. ३/३५

इच्छानुकूल प्रवृत्ति उसकी नहीं हो सकती है। संसारात्मक कार्य का उपादान भी चेतना शून्य ही है। अतएव इस जगत् के जड़ उपादानों के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर माना जाना आवश्यक है। फलतः इस तर्क से भी जगत् के कर्त्ता रूप में ईश्वर सिद्ध होता है।

(४) किसी खास समय में (नियत अवधि में) कार्य की उत्पत्ति जहाँ होती है उस स्थल में कारण समूहों का रहना अनिवार्य है। अतएव इस कारण समूह के साथ कार्यत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध सर्वजन सिद्ध है। किन्तु नियत अवधि में नियत कारणों की स्थिति अन्वय तथा व्यतिरेक के द्वारा कर्त्ता के अधीन रहती है। जैसे नियत स्थल में नियत समय में पट रूप कार्य तुरी वेमा आदि कारण समूहों की उपस्थिति में जुलाहा के व्यापार से सम्पादित होता है। अतएव उसी के अधीन में इसे मानना होगा। विपक्ष में (जहाँ कर्त्ता का व्यापार अपेक्षित नहीं है इस तरह के नित्य पदार्थ में) नियत समय में कारण कूट की सन्निधि नहीं रहती है। क्योंकि अचेतन में क्रिया नहीं मानी जाती है और क्रिया के बिना कारण कूटों का सन्निधान करना या न करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। ऐसा यदि होता तो कुम्भकार को घट-निर्माण के लिए भी कुछ व्यापार करना आवश्यक नहीं होता है। स्वतः ही दण्ड, चक्र एवं चीवर आदि सन्निहित हो जाते, जिससे कुम्भकार रूप चेतन कर्त्ता के अभाव में भी घट स्वतः उत्पन्न हो जाता। फलतः व्यापक की अनुपलब्धि से (चेतन कर्त्ता के व्यापार की अनुपलब्धि से) विपक्ष में (जो कार्य नहीं है इस तरह के नित्य पदार्थ में) निवृत्त कार्यत्व की व्याप्ति चेतन के साथ बन जाती है। अल्पज्ञ जीव क्षिति आदि के उपादान रूप परमाणु आदि का प्रत्यक्ष नहीं कर पाता है। अतएव उपादान के साक्षात्कारात्मक ज्ञान के अभाव में अधिष्ठाता भी नहीं हो सकता है। नियम है कि अधिष्ठाता को उपादान का साक्षात्कारात्मक ज्ञान रहना चाहिए। अतएव सर्वज्ञ ईश्वर उसके अधिष्ठाता रूप में उपपन्न होता है जो उक्त परमाणु आदि का प्रत्यक्ष अनुभव रखता है। उक्त हेतुओं की स्थिति उसी के अधीन रहती है।

(५) कार्यत्व नियत देश और नियत काल की अपेक्षा करता है। चेतन के प्रयत्न के अभाव में भी यदि कार्य होता तो उसे देश एवं काल की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। कर्त्ता की इच्छा से नियत समय में एवं नियत स्थान में ही वह (कार्य) होता है। उक्त इच्छा के अभाव में सर्वदा सभी देशों में प्रत्येक कार्य होने लगेगा। विपक्ष में (नित्य पदार्थ में) व्यापक की अनुपलब्धि से-प्रयत्नवान् पुरुष की अनुपलब्धि से-निवर्तमान कार्यत्व चेतन के व्यापार के साथ व्याप्त है। अतएव चेतन पुरुष के साथ व्याप्त है। फलतः चेतन पुरुष के साथ कार्यत्व की व्याप्ति बनती है।

अब (बुद्धिमान् के साथ कार्यत्व की व्याप्ति बनने पर) क्षिति आदि में कार्यत्व रहने से उसे बुद्धिमान् की रचना होना सिद्ध होता है। वह चेतन ईश्वर ही हैं, जो क्षिति आदि का निर्माण करता है। हम लोगों में इसके सम्पादन की क्षमता ही नहीं है।[१]

---

१. द्र. ज्ञानश्रीमित्र नि.पृ. २३७,२३८

ईश्वर के विषय में नैयायिक वित्तोक का वक्तव्य

केवल सपक्षसत्व तथा विपक्षासत्व से अर्थात् साध्य के निश्चित अधिकरण (सपक्ष) में हेतु का अस्तित्व तथा साध्याभाव के अधिकरण (विपक्ष) में हेतु का अस्तित्वाभाव-इन दोनों से ही अनुमान में अव्यभिचार का (दोषाभाव का) निर्णय नहीं हो सकता है।व्यभिचार का अदर्शन केवल तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति से भिन्न अनुपलब्धि हेतु के साथ साध्य की व्याप्ति का निर्णय कराता है। इससे भिन्न प्रकार के तदुत्पत्ति या कार्यत्व हेतु में व्याप्ति नहीं बन सकती है। क्योंकि कार्यत्व हेतु में व्यतिरेक का-साध्याभाव के अधिकरण में हेतु का अभाव यथार्थतः है या नहीं, इस विपक्षावृतित्व का-सन्देह है। अतएव यहाँ सन्दिग्ध अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है, जो अनुमान का बाधक है। इसलिए उक्त अनुमान के द्वारा ईश्वर सिद्ध नहीं होता है। **बौद्ध दार्शनिक**[1] **शान्तरक्षित** के उपर्युक्त मत के खण्डन हेतु नैयायिक **वित्तोक** कहते हैं कि ईश्वर साधक अनुमान में हेतु में विपक्षावृत्तित्व रूप व्यतिरेक का सदेह नहीं है। जैसे आग और धूम में कार्यकारणभाव का निर्णय अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर होता है और वह सबों को मान्य है। इसी तरह कार्यत्व और बुद्धिमत्पूर्वकत्व में भी उसी के अनुसार कार्यकारणभाव सिद्ध होता है। एक स्थान में कार्यकारणभाव को मानकर उसी तरह के अन्य स्थान में किसी युक्ति के अभाव में उसका नहीं मानना कथमपि युक्ति संगत नहीं हो सकता है। **शान्तरक्षित** के द्वारा हेतु में सन्दिग्धानैकान्तिक दोष का प्रदर्शन सर्वथा अविचारपूर्ण है। अतः वह किसी को भी मान्य नहीं हो सकता है।

अन्वय और व्यतिरेक कारण विशेष से कार्य विशेष का होना रूप विशेष कार्य-कारणभाव को ही सिद्ध कर सकता है। जैसे आग धूम से होती है, यहाँ आग कारण है और धूम कार्य-इन दोनों में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। किन्तु इससे धूम में स्थित वस्तुत्व के साथ आग का कार्यकारणभाव नहीं बन सकता है। इसी तरह जिस कार्य को बनते देखा गया है, उस कार्य विशेष के साथ उसके उपादान को जानने वाले का कार्यकारणभाव माना जा सकता है। जैसे घट, पट आदि प्रसिद्ध वस्तुओं को बनते सबों ने देखा है। अतएव उसका कर्त्ता कुम्भकार तथा जुलाहा आदि सर्वमान्य है। किन्तु सामान्य कार्यकारणभाव मानने में युक्ति नहीं दीखती है। अब कार्यत्वसामान्य के साथ चेतन पूर्वकत्व में कार्यकारणभाव नहीं सिद्ध होने से पर्वत, समुद्र तथा नदी आदि में कर्तृजन्यत्व का सिद्ध होना असम्भव है। अतएव पर्वत आदि के कर्त्ता रूप में ईश्वर नहीं

---

१. तादृशः प्रोच्यमानस्तु सन्दिग्धव्यतिरेकताम्।
आसादयति वल्मीके कुम्भकारकृतादिषु।। त०सं० का० ६५।

सिद्ध हो सकता है। **आचार्य धर्मकीर्ति** तथा **शान्तरक्षित** के इस पूर्वपक्ष के[१] उत्तर में **वित्तोक**[२] कहते हैं कि अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर कार्यविशेष के साथ कारणविशेष में ही कार्यकारणभाव माना जा सकता है। कार्यसामान्य के साथ कारणसामान्य में नहीं, बिना किसी खास हेतु का यह कहना क्या संगत है?

कार्यत्व तथा चेतनकर्तृत्व में कार्यकारणभाव सम्बन्ध को दृढ़ करने वाला कार्यकारणभावसामान्य अन्वय और व्यतिरेक पर आधारित है और इन दोनों की प्रवृत्ति निर्बाध गति से कार्य सामान्य के साथ कारण सामान्य के कार्यकारणभाव सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए होती है। अतएव जैसे घट, पट आदि कार्य विशेष में चेतन कर्तृकत्व पाया जाता है उसी तरह कार्य सामान्य भी चेतनाधीन है। अतएव संसार के कर्त्ता रूप में ईश्वर को मानना उचित ही है।

कार्यकारणभावसामान्य को सिद्ध करने का यह अभिप्राय नहीं है कि धूमात्मक कार्य का कारण यदि आग है तो धूमगत वस्तुत्व को भी उसी से उत्पन्न माना जाए। वस्तुत्व घट, पट आदि अनेक भिन्न वस्तुगत भी है जिनका कारण आग नहीं होता। अब यदि वस्तुत्व का कारण आग को मान लिया जाता है तो यहाँ कार्यकारणभाव का व्यभिचार स्पष्ट ही है।

वस्तुत्व पट गत भी है किन्तु पट का कारण आग नहीं होता है। पुनः उस पट में स्थित वस्तुत्व की उत्पत्ति आग से कैसे हो सकती है। इसी से सिद्ध होता है कि जैसे घट पट आदि प्रसिद्ध कार्य अपने उपादानों से बनते हैं, इसी तरह अन्य अदृष्ट कार्य भी। अतएव नियम बन जाता है कि कार्य अपने उपादानों से ही बनते हैं। घट, पट आदि दृष्ट कार्य की तरह (जिसको बनते देखा जाता है उसी की तरह) अदृष्ट कार्य गिरि, नदी तथा समुद्र आदि भी अपने उपादानों से बनते हैं और चेतन पुरुष (कर्त्ता) उन उपादानों का साक्षात्कार करके उचित प्रयोग के द्वारा सभी कार्यों को स्वरूप लाभ कराता है। कार्य के प्रति जैसे उपादान कारण आवश्यक है उसी तरह कर्त्ता भी। अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही कार्य के साथ उपादान का तथा कर्त्ता का सम्बन्ध समान रूप से स्थापित करते हैं। जैसे निरुपादान कार्य की शंका भी नहीं की जाती है, उसी तरह कर्त्ता से रहित कार्य की भी। प्रत्येक कार्य जैसे अपने-अपने उपादान से होते हैं उसी तरह अपने-अपने कर्त्ता से भी। जैसे उपादान के बिना कार्य नहीं होता उसी तरह कर्त्ता के बिना भी वह नहीं होता है। अतएव कार्य में चेतनकर्तृत्व (चेतनकर्त्ता के द्वारा सम्पादित होना) सिद्ध होता है। इसी से संसारात्मक कार्य का कर्त्ता ईश्वर सिद्ध होता है।

---

१. सिद्धं यादृगधिष्ठातृभावाभावानुवृत्तिमत्। प्रमाणवार्त्तिक, का० १३।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्कार्यं यस्य निश्चितम्
निश्चयस्तस्य तद्दृष्टौ इति न्यायो व्यवस्थितः।। त० सं० का०६३।

बौद्ध दार्शनिक कार्यविशेष के साथ कारणविशेष का कार्यकारणभाव सम्बन्ध मानते हैं और कार्यसामान्य के साथ कारणसामान्य का नहीं। यहाँ इनसे वित्तोक पूछते हैं कि विशेष पद से इनका क्या अभिप्राय हैं--

(१) क्या क्षिति आदि में कार्यत्व सामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती ?

(२) अथवा कार्यत्व विशेष उस स्थल में सिद्ध नहीं होता है, अतएव उसका कोई कर्त्ता नहीं हो सकता ?

(३) क्या कार्यत्व के साथ चेतनकर्तृकत्व का व्यभिचार है ?

(४) क्या साध्य और दृष्टान्त में (पक्ष और सपक्ष में) वैधर्म्य पाया जाता है ? अतएव कार्यत्वसामान्य के साथ सामान्यतः चेतनकर्तृकत्व सिद्ध नहीं होता है।

यहाँ उपर्युक्त इन चार विकल्पों द्वारा पूर्वपक्षी के वक्तव्य की विस्तृत व्याख्या की गई है, जिससे कि खण्डन करते समय पाठक को विदित हो जाए कि नैयायिक पूर्वपक्ष को अच्छी तरह जानकर खण्डन किया है।

यहाँ प्रथम विकल्प के विरोध में नैयायिक **वित्तोक** का कहना है कि घट आदि प्रसिद्ध कार्य की तरह क्षिति आदि भी कारण के व्यापार से उत्पन्न होने के नाते कार्य ही है। अतएव उसमें (क्षिति आदि में) कार्यत्व की सत्ता वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य है। अब क्षिति आदि पक्ष में कार्यत्व साध्य की असिद्धि नहीं हो सकती है। यदि घट आदि में रहने वाला कार्यत्व विशेष का अभाव क्षिति आदि में सिद्ध करना चाहते हैं तो इससे कोई हानि नहीं है। क्योंकि प्रकृत अनुमान में घट गत कार्यत्वविशेष हेतु ही नहीं है।

उक्त तीसरा विकल्प भी असंगत है। विपक्ष में हेतु की सत्ता व्यभिचार उपस्थित करती है। प्रकृत में विपक्ष में बुद्धिमत्कर्तृकत्वाभाव के अधिकरण नित्य पदार्थ में कार्यत्व हेतु का अभाव है जिसे विपक्ष कहा जा सकता था। वह तृण आदि भी पक्ष में ही अन्तर्भूत है। जहाँ साध्य के अस्तित्व में सन्देह रहता है वह पक्ष होता है और साध्याभाव का अधिकरण विपक्ष। तृण आदि भी कार्य ही हैं, अतः उनमें ही चेतनपूर्वकत्व सिद्ध ही करना है, इससे उसका पक्ष होना युक्तिपूर्ण है।

दृष्टान्त के जिस अंश में साध्य का साधर्म्य रहता है उसी अंश को लेकर दृष्टान्त उपस्थित किया जाता है और तभी दार्ष्टान्तिक के साथ उसका समन्वय होता है। कोई भी दृष्टान्त सर्वांशतः साध्यवत् पक्ष का समान नहीं होता है। जिस अंश में वैधर्म्य रहता है उस अंश की चर्चा दृष्टान्त दिखाते समय नहीं होती। इसी से चतुर्थ विकल्प का खण्डन हो जाता है। साध्य और दृष्टान्त में वैधर्म्य दिखाना प्रायः सभी अनुमान में सुलभ है। अतएव उसे युक्त मानने पर अनुमान मात्र का उच्छेद हो जाएगा।

अन्त में **वित्तोक** कहते हैं कि जैसे केवल धूम दर्शन से इतर बाध सहकृत पक्षधर्मता के बल पर अमुक स्थल में ही आग है, इस तरह का बोध होता है, अर्थात् अव्यापक साध्य का भी अनुमान हो जाता है। इसी तरह कार्य मात्र का कर्त्ता होता है--

इसी अनुमान से इतरबाध सहकृत पक्षधर्मता के बल पर पुरुषविशेष ईश्वर सिद्ध होता है।[1] जैसे–सामान्यनिरुक्ति की गोलोकनाथीय विवेचना में आरम्भ में ही कहा गया है कि महानसीय वह्नीतर वह्न्यभाववान् पर्वतो वह्निमान् धूमात् इसी तरह निकुञ्जवृत्तिवह्नीतरवह्न्यभाववत् इदं वह्निमत् धूमात् अर्थात् निकुञ्जवृत्ति वह्निमान् धूमात् यह अनुमान किया है। यहाँ निकुञ्जवृत्ति वह्नि से भिन्न वह्नि का निषेध रहने पर भी वह्नि का अनुमान किया गया है, जो निकुञ्ज में रहने वाला ही हो सकता है। यह वह्नि यद्यपि धूम का अव्यापक है तथापि पक्षधर्मता के बल से धूम हेतु के द्वारा अनुमित होता है। इसी तरह पूर्ववर्ती आचार्य **वित्तोक** ने क्षिति आदि में विशेष कर्त्ता से भिन्न अल्पज्ञ कर्त्ता के अभाव रहने पर भी सकर्तृकता का अनुमान कार्यत्व हेतु से किया है। यहाँ कार्यत्व का अव्यापक भी विशेषकर्तृकत्व पक्षधर्मता के बल पर सिद्ध होता है।

ईश्वर के विषय में नैयायिक शङ्कर का वक्तव्य

घट आदि इन्द्रियगम्य कार्य के साथ कर्त्ता के स्वाभाविक सम्बन्ध के सिद्ध होने पर भी पर्वत आदि के कर्त्ता का अनुमान नहीं किया जा सकता है।[2] इन पदार्थों को किसी ने बनते नहीं देखा है। प्रसिद्धकर्तृक घट आदि तथा सन्दिग्धकर्तृक गिरि, नदी आदि में केवल कार्यत्व शब्द के साम्य से यदि कर्त्ता का सिद्ध होना सयुक्तिक होता तो तुषार में ही धूमगत पाण्डुत्व के रहने के कारण उससे आग का सही अनुमान होने लगता। जिस कार्य का उपादान अचेतन होता है वह सकर्तृक होता है। घट का उपादान मिट्टी अचेतन है, अतएव वह कुम्भकार से बनता है। इसी तरह क्षिति आदि के उपादान अचेतन होते है, अतएव वह भी सकर्तृक होंगे। किन्तु यह नियम निर्युक्तिक है। अन्यथा जैसे मिट्टी के विकार होने के नाते घट का कर्त्ता कुम्भकार होता है उसी तरह वल्मीक भी मिट्टी का ही विकार है। अतएव यह भी कुम्भकार के द्वारा सम्पादित होने लगेगा। किन्तु ऐसा होता नहीं देखा गया है।[3]

इसके उत्तर में नैयायिक शङ्कर कहते हैं कि उपर्युक्त सारी बातें नैयायिक की मान्यता को नहीं समझकर कही गई है, अतः मान्य नहीं है। चेतन कारण की उपस्थिति में घट आदि प्रसिद्ध कार्यों की उत्पत्ति तथा उसकी अनुपस्थिति में उत्पत्ति का अभाव गगन आदि में देखा जाता है। कार्य के साथ कर्त्ता का स्वाभाविक सम्बन्ध क्षिति आदि

---

१. द्र० ज्ञानश्रीमित्र नि०पृ० २३५, २३७ तथा २४२।

२. द्र० ज्ञानश्रीमित्र नि० पृ० २३६।

३. इस पूर्वपक्ष का मूल धर्मकीर्ति के प्रमाण वार्तिक में मिलता है। द्रष्टव्य प्र.वा.का.१३,१४,१५। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य इसी प्रबन्ध का पञ्चम अध्याय।

में भी है, फलतः उसका कर्त्ता सिद्ध होता है। पाण्डुत्व के साथ आग की व्याप्ति नहीं बन सकती है। पाण्डुत्व धूम के अतिरिक्त हिम आदि वस्तुओं में भी पाई जाती है। जहाँ आग का व्यभिचार स्पष्ट ही है। अतः पाण्डुवर्ण विशिष्ट वस्तु से आग का अनुमान होना रूप दोष नहीं होता है।

करण तथा कर्म मिलकर भी चेतन के अधिष्ठान के बिना किसी क्रिया का निष्पादन नहीं कर सकते हैं। घट के कर्त्ता कुम्भकार की तरह क्षिति आदि कार्यों का अधिष्ठान उनके उपादानों का प्रत्यक्ष करने वाला ईश्वर करता है। अतएव ईश्वर अनुमान प्रमाण से प्रतिपन्न होता है।

शतानन्द के पञ्चम तर्क को पुष्ट करने के लिए शङ्कर कहते हैं कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति किसी अभिप्राय से चेतन के व्यापार द्वारा होती है। यदि निरभिप्राय व्यापार से कार्य का उत्पादन माना जाए तो कल होने वाला कार्य आज ही क्यों न हो जाएगा। एवं जिसे कुम्भकार के घर में बनना है वह घट आदि चर्मकार के घर में भी क्यों न बनेगा। इस तरह कार्य की उत्पत्ति में देश तथा काल की अव्यवस्था हो जाएगी, जो सृष्टि का साधक नहीं विघातक होगी।

किसी अभिप्राय से व्यापार के द्वारा कोई चेतन किसी कार्य का सम्पादन करता है– इस मान्यता में उक्त दोष की सम्भावना भी नहीं है, क्योंकि जिस समय में जिस देश में जिस कार्य का उत्पादन होगा, वह देश तथा वह समय भी उस कार्य का कारण होता है। अतएव कारण के अभाव में कार्य में देश तथा काल आदि की अव्यवस्था नहीं दिखाई जा सकती है।

घट आदि का अपेक्षा क्षिति आदि में कुछ विशेष परस्पर भेदक तत्त्व नहीं दीखता है, जिसके आधार पर प्रसिद्ध कार्य को साभिप्राय व्यापार के द्वारा चेतन से सम्पादित मानकर भी क्षिति आदि को उस तरह का नहीं माना जाता।

अतएव दोनों में–प्रसिद्ध कार्य घट आदि में तथा सन्दिग्ध कार्य गिरि, नदी आदि में– साम्य प्रमाणित होता है। जैसे घट आदि दृष्ट कार्य सकर्तृक होते हैं, उसी तरह क्षिति आदि भी। जीव अल्पज्ञ होता है, क्षिति आदि के उपादान रूप परमाणुओं का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उसे नहीं हो सकता है और जिस वस्तु के उपादानों का प्रत्यक्ष जिसे नहीं होता है उसका कर्त्ता वह नहीं हो सकता है। इसी से उपपन्न होता है कि जीव क्षिति आदि का कर्त्ता नहीं हो सकता है। सर्वज्ञ ईश्वर ही क्षिति आदि के कर्त्ता रूप में अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है।[१]

ईश्वर के विषय में न्यायभूषणकार की मान्यता

बौद्ध दार्शनिक आचार्य **धर्मकीर्ति** के '**सिद्धं यादृगधिष्ठातृ**' इस श्लोक के द्वारा ईश्वर–खण्डन में कही गई युक्तियों के निरास में न्यायभूषणकार **भासर्वज्ञ** कहते हैं–बौद्ध दार्शनिक जिन वस्तुओं को किसी चेतन की रचना मानते है।, उन राजभवन आदि के

१. द्र० ज्ञानश्रीमित्र नि० पृ० २३४, २३६, २३९

विषय में भी प्रत्येक व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं होता है कि यह किसी की रचना है, किन्तु जो व्यक्ति कर्त्ता तथा कार्य में व्याप्ति को जानता है वही अनुभव करता है कि इसके रचयिता होते हैं। जिसे उपर्युक्त व्याप्ति का ज्ञान नहीं रहता है, वह व्यक्ति उस प्रसिद्ध कर्तृक राजभवन आदि को भी किसी की रचना नहीं मानता। इसी तरह क्षिति आदि सन्दिग्धकर्तृक पदार्थों भी किसी चेतन कर्त्ता के द्वारा निर्माण हुआ है। क्षिति आदि सन्दिग्ध कर्तृक पदार्थो में तथा दृष्टकर्तृक राजभवन आदि में कुछ विशेष अर्थात् परस्पर भेदक तत्त्व नहीं पाया जाता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि क्षिति आदि किसी की रचना नहीं है और राजभवन आदि किसी की रचना है।

दूसरी बात यह है कि कौन कहता है क्षिति आदि किसी की रचना नहीं है। इसमें भिन्न-भिन्न दो विकल्प हो सकते हैं। क्या जिसे इस विषय की व्याप्ति का ज्ञान है वह, या जिसे व्याप्ति का ज्ञान नहीं है वह, एवं जिसे इस विषय की व्याप्ति का ज्ञान है किन्तु तत्काल स्मरण नहीं हो रहा है अथवा किसी अन्य का ही वह कथ्य है?

जो उक्त विषय की व्याप्ति को जानता है, वह ऐसा नहीं कह सकता है कि क्षिति आदि किसी की रचना नहीं है। जो उक्त व्याप्ति को नहीं जानता है वह यदि ऐसा कहता ही है तो इससे कुछ भी हानि लाभ नहीं है। क्योंकि वह तो घट को भी यदि किसी की रचना नहीं माने तो कोई आश्चर्य नहीं है। जो इस विषय की व्याप्ति को जानता है और प्रकृत में उसका स्मरण भी हो गया है वह अवश्य ही क्षिति आदि को सकर्तृक मानता है । जो व्यक्ति व्याप्ति का ज्ञान रखकर भी प्रकृत में स्मरण नहीं कर पाता उसके कुछ कहने का मूल्य ही नहीं है।

तीसरी बात यह है कि वेद को मीमांसक परम्परा किसी की रचना नहीं मानती। क्या इससे न्यायसम्प्रदाय के द्वारा उसकी पौरुषेयता की सिद्धि में कहे गए हेतुओं की असिद्धि हो जाएगी? वेद में अनित्यता की सिद्धि में साधन रूप में कृतकत्व का उपादान किया गया है किन्तु घट में जिस तरह का कृतकत्व पाया जाता है श्रोत्र अर्थात् इन्द्रिय से नहीं ग्रहण करने योग्य कृतकत्व घट में है-उसका सर्वथा विपरीत रूप कृतकत्व शब्द में है। क्या इससे शब्द की अनित्यता में बाधा होगी?

अतएव **भूषणकार** कहते हैं कि दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में सर्वांशतः भेद दिखाकर साधन को अयुक्तिपूर्ण कहना सर्वथा असंगत है। वह तो प्रत्येक अनुमान में पाया जाता है। अतएव अनुमान मात्र का उच्छेद हो जाएगा।[१]

ईश्वर की सिद्धि में न्यायभूषण में उपलब्ध युक्तियाँ

परमात्मा महेश्वर हैं जो ऐश्वर्यों से युक्त है तथा संसार के धर्म, राग द्वेष मोह से तथा दुःख आदि से सर्वथा असंस्पृष्ट है। अनादिकाल से ही उसकी सर्वज्ञता मानी गयी है तथा पूरे संसार का वह निर्माता है। इसको अनुमान तथा आगम से जाना जा सकता है।

१. द्र० ज्ञानश्रीमित्र नि०पृ० २३६।

क्षिति आदि सकर्तृक है कार्य होने से **आचार्य उद्योतकार** के इस तरह के अनुमान की तरह **भासर्वज्ञ** भी कहते हैं कि विवाद का विषय उपलब्ध होता है, अतएव वह सकारणक है। जो पहले से नहीं था उसकी सत्ता देखी जाती है। इस तरह शब्दान्तर करके वार्त्तिककार की सभी युक्तियाँ यहाँ दोहरायी गयी हैं।

भासर्वज्ञ ने प्रश्न उठाया है कि वह (ईश्वर) चूंकि अशरीर है, अतएव उसमें व्यापार नहीं हो सकता है और व्यापार से रहित पदार्थ कर्त्ता नहीं हो सकता है। यदि व्यापार रहित को कर्त्ता माना जाए तो मुक्त आत्माओं ने क्या अपराध किया है जो उसे कर्त्ता नहीं माना जाता है। यहाँ दो विकल्प होते हैं। क्या व्यापार से उत्क्षेपण आदि क्रिया विवक्षित है तो वह चूंकि अमूर्त होता है, अतएव किसी भी आत्मा में नहीं रहता है पुनः ईश्वर में भी यदि वह नहीं है तो कोई क्षति नहीं है। यदि व्यापार से धात्वर्थ रूप क्रिया अभिप्रेत है तो वह अशरीर आकाश आदि में भी रहती है, अतएव ईश्वर में रह सकती है। मुक्त आत्माओं में न कर्मकृता शक्ति है और न स्वाभाविक ही शक्ति है, अतएव वे निर्व्यापार रहते हैं। ईश्वर में स्वाभाविक शक्ति ऐश्वर्यलक्षणा रहती है वह क्रिया से युक्त हो सकता है। वह शक्ति ईश्वर में कार्य विशेष द्वारा अनुमित होती है।

इस प्रसंग में बौद्ध आचार्य **धर्मकीर्ति** की तथा उनके अनुयायियों की जो भी युक्तियाँ हैं उनको एक एक करके उठाकर यहाँ खण्डन किया गया है, जो **वाचस्पति** की युक्ति से मिलती हैं।

(१) जैसे अगुरु के धूम का परिज्ञान नहीं रहने पर भी तृण जन्य साधारण धूम से यह धूम विलक्षण है, यह प्रतीति किसी को भी होती है। पश्चात् जिज्ञासा करने पर ज्ञात होता है कि यह अगुरु का धूम है। इसी तरह हम लोगों के द्वारा निष्पादित कार्य से विलक्षण कार्य को देखकर अपने विशिष्ट कर्त्ता ईश्वर का अनुमान या आप्तवाक्य द्वारा उनका निश्चय किया जाना समुचित है।

(२)चेतन जीव अचेतन उपादानों का अधिष्ठाता होता है। अस्मदादि संसार के उपादानों का अधिष्ठाता नहीं हो सकते हैं, अतएव ईश्वर को मानना होगा।

(३) भोक्ता जीव अचेतन उपादानों का अधिष्ठाता नहीं हो सकता है। क्योंकि शरीर की उत्पत्ति के पहले जीव जड़ रहता है। तथा वह स्वतन्त्र नहीं है। जब वह स्वतन्त्र तथा चेतन हो जाता है तब भी रस, मल, धातु तथा अदृष्ट आदि विषयों की जानकारी उसे नहीं होती है। स्वयं अपने शरीर में पाचन क्रिया का सञ्चालन–नाड़ी विशेष के संचार का कार्य–कोई नहीं कर पाता है, अतएव ईश्वर को मानना होगा। माता पिता में भी इसके सम्पादन की क्षमता नहीं होती है। सद्विषयक ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न के नहीं रहने पर भी यदि उसे कर्त्ता माना जाए तो सभी कार्य के प्रति सब में कर्तृता होने लगेगी। केवल सत्ता मात्र से कर्तृता मानने पर आकाश को सबके प्रति कर्त्ता मानना

होगा। जो व्यक्ति किसी विषय को पहले जानता है फिर इच्छा करता है पुनः इच्छानुकूल यत्न करता है। उसी को लोक में तथा शास्त्र में कर्त्ता कहा गया है। अतएव जो ईश्वर स्थावर तथा जंगम में सर्वत्र अन्दर एवं बाहर में रहने वाले सूक्ष्मतम उपादानों का ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न द्वारा नियमन करता है उस भगवान् ईश्वर को अवश्य मानना होगा।

इसी से ईश्वर को अशरीरी भी कहा गया है, शरीरी जीव, हाथ आदि से स्थावर में व्यापार करता हुआ कुम्भकार की तरह उपलब्ध होता है। अन्तराकाश में अति सूक्ष्म पदार्थों में हाथ आदि का व्यापार नहीं चलता है। शरीर में रस संचार हाथ से सम्भव नहीं है। अतएव अनीश्वर तथा शरीरी शरीर तथा वृक्ष आदि कार्यो का सम्पादन भी नहीं कर सकता है और पृथिवी तथा भूधर आदि के निर्माण की तो बात ही दूर रहती है। फलतः ईश्वर को अशरीरी कहा जाना ही उचित है। पृथिवी तथा भूधर आदि चूँकि सावयव है, अतएव कार्य हैं, जो सावयव होता है वह नित्य नहीं होता है।

जो यह कहता है कि ईश्वर संसार का स्रष्टा नहीं है। क्योंकि उसे संसार से किसी तरह के दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। वह मुक्तात्मा की तरह हैं तो यहाँ उत्तर यह है कि धर्मी (ईश्वर) की यदि प्रतीति माना जाए तो धर्मिग्राहक प्रमाण ही यहाँ बाधक होगा और यदि धर्मी को नहीं माना जाए तो अनुमान में आश्रयासिद्ध दोष होगा।

ईश्वर संसार की रचना में क्यों प्रवृत्त होते हैं इसके उत्तर में **भासर्वज्ञ** वार्त्तिककार का अनुव्रजन करते हुए कहते हैं कि जैसे स्वभावतः सूर्य संसार के प्रकाशित करता है इसी तरह ईश्वर स्वभावतः संसार की रचना करता है। यह ईश्वर एक ही हैं-इसमें आगम प्रमाण देखा जाता है-एको रुद्रः न द्वितीयः (तैत्तिरीयसंहिता १-८-६-)[१]

○

---

१. द्रष्टव्य न्यायभूषण, पृ० ४४७-४६०।

पञ्चम अध्याय
बौद्ध दार्शनिक ज्ञानश्रीमित्र की ईश्वरविरोधी युक्तियाँ

बौद्ध दार्शनिक आचार्य **ज्ञानश्रीमित्र 'ईश्वरसंक्षेपदूषण'** नामक अपने निबन्ध में नैयायिक की ईश्वर विषयक विभिन्न युक्तियों को पूर्वपक्ष रूप में उठाकर अपने सिद्धान्त के अनुकूल समुचित तर्कों के द्वारा उनका प्रतिवाद किया है।

इनका प्रतिपाद्य यह है कि ईश्वर का प्रत्यक्ष किसी ने नहीं किया है। उसके सम्बन्ध में संगत अनुमान असम्भव है। वेद का प्रामाण्य सबों को मान्य नहीं है और प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाण माना नहीं जाता है। इसलिए किसी भी प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है।

ईश्वर के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव सर्वमान्य है। अतः इस प्रसंग में कुछ वक्तव्य ही नहीं उपस्थित होता। अनुमान के आधार पर ईश्वर के अस्तिव का समर्थन नैयायिकों ने किया है। जो प्रस्तुत प्रबन्ध के पूर्ववर्ती अध्यायों में दिखाया जा चुका है। इसके विरोध में आचार्य **ज्ञानश्रीमित्र** का वक्तव्य है कि नैयायिकों ने विशेष कार्य को दृष्टान्त बनाकर सामान्यकार्य तथा सामान्यकारण में कार्यकारणभाव स्थिर करके उसके आधार पर इतरबाधसहकार से ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु उक्त कार्यकारणभावसामान्य की सिद्धि में प्रमाण का सर्वथा अभाव है। अतएव जिस कार्य का कर्त्ता प्रत्यक्षतः उपलब्ध है एवं जिस कार्य के कर्त्ता का द्रष्टा प्रामाणिक है और कहता है कि अमुक कार्य का कर्त्ता अमुक है–इस कार्य से एवं इसके सजातीय कार्य से चेतन कर्त्ता का अनुमान प्रमाण होता है। जैसे जनशून्य नगर का प्रासाद एवं भग्न देवालय आदि को देखकर उसके कर्त्ता का अनुमान होता है। क्योंकि उसका सजातीय प्रासाद एवं मन्दिर का निर्माण जनपद में देखा जाता है। किन्तु जिस वस्तु के कर्त्ता को किसी ने देखा नहीं है एवं किसी प्रामाणिक व्यक्ति से सुना नहीं है उस वस्तु को सकर्तृक नहीं माना जा सकता है। पृथिवी तथा पर्वत आदि इसी कोटि में आते है। इनको किसी ने बनते नहीं देखा है एवं इनके कर्त्ता का प्रामाणिक द्रष्टा उपलब्ध नहीं है जिससे इस कर्त्ता के विषय में कुछ सुना भी जाता । फलतः पृथिवी एवं पर्वत आदि का कार्य होना सन्दिग्ध है। इसलिए ऐसी स्थिति में पर्वत आदि के आधार पर चेतन कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि अथवा स्वीकृति सर्वथा गगनकुसुम जैसा है।

प्रत्येक कार्य परस्पर विलक्षण होते हैं। प्रत्येक कार्य के साथ कर्त्ता की व्याप्ति भिन्न भिन्न होती है। पर्वत तथा नदी आदि पदार्थो में सर्वप्रथम कार्यत्व ही सन्दिग्ध है। अतएव उस कोटि के पदार्थों के साथ चेतन कर्त्ता की व्याप्ति नहीं हो सकती है और व्याप्तिज्ञान के अभाव में पर्वत आदि को पक्ष मानकर कार्यत्व हेतु से चेतन कर्त्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है।

अपि च ईश्वर यदि सांसारिक सभी कार्यों का कर्त्ता माना जाए तो कुम्भकार आदि प्रसिद्ध कर्त्ताओं का प्रयत्न विफल होने लगेगा और इससे सांसारिक वैचित्र्य की अनुपपत्ति होगी। कर्त्ताओं में परस्पर भेद कार्यों में भेद सिद्ध करता है। एकजातीय वस्तु एकजातीय कर्त्ता से निर्मित होता है और अपरजातीय वस्तु अपरजातीय कर्तों से इस तरह कार्यो में वैचित्र्य उपपन्न होता है। जैसे कुम्भकार की रचना घट आदि से सर्वथा भिन्न कुविन्द (जुलाहा) की रचना पट आदि है। यदि एक ही ईश्वर से सांसारिक सभी वस्तुओं का निर्माण माना जाए तो यह वैविध्य उपपन्न नहीं होगा।

यह वैविध्य ही कहता है कि घट के सकर्तृक होने से पर्वत आदि भी बुद्धिमान् की रचना हो इसमें प्रमाण नहीं है। व्याप्ति प्रत्येक कार्य के साथ प्रत्येक कर्त्ता की भिन्न भिन्न होती है। इसका प्रत्यक्ष प्रथमतः अपेक्षित है, जो पर्वत आदि तथा कथित कार्यों से सम्भव नहीं है। विशेष कार्य के साथ विशेषकर्त्ता का स्वाभाविक सम्बन्ध होने पर भी सामान्य रीति से कार्य एवं कारण में (कर्त्ता में) व्याप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि सामान्यतः कार्य तथा कर्त्ता की व्याप्ति में सन्दिध नैकान्तिक हेतु दोष होता है। पर्वत आदि बुद्धिमान् की रचना है या नहीं–इसमें सन्देह है।

इस संशय के छेदन के लिए पूर्वपक्षी नैयायिक यदि कहें कि अवयवशाली पदार्थ कार्य होता है और पर्वत आदि भी सावयव हैं, अतएव उनका कार्य होना स्वभाव है। तो इसका उत्तर होगा कि तात्कालिक व्यभिचार के अनुपलब्ध रहने पर भी भावी में व्यभिचार की सम्भावना है। इसलिए उक्त व्याप्ति के आधार पर प्रामाणिक अनुमान सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक कार्य सकर्तृक होता है–इस तरह का सामान्य कार्यकारणभाव रूप सिद्धान्त आचार्य **ज्ञानश्रीमित्र** को मान्य नहीं है। इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि यह मान्यता बौद्ध दर्शन के प्राचीन आचार्य **धर्मकीर्ति** ने स्थापित की थी। जिसका पल्लवनमात्र **ज्ञानश्रीमित्र** के द्वारा यहाँ हुआ है। उक्त सन्दर्भों से **ज्ञानश्रीमित्र** का मौलिक चिन्तन परिलक्षित नहीं होता है। पर्वत आदि के स्वरूप के प्रसंग में ज्ञानश्रीमित्र का कथ्य है कि काल के परिपाक से तथा अपने अपने अवयवों से पर्वत आदि तथाकथित कार्य स्वरूप लाभ करता है। इस तरह के महान् कार्यों का सम्पादन भूत तथा प्रेत आदि के द्वारा अथवा अनेक व्यक्तियों से भी होता है। पहले महान् कार्यों के अवयवों की रचना होती है। पश्चात् अवयवी का निर्माण होता है।

इसलिए प्रत्येक कार्य का चेतन कर्त्ता सर्वथा आवश्यक नहीं है किन्तु किसी कार्य का निर्माण चेतन के द्वारा भी होता है। इस स्थिति में स्पष्टतः कहा जा सकता है कि पर्वत आदि को कार्य मानकर उससे चेतन कर्त्ता के रूप में ईश्वर को सिद्ध करना सर्वथा असम्भव है। फलतः **ज्ञानश्रीमित्र** ने उपपन्न कर दिया कि ईश्वर की सिद्धि में कार्यात्मक हेतु से नैयायिक के अनुमान का प्रयास निष्फल है।

धर्म और अधर्म रूप अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की स्थापना भी सम्भव नहीं है। धर्म और अधर्म का अस्तित्व ही निश्चित प्रमाण के अभाव में सन्दिग्ध है। इस स्थिति में संसार के वैचित्र्य के प्रति उस अदृष्ट को कारण मानना सर्वथा अनुपयुक्त होगा। अपि च, दृष्ट कारणों से ही सांसारिक वैविध्य उपपन्न हो जाता हैं। इसके लिए पुनः अदृष्ट की कल्पना निरर्थक है। वेदों में पुनरुक्त तथा व्याघात आदि दोष पाये जाते हैं। जिसकी चर्चा पूर्ववर्ती अध्याय में **वाचस्पति** का मन्तव्य उपस्थित करते हुए की गई है। अतएव वेद रूप शब्द प्रमाण नहीं हो सकता है। फलतः शब्द प्रमाण भी ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकता है।

ईश्वर के विषय में उपर्युक्त कथन यद्यपि बौद्ध-दार्शनिक परम्परा में आदि भाग से ही उपलब्ध है किन्तु यहाँ इतना ही दिखाना था कि **ज्ञानश्रीमित्र** ने भी इस परम्परा का अनुसरण छोड़ा नहीं है।

नैयायिक की युक्तियों का प्रतिवाद करते हुए इन्होंने कहा है कि हेतु और साध्य में केवल सहचार का दर्शन (अन्वय तथा व्यतिरेक) किसी के साथ किसी की व्याप्ति को सिद्ध नहीं कर सकता है। किन्तु इन सबों के रहते हुए विपक्ष में हेतु के अस्तित्वाभाव का निश्चय व्याप्ति की सिद्धि में नितान्त अपेक्षित है। प्रकृत में कार्यत्व हेतु से ईश्वर साधक अनुमान में संशय होता है कि यह हेतु साध्याभाव के निश्चित अधिकरण रूप विपक्ष से यथार्थतः व्याप्त है या नहीं? इसलिए यहाँ सन्दिग्घानैकान्तिक हेतु दोष होता है।

इसी सन्दर्भ में यदि कहा जाए कि सपक्ष में हेतु का दर्शन तथा विपक्ष में उसका अदर्शन ही व्याप्ति को उपपन्न करता है। विपक्ष में हेतु के अदर्शन से वहाँ हेतु का अस्तित्वाभाव निश्चित हो जाता है। इसके उत्तर में **ज्ञानश्रीमित्र** ने कहा है कि यहाँ दो विकल्प उठते हैः- (१) क्या विपक्ष में हेतु के नहीं रहने से उसका अदर्शन होता है? अथवा (२) विपक्ष में हेतु के रहने पर भी उसे देखने की सामग्री उपलब्ध नहीं है। इसलिए वहाँ उसका अदर्शन होता है? नैयायिक के द्वारा इन विकल्पों का समुचित उत्तर नहीं पाकर यहाँ निर्णय किया जाता है कि केवल सहचार दर्शन व्याप्ति का ग्राहक नहीं हो सकता है। यदि दर्शनसामग्री के अभाव में हमलोग विपक्ष में हेतु का अभाव देखते हैं तो अभी व्यभिचार के परिलक्षित नहीं होने पर भी भविष्य में वह स्पष्ट प्रतीत

हो सकता है। इसलिए केवल सहचार दर्शन अथवा अन्वय एवं व्यतिरेक के बल पर विपक्ष में हेत्वभाव का निश्चय करना सम्भव नहीं है और यही अनिश्चय कार्यत्व हेतु से बुद्धिमत्कर्तृकत्व रूप साध्य को सिद्ध नहीं होने देगा। इसके सिद्ध नहीं होने से परिशेषत: ईश्वर का सिद्ध होना रूप नैयायिक के अभीष्ट की सिद्धि तो दूर की बात रही।

वाचस्पति की मान्यता का प्रतिवाद

वाचस्पति मिश्र का कहना है कि हेतु तथा साध्य का एक अधिकरण में भूयोदर्शन तथा व्यभिचार का अदर्शन व्याप्ति का निश्चय करता है, जो उपाधि के अभाव में स्वत: होता ही है। उपाधि नहीं रहने से व्यभिचार नही होता है। जहाँ व्यभिचरित हेतु रहता है उस स्थल में हेतु में उपाधि भी अवश्य रहती है। जैसे धूम साध्य है और आग हेतु है–इस स्थल में हेतु व्यभिचरित है। क्योंकि आर्द्रेन्धनसंयोग यहाँ उपाधि होती है। प्रकृत में, कार्यत्व से चेतन कर्त्ता की सिद्धि में उपाधि उपलब्ध नहीं है। इसलिए व्याप्ति का निश्चय हो सकता है। इसके प्रतिवाद में **ज्ञानश्रीमित्र** ने कहा है कि उपाधि दृश्य वस्तु स्थानीय नहीं है, जिसके अदर्शन से उसका अभाव मान लिया जाएगा। अपितु व्यभिचार देखकर ही उसकी कल्पना होती है। अत: उपाधि का अभाव व्यभिचार के अभाव का साधक नहीं हो सकता है, किन्तु व्यभिचार उपाधि का परिकल्पक होता है। फलत: **वाचस्पति** की मान्यता सारहीन प्रतीत होती है।

दूसरी बात यह है कि जिस हेतु में भविष्य में व्यभिचार सम्भव है तथा जो यथार्थ में सद्धेतु है–इन दोनों में परस्पर भेदक का अभाव है। अतएव जिस हेतु में भविष्य में व्यभिचार की शंका है उसमें व्याप्ति नहीं बन सकती है। और इसके अभाव में वह सद्धेतु नहीं हो सकता है, जो प्रामाणिक अनुमान का आधार होगा। अतएव कार्यत्व हेतु से बुद्धिमत् कर्तृकत्व साध्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

ज्ञानश्रीमित्र ने विभिन्न युक्तियों के द्वारा सामान्यकार्यकारणभाव का प्रतिवाद करके उपसंहार में पुन: अपना प्रबल प्रतिद्वन्द्वी **वाचस्पति मिश्र** का उल्लेख करता है। आचार्य **त्रिलोचन** की ईश्वर साधक युक्ति में सार नहीं है–यह कहकर वह कहता है कि इसी तरह **वाचस्पति** का कृतबुद्धि के बैधुर्य में विशेष अन्वेषण अभिधेय एवं प्रयोजन को अज्ञान–प्रयुक्त समझना चाहिए। पर्वत आदि का निर्माण किसी ने किया–इस बुद्धि के अभाव में पर्वत आदि पक्ष में चेतनपूर्वकत्व रूप साध्य के अभाव का ज्ञान ही विवक्षित है। चेतन कर्तृकत्व की प्रतीति में विवाद रहने पर किस विशेष से घट आदि में सकर्तृकत्व है और पर्वत आदि में नहीं–इसकी सिद्धि होती है। नैयायिक **वाचस्पति** की इस उक्ति के विरोध में कहना है कि घट आदि प्रसिद्ध कार्य के कर्त्ता कुम्भकार की तरह हाथ पाँव से युक्त शरीरी कर्त्ता पर्वत का नहीं देखा गया है। अतएव उसमें कृतबुद्धि (किसी ने इसे बनाया होगा–वह बुद्धि) नहीं हो सकती है। यही बौद्ध

मताबलम्बी का अभिधेय है, जिसके अज्ञान से **वाचस्पति** ने अपनी उपर्युक्त मान्यता की स्थापना की है। घट आदि प्रसिद्ध कार्यों का प्रयोजन जलाहरण आदि तथा अम्भोघर (मेघ) आदि तथाकथित कार्य का प्रयोजन दावाग्नि- निवारण, कृषि सञ्चालन आदि परस्पर भिन्न है। इसलिए प्रयोजन में परस्पर पार्थक्य प्रमाणित करता है कि घट आदि एवं मेघ आदि परस्पर भिन्न जाति के है। घट आदि के सकर्तृक होने से मेघ एवं पर्वत आदि भी चेतन का निर्माण हो[१] यह कहना कठिन है-

सामान्यकार्यकारणभाव सिद्धि का खण्डन

नैयायिक कहता है कि बौद्ध दार्शनिकों ने हेतु को तीन भागों में बाँटा है-तादात्म्य तदुत्पत्ति और अनुपलब्धि। यह वृक्ष है शीशम होने से-यहाँ तादात्म्य लक्षण हेतु है। शीशम तथा वृक्ष में तादात्म्य सम्बन्ध सर्वमान्य है। धूम आग से उत्पन्न होता है। अतः धूम के आग के अनुमान में तदुत्पत्ति लक्षण हेतु होता है। प्रत्यक्ष योग्य वस्तु की अनुपलब्धि से उसके अभाव का अनुमान होता है। जैसे घट प्रत्यक्ष योग्य वस्तु है किन्तु भूतल में उसकी अनुपलब्धि उसके अभाव के अनुमान में हेतु होती है। प्रकृत में प्रयत्नवान (चेतन) के साथ कार्यत्व की तदुत्पत्ति लक्षण व्याप्ति बन सकती है। यथा धूम और अग्नि की व्याप्ति होती है, इसी तरह उपर्युक्त व्याप्ति की उपपत्ति में भी उसका गौण प्रयोग होता है। घट की उत्पत्ति में जैसे मिट्टी के पिण्ड, दण्ड, चक्र एवं चीवर आदि के समवधान में भी कुम्भकार के व्यापार की अपेक्षा होती है, अन्यथा इस व्यापार के अभाव में घट का निर्माण नहीं होता है एवं उसकी उपलब्धि भी नहीं होती है। किन्तु उक्त व्यापार के बाद घट का निर्माण तथा क्रमशः उपलब्धि भी होती है। इसी तरह कार्यत्व हेतु से प्रयत्नवान् का अनुमान नहीं हो सकता है। यहाँ हेतु विपक्ष से व्यावृत्त ही है। साध्याभाव के अधिकरण आकाश में कार्यत्व कदापि नहीं रहता है।

इसके उत्तर में **ज्ञानश्रीमित्र** ने कहा है कि एक कोटिक निश्चयात्मक ज्ञान संशय का प्रतिबन्धक होता है-यह सर्वमान्य है, यथा यह स्थाणु है या पुरुष-इस संशय में यदि किसी तरह स्थाणु का या पुरुष का निश्चय हो जाता है तो वहाँ सन्देह नहीं रहता। प्रकृत में कार्यत्व हेतु से प्रयत्नवान् कर्त्ता रूप साध्य की सिद्धि में हेतु पक्ष और विपक्ष दोनों स्थलों में विद्यमान है। इसलिए विपक्षमें हेतु के अस्तित्व का निश्चय ही है, जो उक्त अनुमान में प्रतिबन्धक है। वृक्ष एवं वीरण (गुल्म) आदि की उत्पत्ति में किसी पुरुष का प्रयत्न नहीं देखा गया है। किन्तु उसे कार्य माना जाता है। अतएव वृक्ष एवं वीरण आदि विपक्ष में कार्यत्व रूप हेतु का अस्तित्व स्पष्ट है।

उपर्युक्त विपक्ष वृक्ष एवं वीरण आदि पक्षकोटि में समाविष्ट नहीं हो सकते।

---

१. द्रष्टव्य ज्ञानश्रीमित्र नि०, पृ० २५५।

क्योंकि विपक्ष[1] को पक्ष बनाना असम्भव है। अन्यथा आग उष्ण नहीं होता है, प्रमेय होने से-इस अनुमान को भी प्रामाणिक मानना होगा। विनिगमक के अभाव में यहाँ भी विपक्ष जलह्रद आदि को पक्ष मानकर उसमें उष्णता के अभाव का अनुमान सुलभ है और यह यदि प्रामाणिक हो तो बाध नामक हेत्वाभास का सर्वथा उच्छेद हो जाएगा। क्योंकि जहाँ साध्य के अस्तित्व का सन्देह रहता है वह पक्ष होता है। अब , विपक्ष को यदि पक्ष माना जाए तो विपक्ष में हेतु है या नहीं-इसका संशय रहता ही है। इसलिए साध्याभाव के अधिकरण रूप विपक्ष में हेतु के अभाव का निश्चय नहीं हो पाएगा। और साध्याभाव के अधिकरण में हेतु की सत्ता ही बाध पदार्थ है। जिसका उच्छेद उपर्युक्त रीति से होता है।

एक प्रतियोगी (विषय) का प्रत्यक्ष अपर प्रतियोगी की अपेक्षा अनुपलब्धि मानी जाती है। अतएव अनुपलब्धि से बाधित हेतु भी उक्त नियम के अनुसार प्रत्यक्ष वाधित ही होगा। पक्ष में साध्य के नहीं देखने से उसका (साध्य का) अभाव ज्ञात होता है। जो बाध नामक हेत्वाभास है। पृथिवी एवं पर्वत आदि बुद्धिमान् का निर्माण है, कार्य होने से इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि सम्भव नहीं है। उपर्युक्त अनुमान का हेतु कार्यत्व प्रत्यक्ष से बाधित है। कार्यत्व हेतु के अधिकरण वृक्ष एवं वीरण आदि में बुद्धिमान् की रचना रूप साध्य का अभाव विद्यमान है। व्यवहार की दृष्टि से वह अनुपलब्धि अनुमान ही है। पर्वत में कर्तृत्व नहीं हैं, क्योंकि वह उपलब्ध नहीं होता है-इस अनुमान में अनुपलब्धि उस साध्य का हेतु होती है। प्रकृत में अनुमान के हेतु को बाधित होने से उस हेतु से पृथिवी आदि में किसी कर्त्ता की रचना का अनुमान संगत नहीं हो सकता है।

नैयायिक यदि पूर्वपक्ष करें कि अनुपलब्धि दृश्य पदार्थ के अभाव को समझाती है किन्तु बुद्धिमत्त्व दृश्यं, अदृश्य शरीर अर्थात् शरीर विशिष्ट आत्मा तथा तदितर में भी रहता है। अतएव तृण तथा वृक्ष आदि के जन्म में अदृश्य बुद्धिमान् की कर्तृता हो सकती है।पर्वत एवं वृक्ष आदि में कर्तृकत्व के सन्दिग्ध होने से उन्हें पक्ष बनाया जा सकता है।जिस अधिकंरण में साध्य के अस्तित्व में सन्देह रहता है उसी को प्राचीन नैयायिकों ने पक्ष[2] माना है।

---

१. पर्वतीय आधुनिक वृक्ष आदि में कर्त्ता नहीं देखा जाता है तथा कार्यत्व सिद्ध है। अतएव बौद्ध मान्यता इसे विपक्ष कहती है। किन्तु पर्वत में ऐसी बात नहीं है। चिर काल से पर्वत एक जैसा ही देखा गया है। अतएव उसे सन्दिग्धकर्तृक माना जाता है। नैयायिक के मत में पर्वत आदि पर वृक्ष किसी के द्वारा रोपा जा सकता है। तथा स्वतः भी वह उत्पन्न हो सकता है। अतएव वहाँ साध्य का सन्देह देखकर उसे पक्ष कहा गया है।

२. सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः इति प्राञ्चः। सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता इति नवीनाः।

यहाँ **ज्ञानश्रीमित्र** ने कहा है कि यह तो बेची हुई गाय की रक्षा का भार लेने की तरह हुआ। उपर्युक्त हेतु एवं साध्य की व्याप्ति को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष तथा अनुपलब्धि को (अन्वय और व्यतिरेक को) मानना होगा। पर्वत आदि के कर्त्ता रूप में अदृश्य चेतन (ईश्वर) के मानने से अन्वय और व्यतिरेक असम्भव है। इसलिए उनके आधार पर उक्त व्याप्ति स्थिर नहीं होती है। दृश्य चेतन के साथ ही हठात् उक्त व्याप्ति स्थिर होती है।

नैयायिक यदि पूर्वपक्ष करें कि आपत्ति के अभाव में प्रत्यक्ष के अविषय केवल बुद्धिमान् के साथ–जो क्षिति एवं पर्वत आदि के उपादानों का प्रत्यक्ष करता है– कार्यत्व की व्याप्ति का ज्ञान सम्भव है तो इसके प्रतिवाद में **ज्ञानश्रीमित्र** ने कहा है कि इससे भी ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है। किन्तु क्षिति आदि कार्यों के उपादान ज्ञानवाला पुरुष सिद्ध होता है। वह नित्य एवं सर्वज्ञ हो ही–इसका ग्राहक प्रमाण नहीं मिलता है।अपि च व्याप्ति का स्वभाव है कि वह दृश्य कार्य कारण में ही अन्वित होती है। अब, अपने स्वभाव को छोड़कर अदृश्य ईश्वर में उसका अन्वय असम्भव है। स्वभाव के विरुद्ध आचरण किसी से सम्भव नहीं है।

व्यभिचार ज्ञात होकर व्याप्ति का प्रतिबन्ध करता है। प्रकृत में उसका प्रश्रय नहीं है। पृथिवी आदि के उपादानों का ज्ञान उसकी उत्पत्ति में जनक होता है। उस ज्ञान से इच्छा होती है जिससे प्रयत्न उत्पन्न होता है। ईश्वर की सिद्धि में कहना है कि प्रयत्नवान् ईश्वर में रूप नहीं रहने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतएव व्यभिचार का ज्ञान उक्त स्थल में सम्भव नहीं है और इसके अभाव में प्रत्यक्ष के अविषय उस ईश्वर के साथ कार्यत्व हेतु की व्याप्ति गृहीत होती है। इसके उत्तर में **ज्ञानश्रीमित्र** ने कहा है कि प्रत्यक्ष के अविषय ईश्वरात्मक प्रयत्नवान् के साथ कार्यत्व की व्याप्ति का ज्ञान उचित नहीं है। क्योंकि व्याप्ति का स्वभाव है कि वह दृश्य विषयों में ही गतिशील होती है। इसकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है। फलतः ईश्वर की व्याप्ति कदापि सम्भव नहीं है।

यद्यपि देश एवं काल के व्यवधान में प्रत्यक्ष योग्य वस्तु का अदर्शन देखा जाता है। यथा किसी के घर की वस्तु अपर गृह से दृश्य नहीं होता है। एवं पिता के बाल्य काल में दृष्ट वस्तु पुत्र को प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतएव वस्तु में दर्शन की योग्यता रूप धर्म मानना होगा जो अदृश्य वस्तु से उसका पार्थक्य सिद्ध करता है।

उक्त दर्शन योग्य वस्तुओं में व्याप्ति का ज्ञान सम्भव होने पर भी प्रकृत में ईश्वर के प्रत्यक्ष योग्य नहीं होने से उसमें व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु क्षणिक है। अतएव अर्थक्रियाकारित्वरूप स्वलक्षण में ही प्रत्येक वस्तु का पर्यवसान माना जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कार्यत्व में चेतनकर्तृकत्व की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। जैसे प्रवृत्तियोग्य जलता हुआ अंगार रूप अग्नि के

प्रत्यक्ष से उसकी व्याप्ति धूम रूप हेतु में सिद्ध होती है। इससे जठराग्नि का अनुमान नहीं हो सकता है। क्योंकि जठराग्नि प्रत्यक्ष का अविषय है, उसके साथ धूम का कार्यकारणभाव नहीं देखा गया है। दूसरी बात यह है कि जठराग्नि के लिए किसी की प्रवृत्ति नहीं देखी गई है। किसी भी बाह्य व्यवहार की सिद्धि उससे असम्भव है। फलतः प्रत्यक्ष के अविषय होने से जठराग्नि के साथ धूम की व्याप्ति नहीं होती है। पल्लवों के चलन से स्पृश्य (अनुकूल) वायु का अनुमान होता है। अतएव धूप से पीड़ित व्यक्ति स्पृश्यवायु के लिए प्रवृत्त होता है। वह अनुमान यदि सकल वायु साधारण का ज्ञापक हो तो प्रतिकूल वायु (झंझावात) का भी ज्ञापक होगा, जिससे व्यक्ति निवृत्ति चाहता है। अतएव एक काल में वायु के लिए व्यक्ति की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति होने लगेगी। इसी तरह कार्यत्व हेतु से प्रत्यक्षयोग्य चेतन का अनुमान उचित एवं सम्भव है जो घटात्मक कार्य के कर्त्ता कुलाल आदि में देखा जाता है। अदृश्यचेतन ईश्वर का अनुमान उक्त हेतु से सम्भव नहीं है। उपर्युक्त विचार के आधार पर यह धारणा बनती है कि कार्यविशेष से कर्त्ता विशेष के अनुमान होने पर भी कार्यसामान्य से कर्त्तासामान्य का अनुमान नहीं हो सकता है-इसमें सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्त्व रूप हेतुदोष विद्यमान है। अतएव ईश्वर सिद्ध नहीं होता है।

अपि च दृश्य तथा अदृश्य विशेषणों को छोड़कर केवल चेतन कर्त्ता के साथ कार्यत्व की व्याप्ति यदि कहते हैं तो यहाँ बौद्ध दार्शनिक पूछता है कि जैसे घट तथा कुम्भकार में व्यतिरेक प्रतिपादन के लिए कुम्भकार के अभाव में घट का अभाव कहा जाता है, इसी तरह प्रकृत में चेतन कर्त्ता का अभाव आपके मतानुसार सम्भव नहीं है। क्योंकि वह नित्य एवं सर्वज्ञ है, उसका अभाव नहीं होता है तथा उसके अभाव का अधिकरण भी प्रसिद्ध नहीं है। अतएव कार्यत्व तथा चेतन कर्त्ता में व्याप्ति के लिए अन्वय के सिद्ध होने पर भी व्यतिरेक की सिद्धि नहीं होती है। साधारणतः दृश्य वस्तु में उनकी अनुपलब्धि से व्यतिरेक सिद्ध होता है। प्रकृत में (अदृश्य चेतन, ईश्वर) की अनुपलब्धि उसका व्यतिरेक नहीं प्रमाणित कर सकता है। अनुपलब्धि अदृश्य वस्तु के व्यतिरेक साधन में सामर्थ्यहीन है। अन्यथा (यदि अनुपलब्धि से अदृश्य का व्यतिरेक प्रामाणिक हो) तृण आदि में कार्यत्व हेतु का व्यभिचार प्रामाणिक हो जाएगा। तृण आदि का कर्त्ता प्रत्यक्षताः उपलब्ध नहीं है? वह अनुपलब्धि यदि अदृश्य कर्त्ता का अभाव प्रतिपादित कर दे तो यहाँ वह स्पष्ट है। अतएव तृण चेतन कर्तृकत्व के अभाव रूप साध्याभाव का अधिकरण होगा, जहाँ कार्यत्व हेतु विद्यमान है। इस तरह व्यभिचार का साधारण भेद यहाँ स्पष्टतः होने लगेगा। सारांश यह है कि कार्यत्व हेतु अदृश्य ईश्वर को नहीं सिद्ध कर सकता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इस पूर्वपक्ष की चर्चा **नैयायिक उदयन** के कुसुमाञ्जलि में (प्रथम स्तवक कारिका १९ में) मिलती है और इसके उत्तर में उन्होंने कहा है कि अन्वय तथा व्यतिरेक ही कार्यकारणभाव का ज्ञापक नहीं है अपितु

धार्मिग्राहकमान के द्वारा कार्य की नियतपूर्ववृत्तिता से भी वह सिद्ध होता है। अतएव अदृश्य चेतन ईश्वर में व्यतिरेक के नहीं घटने से भी कर्तृता की हानि नहीं होती है।

इसके उत्तर में **ज्ञानश्रीमित्र** का कथन है कि यह तो बेची हुई गाय की रक्षा का भार लेने की तरह हुआ। कार्यत्व (हेतु) तथा बुद्धिमत् कर्तृकत्व (साध्य) की व्याप्ति को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष तथा अनुपलब्धि को (अन्वय एवं व्यतिरेक को) मानना होगा। पर्वत आदि के कर्त्ता रूप में अदृश्य बुद्धिमान् के मानने से उक्त प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ सम्भव नहीं है, जिनके आधार पर व्याप्ति स्थिर होती है।

नैयायिक यदि पूर्वपक्ष करें कि आपत्ति के अभाव में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष को छोड़कर केवल बुद्धिमान् के साथ जो क्षिति एवं पर्वत आदि के उपादानों का प्रत्यक्ष करते हैं-कार्यत्व की व्याप्ति का ज्ञान सम्भव है। इसके प्रतिवाद में **ज्ञानश्रीमित्र** कहता है कि इससे भी ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है। किन्तु क्षिति आदि कार्यों के उपादान ज्ञान वाला पुरुष सिद्ध होता है। अपि च व्याप्ति का स्वभाव है कि वह दृश्य कार्य तथा कारण में ही अन्वय होती है। अब, अपने स्वभाव को छोड़कर अदृश्य ईश्वर में उसका घटना ही असम्भव है। स्वभाव के विरुद्ध आचरण करना सम्भव ही नहीं है।

अभिप्राय यह है कि दृश्य चेतन के साथ कार्यत्व की व्याप्ति में दृश्य विशेषण को हटा देने से व्याप्ति के ज्ञान-काल में व्यतिरेक का बोध कराने वाला साधन उपलब्ध नहीं है। इसलिए कार्यत्व के साथ अदृश्य चेतन की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। क्योंकि अदृश्य चेतन का अभाव, ग्राहक प्रमाण के नहीं रहने से ज्ञात नहीं होता है। फलतः कार्य तथा अदृश्य चेतन में कार्यकारणभाव रूप अनुकूल तर्क के अभाव में उक्त व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है। विपक्ष में कार्यत्व हेतु का अभाव है या नहीं-इसका सन्देह रहने से हेतु सन्दिग्धानैकान्तिक नामक हेतुदोष से युक्त होता है। उस हेतु से संगत अनुमान नहीं हो सकता है। इसलिए प्रकृत में ईश्वर की सिद्धि सर्वथा असम्भव है।

यदि प्रश्न हो कि आकाश रूप अधिकरण में चेतन कर्त्ता के अभाव रहने से कार्यत्व का अभाव रहता है। इसलिए अदृश्य चेतन को कर्त्ता मानने पर भी कार्यकारण भाव रूप अनुकूल तर्क की सिद्धि में व्यतिरेक का ज्ञान हो सकता है। इसके उत्तर में बौद्ध दार्शनिक कहता है कि आकाश में कार्यत्व का अभाव चेतन कर्त्ता के व्यापार के अभाव में है-इसमें प्रमाण नहीं मिलता है। सभी कारणों के उपस्थित रहने पर केवल चेतन कारण के अभाव में यदि कार्य नहीं होता है तो चेतन कर्त्ता के व्यतिरेक प्रयुक्त कार्य का अभाव माना जाता है। अन्यथा कार्यकारणभाव से रहित वस्तुओं का अभाव भी कार्याभाव को सिद्ध करने लगेगा जो आपत्ति मानी जाएगी।

अपि च, विकल्प उठता है कि क्या चेतन कर्त्ता के व्यापार के अभाव में आकाश में कार्यत्व का अभाव है? अथवा कारणमात्र के अभाव में? इसका निर्णय करना कठिन है। अतएव आकाश में चेतन कर्त्ता के व्यतिरेक का प्रदर्शन सर्वथा विफल होगा।

फलतः ईश्वर की सिद्धि में पूर्वोक्त दोष का उद्धार नहीं होता है। कार्यत्व के साथ चेतन कर्त्ता का अन्वय कार्य तथा कारण सामान्य में अन्वय का ज्ञान कराता है। अथवा पुरुषविशेष रूप कारण तथा कार्यविशेष में अन्य का ज्ञान कराता है–इसमें सन्देह है और इसका निश्चय कार्यकारणभाव के सिद्धान्त में हेतु होता है। इसे अनुकूल तर्क कहते हैं। वही व्याप्ति का ग्राहक होता है। प्रकृत में उसका सन्देह व्याप्ति के ज्ञान का प्रतिबन्ध करता है।

यदि कहा जाए कि पुरुषविशेष के साथ कार्य का कार्यकारणभाव सम्बन्ध देखा जाता है। इसलिए व्याप्ति ग्राहक अन्वय में सन्देह का अवकाश नहीं है। प्रत्युत वह धूम तथा वह्नि की तरह निश्चित है। तो इसके उत्तर में बौद्ध दार्शनिक कहता है कि दृश्य शरीर के साथ कार्यविशेष के कार्यकारणभाव का प्रत्यक्ष होता है। अतएव दृश्यत्व के अविशेष से वह्नि के अंगार रूप की तरह दृश्य शरीर तथा कार्यविशेष के अन्वय सिद्ध होकर भी अदृश्य ईश्वर कार्यत्व हेतु वाले अनुमान से उपपन्न नहीं होता है। यदि कहा जाए कि कार्य के साथ शरीर के अन्वय करने पर पर्वत आदि में हेतु व्यभिचरित होगा। क्योंकि पर्वत कार्य है और शरीरी कर्त्ता से उसका निर्माण नहीं देखा गया है। अतएव कर्त्ता में शरीर के विशेषण से साध्याभाव के अधिकरण रूप पर्वत में उक्त हेतु विद्यमान है। इसे व्यभिचारी हेतु कहा जाता है। बौद्ध दार्शनिक इसके उत्तर में कहते हैं कि उक्त स्थल में व्यभिचार होने से क्षति क्या है? क्योंकि कार्यविशेष का उत्पादक कारणविशेष होता है। यथा घट तथा कुम्भकार प्रसिद्ध है। इसी तरह कार्य के प्रति दृष्ट कारण में ही कार्यकारणभाव मानकर अन्वय होता है। अतएव घट की तरह सौध तथा तोरण आदि का कर्त्ता दृष्ट ही होता है। जहाँ परस्पर अन्वय स्पष्ट है (फलतः कार्यविशेष के साथ कारणविशेष)सिद्ध होता है, कार्यसामान्य के साथ कारणसामान्य नहीं। इसमें अनुकूल तर्क का अभाव है। और इनके नहीं सिद्ध होने से संसार के कर्त्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि भी असम्भव है। प्रत्यक्ष और अनुपलब्धि (अन्वय तथा व्यतिरेक) में से किसी एक के नहीं घटने से अपर भी नहीं घटता है। कार्यत्वसामान्य में कारणत्वसामान्य के व्यतिरेक के नहीं घटने से अन्वय भी नहीं घट सकता है। क्योंकि व्यतिरेक के प्रतियोगी को प्रत्यक्षयोग्य होना आवश्यक है और कारणत्व-सामान्य के अन्तर्भूत ईश्वर सर्वथा अप्रत्यक्ष पदार्थ है। इसी से पर्वत रूप अधिकरण में कार्यत्व रूप हेतु के रहने पर भी कारणत्वसामान्य के अन्तर्भूत चेतन कर्त्ता ईश्वर का अप्रत्यक्ष स्पष्ट है। अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी की प्रत्यक्षयोग्यता अपेक्षित है। यहाँ ईश्वर में प्रत्यक्ष योग्यता नहीं रहने से उसका व्यतिरेक नहीं घटता है, जो अन्वय को भी नहीं घटने देगा। अन्वय और व्यतिरेक दर्शन से रहित पदार्थ का स्पर्श नहीं करता है। अतएव यहाँ कार्यत्व हेतु असाधारण अनैकान्तिक होता है। जैसे[१] शब्द नित्य

१. साध्यासमानाधिकरणो हेतुरसाधारणः। कारिकावली ७३ का०।

होता है शब्दत्व रहने से–इस अनुमान में शब्दत्व रूप हेतु केवल शब्द रूप पक्ष में रहने से असाधारण अनैकान्तिक होता है। तथा पृथिवी इतर द्रव्य से भिन्न है गन्ध रहने से इस अनुमान में गन्ध रूप हेतु केवल पृथिवी रूप पक्ष में रहने से असाधारण अनैकान्तिक होता है।[1] इसी तरह कार्यत्व भी केवल पक्ष में रहने से उक्त दोष से युक्त है। सारांश यह है कि कार्य तथा कारण सामान्य में कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से कार्यत्व सामान्य में व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है। उक्त कार्यकारणभाव के नहीं सिद्ध होने से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है।

अपि च, अन्वय तथा व्यतिरेक के बल पर वस्तु विशेष की व्याप्ति वस्तु विशेष में मान कर ही सांसारिक व्यवहार के चल जाने से सामान्य कार्यकारणभाव की अपेक्षा नहीं होती है। वह्निसामान्य तथा धूमसामान्य में भी व्याप्ति नहीं मानकर कहा जा सकता है कि धवल तथा आँख एवं कण्ठ को दुःख देने वाला वस्तु प्रज्वलित वह्नि रूप वस्तु विशेष उत्पन्न होता है। अतएव उन वस्तु विशेषों में ही व्याप्ति सिद्ध होती है। नैयायिक ने उपर्युक्त कथन के द्वारा प्रमाणित करना चाहा है कि बौद्ध दार्शनिक ईश्वर सिद्धि के प्रतिवाद के लिए धूम तथा वह्नि में प्रसिद्ध व्याप्ति का भी उल्लंघन करते हैं। अतएव उनकी मान्यता प्रामाणिक नहीं हो सकती है।

फलतः वह्नि में जैसे तार्ण एवं अतार्ण आदि भेद को नहीं मानकर सामान्यतः वह्नित्व विशिष्ट वह्नि को लेकर उसके साथ धूमत्व विशिष्ट धूम की व्याप्ति प्रसिद्ध है। इसी तरह भूधर तथा घट आदि विशेषों को छोड़कर केवल कार्यत्व विशिष्ट कार्य का ग्रहण करके उसके साथ सामान्य चेतन की व्याप्ति हो सकती है और इसके उपपन्न हो जाने पर चर्चित विषय (ईश्वर) का अस्तित्व उपपन्न होगा।

इसके उत्तर में बौद्ध दार्शनिक कहते हैं जैसे आग के साथ उसके कार्य विशेष रूप धूम की व्याप्ति होती है किन्तु कार्यत्व व्याप्य जाति विशेष उसमें सहायक होता है। अतएव उक्त जाति विशेष से भिन्न जातीय वस्तु की व्याप्ति उपपन्न नहीं होती है। इसी तरह बुद्धिमान् विशेष (कुविन्द) की व्याप्ति वस्त्र में सिद्ध हो सकती है किन्तु चेतन सामान्य की व्याप्ति कार्य सामान्य में नहीं।

अथवा जिस तरह अत्यन्त विजातीय पदार्थो में परस्पर भिन्न जड़ तथा चेतन में कार्यकारणभाव को उपपन्न करने के लिए व्याप्ति मानी जाती है। उसी तरह जड़त्व जाति से युक्त वह्नि की व्याप्ति चेतन में मानना होगा और धूम तथा वह्नि रूप परस्पर जड़ वस्तुओं में व्याप्ति सिद्ध नहीं होगी। धूम और वह्नि में व्याप्ति का ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण

१. सपक्षावृत्तिरसाधारणः। कारिकावली ७२ का०।

होता है शब्दत्व रहने से–इस अनुमान में शब्दत्व रूप हेतु केवल शब्द रूप पक्ष में रहने से असाधारण अनैकान्तिक होता है। तथा पृथिवी इतर द्रव्य से भिन्न है गन्ध रहने से इस अनुमान में गन्ध रूप हेतु केवल पृथिवी रूप पक्ष में रहने से असाधारण अनैकान्तिक होता है।[१] इसी तरह कार्यत्व भी केवल पक्ष में रहने से उक्त दोष से युक्त है। सारांश यह है कि कार्य तथा कारण सामान्य में कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से कार्यत्व सामान्य में व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है। उक्त कार्यकारणभाव के नहीं सिद्ध होने से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है।

अपि च, अन्वय तथा व्यतिरेक के बल पर वस्तु विशेष की व्याप्ति वस्तु विशेष में मान कर ही सांसारिक व्यवहार के चल जाने से सामान्य कार्यकारणभाव की अपेक्षा नहीं होती है। वह्निसामान्य तथा धूमसामान्य में भी व्याप्ति नहीं मानकर कहा जा सकता है कि धवल तथा आँख एवं कण्ठ को दुःख देने वाला वस्तु प्रज्वलित वह्नि रूप वस्तु विशेष उत्पन्न होता है। अतएव उन वस्तु विशेषों में ही व्याप्ति सिद्ध होती है। नैयायिक ने उपर्युक्त कथन के द्वारा प्रमाणित करना चाहा है कि बौद्ध दार्शनिक ईश्वर सिद्धि के प्रतिवाद के लिए धूम तथा वह्नि में प्रसिद्ध व्याप्ति का भी उल्लंघन करते हैं। अतएव उनकी मान्यता प्रामाणिक नहीं हो सकती है।

फलतः वह्नि में जैसे तार्ण एवं अतार्ण आदि भेद को नहीं मानकर सामान्यतः वह्नित्व विशिष्ट वह्नि को लेकर उसके साथ धूमत्व विशिष्ट धूम की व्याप्ति प्रसिद्ध है। इसी तरह भूधर तथा घट आदि विशेषों को छोड़कर केवल कार्यत्व विशिष्ट कार्य का ग्रहण करके उसके साथ सामान्य चेतन की व्याप्ति हो सकती है और इसके उपपन्न हो जाने पर चर्चित विषय (ईश्वर) का अस्तित्व उपपन्न होगा।

इसके उत्तर में बौद्ध दार्शनिक कहते हैं जैसे आग के साथ उसके कार्य विशेष रूप धूम की व्याप्ति होती है किन्तु कार्यत्व व्याप्य जाति विशेष उसमें सहायक होता है। अतएव उक्त जाति विशेष से भिन्न जातीय वस्तु की व्याप्ति उपपन्न नहीं होती है। इसी तरह बुद्धिमान् विशेष (कुविन्द) की व्याप्ति वस्त्र में सिद्ध हो सकती है किन्तु चेतन सामान्य की व्याप्ति कार्य सामान्य में नहीं।

अथवा जिस तरह अत्यन्त विजातीय पदार्थो में परस्पर भिन्न जड़ तथा चेतन में कार्यकारणभाव को उपपन्न करने के लिए व्याप्ति मानी जाती है। उसी तरह जड़त्व जाति से युक्त वह्नि की व्याप्ति चेतन में मानना होगा और धूम तथा वह्नि रूप परस्पर जड़ वस्तुओं में व्याप्ति सिद्ध नहीं होगी। धूम और वह्नि में व्याप्ति का ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण

---

१. सपक्षावृत्तिरसाधारणः। कारिकावली ७२ का०।

है। क्योंकि उन दोनों में परस्पर कार्यकारणभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है एवं बुद्धिमान् के साथ घट आदि जड़ की व्याप्ति में भी प्रत्यक्ष प्रमाण उसका ग्राहक है। क्योंकि कुम्भकार के व्यापार से घट की उत्पत्ति का दर्शन प्रत्येक व्यक्ति को होता है। इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष उभयत्र समान है।

नैयायिक यदि पूर्वपक्ष में दृढ़ता के लिए कहें कि बुद्धिमान् एवं वह्नि के व्याप्ति ज्ञान में व्यभिचार प्रतिबन्धक होगा। धूम और वह्नि की व्याप्ति ज्ञान में व्यभिचार उपलब्ध नहीं है। इसलिए इन्द्रिय जन्य ज्ञान के समान होने पर उपर्युक्त आपत्ति से छुटकारा मिलना सम्भव है तो यहाँ उत्तर रूप में **ज्ञानश्रीमित्र** का कथन है कि गाँव जाते हुए व्यक्ति यदि तृण का स्पर्श करता है तो जैसे उस स्पर्श से लाभ या हानि कुछ नहीं सम्भव है। इसी तरह व्यभिचार का दर्शन एवं अदर्शन सविकल्पक ज्ञान के विषय होने से सर्वथा अकिञ्चित्कर है। अग्नि और धूम में अन्वय के ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष एवं व्यतिरेक के ज्ञान के लिये अनुपलब्धि से प्रवृत्त व्यक्ति अग्नि का कार्य धूमत्व जाति से युक्त धूम की उत्पत्ति प्रत्येक अग्नि से नहीं मानता है। क्योंकि जठराग्नि से धूम उत्पन्न नहीं होता है। इस तरह प्रत्येक अग्नि से धूम की उत्पत्ति में प्रत्यक्ष के अविषय जठराग्नि के रहने पर भी धूम की अनुत्पत्ति अन्वय व्यभिचार सिद्ध करता है। घट आदि कार्य वह्नि के अभाव में भी देखे जाते हैं, किन्तु धूम उसके अभाव में उपलब्ध होता है। इसलिए यह निश्चय किया जाता है कि धूम वह्नि से ही उत्पन्न होता है और इसी के आधार पर शीघ्र ही उक्त दोनों पदार्थों में व्यवहार की सिद्धि के लिए कार्यकारणभाव स्थिर किया जाता है। इस तरह प्रत्यक्ष के विषय में कार्यकारणभाव स्थिर करने के लिए कुछ विशेष नहीं पाया जाता है।

किन्तु काँटा चुभने पर दर्द का होना तथा उसके अभाव में दर्द का नहीं होना रूप अन्वय तथा व्यतिरेक परस्पर कार्यकारणभाव का ग्राहक होता है। अतएव यहाँ व्यभिचार का अभाव सिद्ध होता है। क्योंकि एक समय में एक वस्तु में परस्पर भिन्न धर्मों का समावेश नहीं हो सकता है। जहाँ व्यभिचार का अभाव निर्णीत है उस स्थल में उसी काल में व्यभिचार का स्थिर करना सर्वथा असम्भव है। इस शिल्पी से अमुक आकृतिक कार्य का निर्माण होता है। यथा कुम्भकार रूप शिल्पी पृथु एवं बुध्नोदर आकृतिक वस्तु (घट) का निर्माण करता है। जब पट तथा शकट आदि का निर्माण पुरुष के द्वारा व्यक्ति देखता है तब इस निर्णय पर पहुँचता है कि इन वस्तुओं का निर्माण भी पुरुष से ही होता है।

अपि च, क्या व्यभिचार हेतु में साध्य की व्याप्ति रहने पर भी अनुमान नहीं होने देता है? अथवा उस व्याप्ति को मिथ्या प्रमाणित करता है। यहाँ द्वितीय कल्प मानने पर पुनः दो विकल्प होते हैं। क्या व्याप्ति ग्राहक प्रमाण की उपस्थिति में भी वह (व्यभिचार) उस व्याप्ति को मिथ्या बनाता है? अथवा व्याप्ति ग्राहक प्रमाण में

प्रामाण्य का नाश करता है? फिर विकल्प होता है कि क्या सर्वत्र व्याप्ति ग्राहक प्रमाण में प्रामाण्य का नाशक व्यभिचार होता है? अथवा नियत विषय को ही अपना क्षेत्र मानकर वह प्रवृत्त होता है। यहाँ भी क्या इष्ट के बल से व्यभिचार उक्त प्रमाण में प्रामाण्य का नाशक होता है? या प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति जहाँ होती है?

अब क्रमशः इन विकल्पों का समाधान प्रस्तुत किया जाता है। प्रथम कल्प (हेतु तथा साध्य में परस्पर व्याप्ति के रहने पर भी व्यभिचार अनुमान नहीं होने देता है, इस कल्प) की उपपत्ति नहीं होती है। क्योंकि इसमें विरोध है। हेतु साध्याभाव के अधिकरण में अवृत्ती है- इस ज्ञान के रहने पर हेतु साध्याभाव के अधिकरण में वृत्ती है-यह ज्ञान नहीं हो सकता है। व्याप्ति का ज्ञान ही इस ज्ञान का प्रतिबन्धक है। हेतु में साध्य की व्याप्ति रहने से हेतु के अधिकरण में साध्याभाव की सम्भावना भी कदापि नहीं होगी और हेतु के अधिकरण में साध्याभाव की सम्भावना से ही उस तरह के स्थलों में अनुमान का अभाव हो सकता है, जो प्रकृत में असम्भव है।

इसे इष्टापत्ति भी नहीं मानी जा सकती है। अनुभव का विरोध स्पष्ट है। दूसरी बात यह है कि ऐसी स्थिति में व्यभिचार नहीं रहने पर भी व्याप्ति में सन्देह होने लगेगा। जिससे अनुमान का उच्छिन्न हो जाना रूप आपत्ति होगी। फलतः उपर्युक्त विकल्पों के प्रथम कल्प में विरोध रहने से उसकी उपपत्ति नहीं होती है।

क्या व्यभिचार व्याप्ति को मिथ्या प्रमाणित करता है, इस विकल्प के दो भेद किए गये हैं, जिसमें प्रथम कल्प उपपन्न नहीं होता है। क्योंकि व्याप्ति ग्राहक प्रमाण की उपस्थिति में व्याप्ति को मिथ्या बनाना यदि सम्भव हो तो धूम के बह्नि का अनुमान भी नहीं होगा। क्योंकि व्याप्ति यहाँ भी उक्त रीति के अनुसार मिथ्या होगी, जो प्रामाणिक अनुमान में सहायक नहीं होगी। व्याप्ति का ज्ञान कराने वाला दूसरा उपाय नहीं है। व्यभिचार के अभाव रहने से तथा व्याप्ति ग्राहक प्रमाण के रहने से व्याप्ति का ज्ञान होता है । प्रस्तुत परिस्थिति में उन दोनों के विफल होने पर अन्य किस उपाय से वह्नि तथा धूम की व्याप्ति का ज्ञान होगा?

नियत विषय में अपनी इच्छा से किसी अन्य कारण के अभाव में यदि व्याप्ति का नाश माना जाए तो प्रमाण सर्वथा उदासीन हो जाएगा। अतएव प्रमाण के अभाव में कौन सा हेतु सद्धेतु है तथा कौन सद्धेतु नहीं है-इसका निश्चय करना असम्भव हो जाएगा। पर्वत में वह्नि के अनुमान के लिए धूम में उसकी व्याप्ति का भी खण्डन होगा। क्योंकि इसका नियामक प्रमाण उदासीन है। व्यभिचार का प्रत्यक्ष नियत विषयक नहीं हो सकता है। सकल विषयक व्याप्ति का ग्राहक प्रत्यक्ष इष्ट है। अतएव व्यभिचार का विषय भी सकल विषयक ही हो जाता है। व्याप्ति का ज्ञान तथा व्यभिचार का ज्ञान समान बलशाली हैं। दोनों को एक विषयक होने से कौन सद्हेतु है और कौन सद्हेतु नहीं है-इसका निश्चय करना कठिन है।

प्रामाण्य का नाश करता है? फिर विकल्प होता है कि क्या सर्वत्र व्याप्ति ग्राहक प्रमाण में प्रामाण्य का नाशक व्यभिचार होता है? अथवा नियत विषय को ही अपना क्षेत्र मानकर वह प्रवृत्त होता है। यहाँ भी क्या इष्ट के बल से व्यभिचार उक्त प्रमाण में प्रामाण्य का नाशक होता है? या प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति जहाँ होती है?

अब क्रमशः इन विकल्पों का समाधान प्रस्तुत किया जाता है। प्रथम कल्प (हेतु तथा साध्य में परस्पर व्याप्ति के रहने पर भी व्यभिचार अनुमान नहीं होने देता है, इस कल्प) की उपपत्ति नहीं होती है। क्योंकि इसमें विरोध है। हेतु साध्याभाव के अधिकरण में अवृत्ती है– इस ज्ञान के रहने पर हेतु साध्याभाव के अधिकरण में वृत्ती है–यह ज्ञान नहीं हो सकता है। व्याप्ति का ज्ञान ही इस ज्ञान का प्रतिबन्धक है। हेतु में साध्य की व्याप्ति रहने से हेतु के अधिकरण में साध्याभाव की सम्भावना भी कदापि नहीं होगी और हेतु के अधिकरण में साध्याभाव की सम्भावना से ही उस तरह के स्थलों में अनुमान का अभाव हो सकता है, जो प्रकृत में असम्भव है।

इसे इष्टापत्ति भी नहीं मानी जा सकती है। अनुभव का विरोध स्पष्ट है। दूसरी बात यह है कि ऐसी स्थिति में व्यभिचार नहीं रहने पर भी व्याप्ति में सन्देह होने लगेगा। जिससे अनुमान का उच्छिन्न हो जाना रूप आपत्ति होगी। फलतः उपर्युक्त विकल्पों के प्रथम कल्प में विरोध रहने से उसकी उपपत्ति नहीं होती है।

क्या व्यभिचार व्याप्ति को मिथ्या प्रमाणित करता है, इस विकल्प के दो भेद किए गये हैं, जिसमें प्रथम कल्प उपपन्न नहीं होता है। क्योंकि व्याप्ति ग्राहक प्रमाण की उपस्थिति में व्याप्ति को मिथ्या बनाना यदि सम्भव हो तो धूम के बह्नि का अनुमान भी नहीं होगा। क्योंकि व्याप्ति यहाँ भी उक्त रीति के अनुसार मिथ्या होगी, जो प्रामाणिक अनुमान में सहायक नहीं होगी। व्याप्ति का ज्ञान कराने वाला दूसरा उपाय नहीं है। व्यभिचार के अभाव रहने से तथा व्याप्ति ग्राहक प्रमाण के रहने से व्याप्ति का ज्ञान होता है । प्रस्तुत परिस्थिति में उन दोनों के विफल होने पर अन्य किस उपाय से वह्नि तथा धूम की व्याप्ति का ज्ञान होगा?

नियत विषय में अपनी इच्छा से किसी अन्य कारण के अभाव में यदि व्याप्ति का नाश माना जाए तो प्रमाण सर्वथा उदासीन हो जाएगा। अतएव प्रमाण के अभाव में कौन सा हेतु सद्धेतु है तथा कौन सद्धेतु नहीं है–इसका निश्चय करना असम्भव हो जाएगा। पर्वत में वह्नि के अनुमान के लिए धूम में उसकी व्याप्ति का भी खण्डन होगा। क्योंकि इसका नियामक प्रमाण उदासीन है। व्यभिचार का प्रत्यक्ष नियत विषयक नहीं हो सकता है। सकल विषयक व्याप्ति का ग्राहक प्रत्यक्ष इष्ट है। अतएव व्यभिचार का विषय भी सकल विषयक ही हो जाता है। व्याप्ति का ज्ञान तथा व्यभिचार का ज्ञान समान बलशाली हैं। दोनों को एक विषयक होने से कौन सद्हेतु है और कौन सद्हेतु नहीं है–इसका निश्चय करना कठिन है।

आपके अनुरोध के बाध का ज्ञान कराने वाला प्रमाण को यदि नियत विषयक माना जाए तो भी उक्त आपत्ति का परिहार नहीं होता है। क्योंकि एक बार ही व्यभिचारी में बाध का ज्ञान नहीं होता है किन्तु क्रमशः होता है। यह हेतु व्यभिचारी है-इसका ज्ञान होने पर पश्चात् वह हेतु वाधित है। यह ज्ञान होता है। क्योंकि बाध नियत विषयक होता है और व्याप्ति का ज्ञान सर्वविषयक होता है।

अब प्रश्न उठता है कि व्यभिचारी हेतुओं में व्यभिचार का दर्शन नहीं होने से सद्धेतु में उससे विशेष कुछ उपलब्ध नहीं होता है। इसलिए पुनः धूम से वह्नि के अनुमान में धूम वह्नि का हेतु नहीं होगा अथवा घट आदि उसके हेतु हो जाएगें। धूम तथा घट आदि में परस्पर भेदक के उपलब्ध नहीं होने से इस आपत्ति का परिहार असम्भव है।

यह कहना भी उचित नहीं जँचता कि धूम से भिन्न वस्तुओं में वह्नि का व्यभिचार देखा जाता है। इसलिए धूम और वह्नि में परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध सिद्ध होता है। पहले धूम में वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान होता है पश्चात् पर्वत में वह्नि की अनुमिति उस धूम से होती है। क्योंकि पर्वत में धूम से आग का अनुमान होता है और व्याघ्र से नहीं होता है, यह अनुभव नहीं होगा। व्याघ्र वह्निका व्यभिचारी हेतु है- यह ज्ञान जब तक नहीं हुआ है तब तक व्याघ्र से वह्नि का व्यभिचारी हेतु है-यह ज्ञान जब तक नहीं हुआ है तब तक व्याघ्र से वह्नि के अनुमान में बाधा नहीं है। अतएव जैसे धूम से आग का अनुमान होता है उसी तरह व्याध्र से भी होगा। धूम से भिन्न व्याघ्र आदि में व्यभिचार के दर्शन से धूम में वह्नि की व्याप्ति सिंद्ध होती है। अन्य हेतु में व्यभिचार दर्शन के बाद अभिमत हेतु में व्याप्ति का निश्चय करना अशक्य है।

व्यभिचार के विषय अनन्त हैं तथा देश एवं काल के व्यवधान में स्थित हैं। इसलिए अल्पज्ञ मानव व्यभिचार के विषयों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है। तस्मात् जिसके साथ जिसका स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) प्रसिद्ध है एवं अवश्यम्भावी है उसे निर्विवाद मान लेना ही उचित है। इसी से धूम तथा वह्नि की व्याप्ति निरपवाद सिद्ध होती है। अतएव स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) का निश्चय कार्यकारणभाव के ज्ञान से हौता है औपाधिक सम्बन्ध का नहीं।[१]

आग से भिन्न भिन्न कार्यों का सम्पादन होता है। जैसे धूम उत्पन्न होता है एवं भस्म, अंगार, पाक, पारद-शोधन, दर्शन (प्रकाश) तथा असावधानी से वस्तु को प्रज्ज्वलन से हानि आदि वह्नि के कार्य देखे जाते हैं। किन्तु इनमें से प्रत्येक कार्य के साथ उस वह्नि का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है। अपि तु धूमात्मक कार्य के साथ उसकी व्याप्ति प्रसिद्ध है। जिसके आधार पर उक्त धूम हेतु से वह्नि का अनुमान संगत तथा प्रामाणिक होता है। इसी तरह मन्दिर, घट, प्रासाद, तोरण तथा वस्त्र आदि वस्तु होने के कारण यद्यपि पौरुषेय हैं, किन्तु इनमें से जिस जातीय कार्य का निर्माण पुरुष के द्वारा देखा जाता है उस जातीय कार्य से ही कर्त्ता का अनुमान प्रामाणिक होगा। पर्वत

१. द्र० ज्ञानश्रीमित्र नि० पृ० २४३ से २४८।

आदि कार्यो में पुरुष का व्यापार नहीं देखा गया है। इसलिए उसके कर्त्तारूप में किसी का अनुमान प्रामाणिक नहीं होता है। जिन कर्त्ताओं में व्याप्ति का ज्ञान है उन प्रसिद्ध कर्त्ताओं से (कुलाल आदि से) पर्वत का निर्माण नहीं होता है। उन पर्वत आदि कार्यों के लिए जिस कर्त्ता की कल्पना की जाती है वह अत्यन्त विजातीय है। फलतः पर्वत आदि के कर्त्ता रूप में किसी की सिद्धि नहीं हो सकती है।

उपर्युक्त कथा की पुष्टि में **ज्ञानश्रीमित्र** कहते हैं कि पर्वत आदि कार्य के कर्त्ता का अनुमान करना खेल है। क्योंकि उस अनुमान में व्याप्ति नहीं बनती है। पर्वत आदि सन्दिग्धकर्तृक एवं घट आदि प्रसिद्धकर्तृक कार्यों में केवल नाम का ही साम्य है। वस्तुतः दोनों भिन्न जातीय है। अतएव एक के सकर्तृक होने से अपर भी सकर्तृक होगा ही–इसमें प्रमाण की पुष्टि नहीं होती है। अपि च अनेक शिल्पिओं द्वारा प्रासाद आदि की तरह पर्वत का निर्माण सम्भव है इसके लिए ईश्वर की कल्पना व्यर्थ है। घट तथा पर्वत आदि में कहने के लिए भले ही कार्यत्व रहे किन्तु परस्पर भेद स्पष्ट है। प्रसिद्धकार्य घट आदि में व्याप्ति का ज्ञान है और सन्दिग्धकार्य पर्वत आदि में उक्त ज्ञान का अभाव है।[१]

आचार्य त्रिलोचन के मत का प्रतिवाद

वाचस्पति के विद्या गुरु **आचार्य त्रिलोचन** ने कहा है कि घट तथा कुम्भकार में परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध (व्याप्ति) क्षिति आदि के साथ बुद्धिमान् ईश्वर की व्याप्ति को प्रमाणित करता है, क्योंकि उपर्युक्त दोनों ही स्थलों से कार्यत्व हेतु विद्यमान है तथा परस्पर भेदक तत्त्व का अभाव है।

इसके प्रतिवाद में **ज्ञानश्रीमित्र** के वक्तव्य का सार यह है कि मंजरीकार **त्रिलोचन** का वक्तव्य सर्वथा युक्तिहीन है। घट तथा कुम्भकार में व्याप्ति के दर्शन होने पर भी अन्य कार्यो में व्याप्ति के सन्देह का निराकरण नहीं होता है। इसलिए क्षिति आदि कार्यो के साथ सकर्तृकत्व की व्याप्ति में सन्देह ही रहता है। अपि च, प्रत्येक कार्य में जातिगत भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है। घट का कर्त्ता कुम्भकार पट का निर्माण नहीं करता है। अतएव यही मान्यता युक्तिपूर्ण है कि जिस जातीय कार्य को करते हुए किसी कर्त्ता का दर्शन होता है उस जातीय कार्य के साथ उस कर्त्ता की व्याप्ति स्थिर की जा सकती है। जिस कार्य के निर्माण का दर्शन किसी को नहीं हुआ है उसे दृष्टकर्तृक घट आदि से भिन्न मानना ही होगा। फलतः पर्वत आदि एवं घट में कार्यत्व के साम्य रहने पर भी दोनों में

१. द्र० ज्ञानश्री मित्र, पृ० २५१।

क्रीड़ा पर्वतकादिनिर्मितिदृशां शैलादिषु ज्ञानुमा।
नापि न्यायसहा स्खलद्गति यतस्तन्नाममात्रं समम् ।।
किं चानेकसमानमानवकृताः सिध्यन्ति चेदीशिनः।
का वार्ता फलसाम्यसंविदि कुतो हेतोर्विशेषस्थितिः।।

परस्पर भिन्न जातीयता प्रमाणित होती है। अतएव घट जातीय के सकर्तृक होने से पर्वत जातीय भी सकर्तृक हो यह नहीं कहा जा सकता है। पर्वत आदि के कर्त्ता रूप में अनुमान के द्वारा ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।[१]

नैयायिक शतानन्द की ईश्वर साधक युक्तियों का प्रतिवाद

सौगत मत में भी आग से भिन्न के द्वारा धूम उत्पन्न नहीं होता है। अन्यथा वह अनियत हेतुक हो जाएगा अथवा निर्हेतुक हो जाएगा। इसी तरह पर्वत आदि सन्दिग्धकर्तृक कार्य भी सकर्तृक होते हैं। अन्यथा उसमें भी निर्हेतुकता आ जाएगी। ईश्वर की सिद्धि में **शतानन्द** के इन प्रथम तथा द्वितीय साधक प्रमाणों के विरोध में **ज्ञानश्रीमित्र** का कथन है कि कार्य के विशिष्ट जात्यधिकरण के द्वारा प्रवृत्ति के साधन से कार्यविशेष के साथ कारणविशेष का स्वाभाविक सम्बन्ध माना जाता है। जैसे अग्नि के अभिलाषी जन धूम देखकर अग्नि के आहरण में प्रवृत्त होता है। अतएव कहना होगा कि जो कार्य जिस कर्त्ता के द्वारा बनता हुआ देखा गया है उसी कार्य में उस कर्त्ता की व्याप्ति होती है। पर्वत आदि को बनता हुआ नहीं देखा गया है, अतएव उसके साथ बुद्धिमान् का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता है।

बुद्धिमान् कर्त्ता के बिना एक बार भी यदि पर्वत आदि कार्य हो जाए तो उस बुद्धिमान् कर्त्ता से वह नहीं होता है–इस प्रथम साधक प्रमाण का तथा अनियतहेतुक होने से निर्हेतुक हो जाएगा–इस द्वितीय साधक प्रमाण का निर्देश कार्यमात्र के प्रति नहीं किया जा सकता है। कार्यसामान्य पुरुष से उत्पन्न होता है–इसका साधक भी उपलब्ध नहीं है। फलतः जिस जातीय कार्य को बनता हुआ देखा गया है, उस जातीय कार्य से उसके कारण का अनुमान सफल होता है। पर्वत आदि उक्त जातीय कार्य में नहीं आते हैं। अतएव इन कार्यों से बुद्धिमान् कर्त्ता का अनुमान नहीं हो सकता है। एवं इन कार्यों के साथ कर्त्ता की व्याप्ति भी नहीं बनती है। तस्मात् प्रत्येक कार्य पुरुष पूर्वक ही होता है–इस नियम के लिए अवकाश नहीं है।

यदि बुद्धिमान् की अपेक्षा नहीं करके कार्य होगा तो सतत कार्य का होना रूप अनिष्ट की आपत्ति हो जाएगी–**शतानन्द** के ईश्वर साधक इस तृतीय प्रमाण के विरोध में **ज्ञानश्रीमित्र** का कथन है कि कार्यमात्र कारण के एक अवस्था विशेष से स्वरूप लाभ करता है। जो अवस्थाविशेष अदृष्ट के परिपाक से युक्त सहकारी की अपेक्षा से अपना अस्तित्व रखने में समर्थ होता है। वह अवस्थाविशेष सर्वदा कारण में विद्यमान नहीं रहता है। अतएव नियत समय में ही कार्य होगा। ईश्वरवादी को भी यह मान्य होगी ही। क्योंकि इसी अवस्थाविशेष से ईश्वर में कार्य करने की शक्ति के सदा रहने पर भी सर्वदा

१. द्रष्टव्य ज्ञानश्रीमित्र नि०पृ० २५५।

वह कार्योत्पादन नहीं करता है।इसे नहीं मानने से ईश्वरवादी को कार्य का अविराम होना रूप अनिष्ट की आपत्ति होगी। धान का बीज भी यदि नया रहता है तो उससे तत्काल अंकुर नहीं उगता है किन्तु कालविशेष के परिपाक होने पर वही अंकुर का जनक होता है। अतएव अवस्थाविशेष से युक्त बीज में अंकुर जनन सामर्थ्य माना गया है। तस्मात् कार्यमात्र के प्रति कारण के अवस्था विशेष को मानना होगा, जो अदृष्ट के परिपाक से युक्त सहकारी को पाकर स्वरूप लाभ करता है। ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। न मानना ही चाहिए। यदि च माना जाए कि कारण सर्वदा कारण ही रहता है, कभी वह अकारण नहीं होता तो ईश्वरवादी के मत में भी कार्य का अविराम होना रूप अनिष्ट का प्रसंग हो जायगा। क्योंकि ईश्वर तथा उसकी इच्छा के नित्य होने से अनवरत सभी कार्यो का उत्पादन उन नित्य कारणों से होता रहेगा। इससे बचने के लिए यदि उसकी इच्छा को अनित्य मानकर इच्छा के रहने से कार्य का होना तथा उसके अभाव में कार्याभाव का सम्पादन करके उक्त दोष से निपटारा मिलने की नैयायिक आशा करे तो यहाँ **ज्ञानश्रीमित्र** कहते हैं कि इस स्थिति में जिससे उस इच्छा को आप अनित्य मानते हैं उससे ही कार्य का उत्पादन मान लेने से कार्य का अविराम होना रूप अनिष्ट प्रसंग का उद्धार हो जाता है, पुनः ईश्वर मानने की आवश्यकता नहीं होती है।

यदि कहा जाए कि उक्त रीति के अनुसार घट आदि कार्य के प्रति भी कुम्भकार को कर्त्ता मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ईश्वरेच्छा को अनित्य बनाने वाला अदृष्ट से कादाचित्कता घट में उपपन्न हो जाएगी–नैयायिक के द्वारा इस पूर्वपक्ष के उठाने पर **ज्ञानश्रीमित्र** का उत्तर यह है कि प्रमाण से जिसका सामर्थ्य जहाँ देखा गया है उसके उस सामर्थ्य का अपलाप नहीं हो सकता है। कुलाल आदि के रहने से घट आदि कार्य होते हैं तथा उसके अभाव में नहीं होते हैं–इस प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु का उक्त अदृष्ट के मानने से अपलाप नहीं हो सकता है। अतएव प्रत्येक कार्य के प्रति ईश्वर कारण नहीं हो सकता है। विशेष कार्य घट आदि के प्रति कुलाल आदि कारण होते हैं। पर्वत आदि का सम्पादन तो अवस्थाविशेष में स्थित अचेतन कारणों से ही हो जाता है। इसके लिए ईश्वर का अंगीकार व्यर्थ है।

नैयायिक यदि पूर्वपक्ष करे कि घट आदि का कदाचित् होना तथा कदाचित् नहीं होना पुरुष के अधीन में देखा गया है। इसी तरह घट आदि से भिन्न पर्वत आदि कार्य का कादाचित्कत्व भी पुरुष के अधीन है और वह पुरुष ईश्वर है तो इसके उत्तर में **ज्ञानश्रीमित्र** का कहना है कि कार्यविशेष में पुरुषविशेषाधीन कादाचित्कत्व का दर्शन विशेषकार्य तथा विशेषकर्त्ता के स्वाभाविक सम्बन्ध का साधक भी होता है किन्तु दृष्ट से भिन्न पुरुष ईश्वर की व्याप्ति किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अतएव पर्वत आदि का कादाचित्कत्व अदृश्य पुरुष ईश्वराधीन नहीं माना जा सकता है। अभिप्राय यह है कि अन्वय तथा व्यतिरेक प्रत्यक्ष वस्तुओं में उपपन्न होते हैं जो कुम्भकार तथा घट में

सुलभ एवं सम्भव है। ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतएव उसके साथ अन्वय या व्यतिरेक का समावेश सम्भव नहीं है। अतएव उसके साथ किसी की व्याप्ति सिद्ध करना सर्वथा दुर्लभ है। और व्याप्ति से रहित वस्तु को अनुमान का आधार ही प्राप्त नहीं होता है। अतएव उसके अधीन जो कुछ माना जाएगा वह गगन कुसुम के आश्रित के समान होगा। फलतः **शतानन्द** का तृतीय साधक प्रमाण भी ईश्वर को सिद्ध करने में सफल नहीं हो सकता है।

कादाचित्क कारण सन्निधि के साथ कार्यत्व की व्याप्ति निश्चित है, क्योंकि कादाचित् कारण का सन्निधान अन्वय तथा व्यतिरेक से कर्त्ता के व्यापार का अधीन है। जैसे पट निष्ठ कार्यता में जो तुरी तथा वेमा आदि की सन्निधि की व्याप्ति है वह पट के कर्त्ता कुविन्द के व्यापार के द्वारा निष्पन्न हुई है। जहाँ कर्त्ता का व्यापार नहीं रहता है उस स्थल में सहकारियों की सन्निधि भी नहीं होती है। अचेतन कारण पर्वत आदि का अवयव सहकारिओं को सन्निहित नहीं कर सकता है। यदि अचेतन कारणों में सहकारिओं के सन्निधान का सामर्थ्य माना जाए तो घट आदि के अवयव भी दण्ड तथा चक्र आदि का सन्निधान कर लेंगे। कुम्भकार के व्यापार की आवश्यकता नहीं होगी। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतएव व्यापक की अनुपलब्धि से विपक्ष से निवर्तमान कार्यत्व में बुद्धिमत्पूर्वकत्व की व्याप्ति सिद्ध होती है।

नैयायिक **शतानन्द** के उपर्युक्त चतुर्थ साधक प्रमाण के उत्तर में **ज्ञानश्रीमित्र** कहता है कि कारणों की सन्निधि बुद्धिमान् के द्वारा होती है–यहाँ बुद्धिमान् का दर्शन मात्र अपेक्षित है। अतएव इसमें बाधक– प्रमाणता नहीं प्रतीत होती है।

अभिप्राय यह है कि जिस कार्य में बुद्धिमान् के द्वारा कारणों की सन्निधि देखी जाती है उस कार्य के साथ बुद्धिमत्पूर्वकत्व की व्याप्ति स्थिर होती है और जिस कार्य में वह नहीं देखा गया है उस कार्य की व्याप्ति बुद्धिमत्पूर्वकत्व के साथ नहीं होती है। फलतः सामान्य कार्यकारणभाव की व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है। अतएव उसी के आधार पर स्थित ईश्वर की सिद्धि भी नहीं होगी।

नैयायिक यदि अन्वय और व्यतिरेक को सामान्य कार्यकारणभाव का साधक मानकर ईश्वर की सिद्धि का प्रयास करें तो उत्तर होगा कि हवा के झोंक से खेत में उड़कर आया हुआ बीज से जो अंकुर होता है उस स्थल में व्यभिचार स्पष्ट है। क्योंकि चेतनकर्तृकता के अभाव में यहाँ कार्यत्व रह जाता है। वह कार्यत्व असद्धेतु पद से अभिहित होता है और असद्धेतु से कार्य का सम्पादन नहीं होता देखा गया है। इसलिए पर्वत आदि में कार्यत्वहेतु से बुद्धिमत्पूर्वकत्व का अनुमान द्वारा सिद्ध होना कदापि सम्भव नहीं है। इससे प्रमाणित होता है कि सामग्री विशेष बुद्धिमान् के प्रयत्न से सन्निधापित हो सकतें हैं किन्तु सामान्यतः सामग्री को बुद्धिमान् प्रयत्न से सन्निधापित

नहीं किया जा सकता है। उपसंहार में कहना होगा कि **ज्ञानश्रीमित्र** ने उपर्युक्त युक्ति के आधार पर नैयायिक **शतानन्द** के चतुर्थ साधक प्रमाण का भी खण्डन कर दिया है।

ईश्वर की सिद्धि में **शतानन्द** ने पञ्चन साधक प्रमाण का प्रदर्शन करते हुए कहा है कि चेतनकर्त्ता के नहीं करने से कार्य में देश तथा काल की अनियतता आ जाएगी। कर्त्ता की इच्छा ही उसकी नियामिका होती है, जो चेतनकर्त्ता के अभाव में सर्वथा विशृङ्खल हो जाएगी। इसके उत्तर में **ज्ञानश्रीमित्र** की उक्ति है कि यद्यपि चेतन के प्रयत्न से ही कारणकूट एकत्रित होकर कार्य का आरम्भक होता है किन्तु प्रत्येक कार्य के प्रति प्रत्येक समय में चेतन प्रयत्न से ही कारणों का समवधान होगा–इसके नियामक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतएव कार्य की उत्पत्ति में यद्यपि कारणों का समवधान व्यापक है तो भी बुद्धिमान् की अधीनता उसमें है या नहीं–इसका सन्देह ही व्याप्ति को सिद्ध नहीं होने देता है। यद्यपि कारण के अवस्था विशेष को कार्य की उत्पत्ति में कारण मानते हैं तो उसी तरह पृथक् पृथक् विद्यमान रूप उसके अवस्था–विशेष को कार्य अजनन स्वभावशाली मानने में क्या क्षति है? इसी अवस्था–विशेष से यथा संभव कार्य की नियतता आ जाएगी ईश्वर मानने की आवश्यकता नहीं है।

वित्तोक के मत का खण्डन

बौद्ध दार्शनिक कार्यविशेष के साथ कारणविशेष की व्याप्ति मानते हैं और कार्यसामान्य के साथ कारणसामान्य का नहीं। इस विषय को उठाकर नैयायिक **वित्तोक** इनसे पूछता है कि विशेषपद से यहाँ क्या विवक्षित है?

क्या क्षिति आदि में वह विशेष नहीं रहता है अतएव कार्यत्वसामान्य की सिद्धि नहीं होती है? अथवा क्षिति आदि को कार्यत्वविशेष से सम्बन्ध नहीं है, अतएव उसका सकर्तृक होना सन्दिग्ध है? क्या कार्यत्वसामान्य के साथ चेतनकर्तृकत्व का व्यभिचार है? इत्यादि विकल्पों के प्रतिवाद में नैयायिक **वित्तोक** के मत का खण्डन करते हुए **ज्ञानश्रीमित्र** कहते हैं कि यदि हमलोगों का अभिप्राय **वित्तोक** को विदित होता तो पुनः कार्यत्वसामान्य की सिद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि विशेष कार्यकारणभाव की स्वीकृति से व्यवहारिक जगत् में सभी कार्यों की उपपत्ति हो ही जाती है। अतएव (मन्दिर) देवकुल, कलश तथा सौध आदि कार्यो में बुद्धिमान् कर्त्ता की व्याप्ति से सिद्ध होने पर भी क्षिति आदि में सकर्तृकता सिद्ध नहीं होती है। क्योंकि जिस जातीय कार्य का निर्माण देखा गया है उस जातीय कार्य को ही सकर्तृक मानना उचित है। पर्वत आदि कार्य इससे बहिर्मूत है। अतएव इन कार्यों का कर्त्ता सिद्ध नहीं हो सकता है, पुनः इतरवाधसहकारात्मक अनुमान से उस कर्त्ता को ईश्वर में मानने की तो बात ही दूर रहती है। जिस विशेष के आधार पर इस विशिष्ट कार्य जाति में कर्त्ता की व्याप्ति मानी जाती है, क्या वह विशेष सामान्य से अनिरूपित है?

अभिप्राय यह है कि विशेष जाति से निरूपित होता है जिसकी जाति प्रसिद्ध है उसी का विशेष भी होता है। जैसे नील एवं पीत आदि घट विशेष की प्रसिद्धि से उसके सामान्य घट जातीय की सिद्धि होती है। इसी तरह घट आदि कार्य विशेष का कर्त्ता प्रसिद्ध है तो उसके जातीय को भी सकर्तृक मानना होगा। पुनश्च पर्वत आदि कार्य– सामान्य में कर्त्ता का अनुमान संगत होने लगेगा जिसके आधार पर ईश्वर की सिद्धि होगी। किन्तु उपर्युक्त अभिप्राय को जानकर **ज्ञानश्रीमित्र** कहते हैं कि यह कहना परम पाप है। क्योंकि प्रत्यक्ष सिद्ध घट एवं पट आदि वस्तुओं में भी परस्पर भेद परिलक्षित होती ही है। इसका अपलाप असम्भव है और इसी भेद के आधार पर प्रमाणित होता है। सकर्तृक घट आदि कार्यो के विसदृश पर्वत आदि चेतन का निर्माण नहीं हो सकते। यद्यपि नैयायिक यहाँ प्रतिवन्दी उत्तर करते हुए कह सकता है कि यदि विसदृशता से घट तथा पर्वत में एकत्र सकर्तृकता के सिद्ध होने पर अपरत्र अकर्तृकता कहा जाए तो घट के सकर्तृक होने पर उसके विसदृश पट में भी अकर्तृकता आ जाएगी। नैयायिक धूमत्वरूप से धूम को वह्निजन्य मानकर भी वस्तुत्व रूप से उसको वह्निजन्य नहीं मानते हैं। वस्तुत्वेन वस्तु को यदि लिया जाए तो घट तथा पट आदि का अन्तर्भाव भी उसमें होगा, जो वह्निजन्य नहीं है, अतएव व्यभिचार होगा। इसी तरह कार्यविशेष को बुद्धिमान् की रचना मानी जा सकती है, किन्तु कार्यसामान्य के साथ चेतनकर्तृकत्व की व्याप्ति नहीं हो सकती है। यह निर्विवाद है कि व्यभिचार का ज्ञान कार्यविशेष में ही लक्षित होता है जिसका समाधान भी है। कार्यसामान्य में व्यभिचार के रहने पर भी अलक्षित होने से उसका प्रतिकार सम्भव नहीं है। अतएव कार्यत्वसामान्य को अव्यभिचरित हेतु कहना असम्भव है।

अतएव उपसंहार में यही कहना होगा कि एक कर्त्ता एक आकृतिवाला कार्य को ही बनाता हुआ देखा गया है। जैसे कुम्भकार घट आदि करता है तथा कुविन्द पट आदि का निर्माता है। इसी तरह यदि ईश्वर माना भी जाए तो वह एक आकृतिक वस्तु का निर्माण ही कर सकेगा, जिससे संसार का वैचित्र्य नहीं उपपन्न होता है। क्योंकि संसार में विभिन्न आकृतियों की वस्तु देखी जाती है, जो एक कर्त्ता से सम्भव नहीं है।

न्यायभूषणकार की ईश्वर साधक युक्तियों का प्रतिवाद

न्यायभूषणकार को ईश्वर साधक युक्तियों[१] के विरोध में **ज्ञानश्रीमित्र** का कहना है कि पर्वत आदि में बुद्धिमान् कर्त्ता का अभाव है। इसलिए कार्यत्व हेतु में स्वरूपासिद्ध का प्रदर्शन नहीं किया जाता है। किन्तु पट आदि के प्रसिद्ध कर्त्ता कुविन्द आदि की बुद्धि से मन्दराचल का निर्माण सम्भव नहीं है–यह मेरा वक्तव्य है। अब, पर्वत आदि सन्दिग्धकर्तृक कार्य में प्रसिद्ध कर्त्ता रूप बुद्धिमान् की कर्तृता का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है। अतएव न्यायभूषणकार की युक्तियाँ यहाँ सफल नहीं होती है। प्रकृत साध्य बुद्धि का अभाव उक्त रीत्या यहाँ स्पष्टतः परिलक्षित होता है।[२]

१. द्रष्टव्य इसी प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय पृ० १४२।

२. द्रष्टव्य ज्ञानश्रीमित्र नि०पृ० २५२।

नैयायिक शङ्कर की ईश्वर साधक युक्तियों का सप्रमाण खण्डन

ईश्वर को सिद्ध करते हुए प्राचीन नैयायिक **शङ्कर** ने कहा है कि अनभिप्रेत से कारण से अर्थात् अचेतन कारण से कार्य की उत्पत्ति मानने पर उसमें देश तथा काल आदि का अनियम रूप अनिष्ट की आपत्ति होने लगेगी। कुम्भकार के प्रयत्न के बिना भी यदि अचेतन कारण मृत्पिण्ड दण्ड तथा चक्र आदि घट का निर्माण करने लगे तो कार्य की अनवरत उत्पत्ति को कोई रोक नहीं सकता है। इसी तरह क्षिति तथा पर्वत आदि को भी चेतन कर्तृक मानना होगा। क्योंकि प्रासाद आदि दृष्टकर्तृक कार्य तथा क्षिति आदि सन्दिग्धकर्तृक कार्य में कुछ भी भेद परिलक्षित नहीं होता है। इसलिए दोनों का साम्य परस्पर सकर्तृकता को पुष्ट करता है और इसी के कर्त्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है।

इसके प्रतिवाद में **ज्ञानश्रीमित्र** का कथन है कि जैसे पृथिवीत्व जाति के सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी पृथिवी से कहीं लोहलेख्यत्व उपलब्ध है और कहीं वह सम्भव नहीं है। इसी तरह प्रासाद आदि अपना निर्माण में चेतन कर्त्ता की अपेक्षा रखते हैं। अतएव उन दोनों की व्याप्ति भी सिद्ध होती है। किन्तु पृथिवी एवं पर्वत आदि अपनी उत्पत्ति चेतन कर्त्ता के अभाव में भी सम्भव कर लेते हैं। अतएव कार्यत्व के सर्वत्र रहने पर भी प्रासाद आदि के साथ पर्वत आदि का भेद स्पष्ट है। फलतः उक्त युक्ति के आधार पर ईश्वर की सिद्धि का प्रयास सर्वथा निष्फल है।

यद्यपि पृथिवी एवं पर्वत आदि के उपादान घट के उपादान की तरह अचेतन है। अतएव इस दृष्टि से सन्दिग्धकर्तृक एवं प्रसिद्धकर्तृक कार्य में साम्य है। जिसको आधार मानकर चेतन कर्तृकता की सिद्धि का प्रयास नैयायिक **शङ्कर** ने किया था, किन्तु **ज्ञानश्रीमित्र** इस प्रसंग में कहते हैं कि कारणों में शक्तिविशेष मानना होगा जिसके आधार पर घट एवं पट आदि भिन्न-भिन्न कार्यो में अन्तर पाया जाता है। वह शक्ति यदि प्रयत्नवान् की अपेक्षा नहीं करे तो इससे हानि क्या होगी? जैसे प्रासाद आदि का कर्त्ता शिल्पी के हस्त व्यापार के अभाव में किसी भी मूर्तकार्य का सम्पादन नहीं कर सकता है। इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर केवल इच्छा से ही पर्वत आदि का निर्माण कैसे कर सकता है?

अपि च, हस्त आदि अवयव इच्छा से प्रेरित होकर अपने व्यापार में संलग्न होते है और केवल इच्छा से हस्त आदि चेतन कारण के व्यापार के बिना किसी कार्य का सम्पादन नहीं कर सकते हैं। अब, **ज्ञानश्रीमित्र** कहते हैं कि जिस शक्ति के द्वारा हस्त व्यापार आदि की परवशता को छोड़कर पर्वत आदि सन्दिग्धकर्तृक कार्यों के कारण अचेतन होकर भी अपने कार्य की उत्पत्ति में क्षम है, उसी शक्ति से उस इच्छा का अतिक्रमण कर लेते हैं। फलितार्थ यह हुआ कि पर्वत आदि के उपादान कारण जैसे हस्त आदि व्यापारों की अपेक्षा नहीं करते हैं, इसी तरह ईश्वरेच्छा की अपेक्षा को भी

छोड़ देंगे। अब कार्यमात्र का निमित्तकारण ईश्वरेच्छा है-नैयायिक का यह सिद्धान्त उपपन्न नहीं होता है।

आग तथा गीली लकड़ी के संयोग से धूम का जन्म होता है, उसके जन्म समय में आग या गीली लकड़ी के अभाव के निर्णय से यह प्रश्न होता है कि क्या गीली लकड़ी के अभाव में या आग के अभाव में धूम हो सकता है, इसी तरह पर्वत आदि के कारण जिस शक्ति से हस्तादि व्यापार की अपेक्षा नहीं करते है उसी शक्ति के बल पर ईश्वरेच्छा की अपेक्षा भी नहीं करेंगे।

नैयायिक शङ्कर ने ईश्वर को शरीरी माना है। अतः उसके विरोध में **ज्ञानश्रीमित्र** कहता है कि ईश्वर यदि शरीरी होगा तो वह प्रादेशिक अर्थात् किसी एक स्थान में रहने वाला, कार्य, अनित्य तथा असर्वज्ञ होगा और तब नैयायिक के अभिलषित नित्य एवं सर्वज्ञ आदि गुणों से युक्त चेतन कर्त्ता रूप ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकेगी। दूसरा दोष यह होगा कि ईश्वर यदि शरीरी होगा तो उसके शरीर को कार्य मानना होगा किन्तु उसका कर्त्ता प्रसिद्ध नहीं है। अतएव कार्यत्व हेतु में व्यभिचार स्पष्ट है। क्योंकि कर्तृजन्यत्वरूप साध्य के अभाव के अधिकरण रूप ईश्वर के शरीर में कार्यत्व हेतु का अस्तित्व होगा। साध्याभाव के अधिकरण में हेतु की सत्ता सव्यभिचार के साधारण भेद का लक्षण है जिसका समन्वय उक्त रीत्या हो जाता है ।

यद्यपि नैयायिक **शङ्कर** ने कहा है कि प्रयोज्य प्रयोजक तथा वृद्ध के रूप में अपनी इच्छा से ईश्वर ने शरीर का विधान कर वेद तथा व्यवहार का उपदेश सृष्टि के आदि में दिया था। इस अभिप्राय से ईश्वर को शरीरी कहा गया होगा किन्तु **ज्ञानश्रीमित्र** ने साधारण शरीर परिग्रहण रूप अभिप्राय को लेकर इसके उत्तर में दोष दिया है-यह सुधीजनों के लिए विचारणीय है।

षष्ठ अध्याय

अनुच्छेद (१)

ईश्वर की सिद्धि में आचार्य उदयन की युक्तियाँ

ईश्वर के सम्बन्ध में अनुमान दिखाते हुए **आचार्य उदयन** ने प्रमुखतया तीन दृष्टियों से हेतुओं का उपयोग किया है–

(१) संसार का कर्त्ता (निमित्त कारण) ईश्वर है। नैयायिक के मत में कार्य, आयोजन, धृति, विनाश, व्यवहार तथा संख्याविशेष आदि इसके साधक अनुमान में हेतु होते हैं। इसका विशद एवं सुस्पष्ट विवेचन आगे किया जाएगा।

(२) ईश्वर जीवात्मा के कर्म के अनुसार फल का दाता है तथा धर्म एवं अधर्म रूप अदृष्ट का अधिष्ठाता है।

(३) ईश्वर सृष्टि के प्रारम्भ में वेदवाक्यों का उपदेश देता है। इसमें श्रुति तथा वाक्य हेतु होते हैं। कुसुमाञ्जलि में **आचार्य उदयन** ने उपर्युक्त हेतुओं का संग्रह किया है और वह यह है–

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ।।५-१। न्या.कु. ।

यहाँ उपर्युक्त हेतुओं की व्याख्या से पहले कार्यकारणभावसिद्धान्त का स्पष्ट एवं विशद विवेचन आवश्यक है। क्योंकि कार्यकारणभाव ही इन हेतुओं का मूल है। अनुमान के आधार पर कार्यकारणभाव सिद्धान्त खड़ा होता है। कार्य सकारण होता है, क्योंकि उसमें कादाचित्कत्व है अर्थात् कार्य कभी होता है तथा कभी नहीं होता हुआ भी देखा जाता है। इस अनुमान में कार्य पक्ष है, कारण के द्वारा उसका उत्पन्न होना साध्य है और कादाचिकत्व हेतु है। परार्थ अनुमान में जो अनुमान किसी दूसरे को समझाने के लिये किया जाता है। दृष्टान्त की आवश्यकता होती है। यहाँ भोजन नहीं करने से तृप्ति नहीं होती है। इसी तरह कारण की उपस्थिति में कार्य होता है तथा उसकी अनुपस्थिति में कार्य नहीं होता है। इसी को अन्वय तथा व्यतिरेक भी कहते हैं। इस अनुमान से इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि कार्य अपने अस्तित्व में किसी कारण की अपेक्षा रखता है। अतएव वह सापेक्ष है। इस अनुमान में व्याप्ति का यह स्वरूप है– **'यत्र यत्र कादाचित्कत्वम् तत्र तत्र सहेतुकत्वम्'** जहाँ–जहाँ कार्य का

कदाचित् होना पाया जाता है उस स्थल में सहेतुकता अवश्य रहती है। फलतः इस अनुमान से कार्यकारणभाव सिद्धान्त की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं रहता है।

नैयायिक के इस सिद्धान्त में पूर्वपक्ष उपस्थित किया जाता है कि कार्य का कोई कारण नहीं होता है किन्तु वह यों ही अकस्मात् हो जाता है। उत्पन्न होना कार्य का स्वभाव है वह किसी कारण की अपेक्षा नहीं करता है। जैसे काँटे में अकारण चुभने की शक्ति पाई जाती है। उसी तरह अकारण कार्य का होना सिद्ध होता है। **श्वेताश्वतर** उपनिषद आदि इसमें प्रमाण है। उपनिषद में कहा गया है कि काल, स्वभाव, नियति तथा यदृच्छा आदि से कार्य होते हैं।[१] इनमें स्वभाववाद ने उपर्युक्त मान्यता की ही पुष्टि की है। प्रमेय की परीक्षा के प्रसंग में न्यायसूत्र में अन्य दार्शनिकों के मतों का वर्णन करते हुए **महर्षि गौतम** ने स्वभाववाद की चर्चा की है–**अनिमितततो भावोत्पतिः कण्टकतेक्ष्ण्यादिदर्शनात्**।[२] प्रतीत होता है कि प्राचीन काल से ही इस वाद पर बहुत विचार होता रहा है। विभिन्न ग्रन्थों में खण्डन तथा मण्डन के रूप में इसका उल्लेख मिलता है। **महाकवि अश्वघोष** ने भी कहा है कि कण्टक में तीक्ष्णता किसने दी है? पशु तथा पक्षियों में विचित्रता किसने की है? सभी वस्तुएँ स्वभाव से ही जिस रूप में दीखती है उसी रूप में यथार्थतः है भी।[३] बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने भी कहा है कि आग की उष्णता, जल का शैत्य, वायु का अनुष्णाशीत होना किसने किया है? वह तो स्वभाव से ही अपना स्वरूप लाभ करता है[४] अतएव नैयायिकों के मान्य कार्य कारणभाव सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है।

इसके उत्तर करने से पहले **उदयन** ने पूछा है कि–अकस्मात् कार्य उत्पन्न होता है–आपकी इस उक्ति में अकस्मात् पद का क्या अर्थ होता है? क्या कारण के बिना भी कार्य होता है? अर्थात् अकस्मात् पद कारण का निषेध करता है? या कार्य की उत्पत्ति का? अथवा यह कहना है कि कारण से भिन्न पदार्थ कार्य का उत्पादक है? इसमें तीन अवान्तर विकल्प उपस्थित होते हैं–(१) स्वयं कार्य स्व का उत्पादक है? (२) किसी अलीक पदार्थ से कार्य का उत्पादन सम्भव है। अथवा (३) कार्य का स्वभाव ही है उत्पन्न होना?

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषत् १।२।

२. न्या०सू० ४।१।२२।

३. बुद्धचरित। ९।६२।

४. वह्निरूष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं रचितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः।
न्या०कु० आ०में उद्धृत दिङ्नाग वचन पृ० २०।

इन विकल्पों में पहला कल्प सम्भव नहीं है। कारण के निषेध से कार्य का निरपेक्ष होना उपपन्न होता है, जो सर्वदा उसके उत्पन्न होने में साधक होगा और तब कार्य का अनवरत उत्पन्न होना रूप अनिष्ट की आपत्ति से छुटकारा कदापि नहीं हो सकती है। कार्य की उत्पत्ति का निषेध भी सम्भव नहीं है। क्योंकि सामग्री की उपस्थिति में प्रतिवन्धक नहीं रहने से उसकी उत्पत्ति का निषेध इन्द्र से भी नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि जैसे सामग्री की उपस्थिति से पहले कार्य का अस्तित्व नहीं रहकर प्रागभाव रहता है उसी तरह कार्य के उत्पन्न होने के बाद भी उसका प्रागभाव ही रहेगा। क्योंकि कार्य की उत्पत्ति का निषेध ही पूर्वपक्षी का इष्ट है।

द्वितीय विकल्प घटक पहला कल्प भी सम्भव नहीं है। कार्य की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण से कार्य के अधिकरण में कारण का रहना नितान्त आवश्यक है। अब स्वयं यदि उत्पन्न ही नहीं हुआ है तब उस उत्पत्ति से पहले वह उक्त स्थल में रह ही नहीं सकता है। उक्त विकल्प घटक दूसरा कल्प भी असम्भव है। अलीक पदार्थ को यदि कार्य का कारण माना जाए तो कार्य के उत्पन्न होने से पहले भी उस कार्य का अस्तित्व क्यों न कहा जाए? क्योंकि अपनी उत्पत्ति से पहले उसके रहने का जिम्मेदार तो कोई है ही नहीं। उक्त विकल्प घटक तीसरा कल्प भी सम्भव नहीं है। कार्य का स्वभाव यदि उत्पन्न होना है तो वह सर्वदा उत्पन्न ही होता रहेगा? कभी उत्पन्न होने से उसका विराम नहीं हो सकता । किन्तु कार्य का कदाचित् होना तथा कदाचित् नहीं होना देखा गया है। अतएव नियत अवधि में उसका अस्तित्व पाया जाता है? और यह अन्वय तथा व्यतिरेक से देखा गया है कि जो वस्तु नियतावधिक है वह सापेक्ष भी है। वह अपनी उत्पत्ति में किसी की अपेक्षा अवश्य रखता है। जिसकी अपेक्षा उसे रहती है उसे ही नैयायिकों की मान्यता कारण कहती है। यहाँ व्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार है– जहाँ नियतावधिकत्व है उस स्थल में सकारणत्व अवश्य रहता है। इसी व्याप्ति के आधार पर कार्यकारणभाव सिद्धान्त का अनुमान प्रामाणिक माना जाता है। उस स्थल में सकारणत्व अवश्य रहता है। व्याप्ति तथा पक्षसत्व आदि हेतु की पञ्चरूपता–इन दोनों से ही अनुमान में प्रामाणिकता आती है जो उपर्युक्त अनुमान में प्राप्त है।

इस प्रकार कार्यकारणभाव सिद्धान्त के उपपन्न होने पर पूर्वपक्षी पुनः पूछता है कि साधारणतः कार्य का कारण नित्य होता है या अनित्य? पूर्वकल्प सम्भव नहीं है। क्योंकि नियम है कि कारणगत गुणों का समावेश कार्य में होता है। अब कारण के नित्य होने से कार्य में भी नित्यता आ जाएगी और यह कार्य के स्वरूप का ही विघातक होगा। कार्य का स्वरूप एक नियत समय के लिए होता है सर्वदा के लिए नहीं।

अतएव कारण के नित्य होने से कार्य में नित्यता आएगी, तब नियतावधिकत्व रूप उसके अपने स्वरूप का नष्ट होना स्पष्ट ही है।तस्मात् कारण नित्य नहीं हो सकता है।

दूसरा कल्प भी सम्भव नहीं है। क्योंकि इन कल्प में कारण की उत्पत्ति माननी होगी। वह भी किसी कारण की अपेक्षा करेगा, पुनः उस कारण के सम्बन्ध में वही समस्या बनी रहेगी। इस तरह कारण को अनित्य मानने से अनवस्था दोष हो जाता है, जो आपत्ति धारावाहिक रूप से चलती रहती है तथा जिसका अन्त सम्भव नहीं रहता है वह अनवस्था है। वह वस्तु की सिद्धि का बाधक है। अतएव कारणता की सिद्धि नहीं हो सकती है और यह नैयायिक के उक्त सिद्धान्त का विघातक होगा। आचार्य **उदयन** ने **'सापेक्षत्वात् अनादित्वात्'** इत्यादि कारिका के द्वारा इस तर्कविरोध का परिहार किया है। अभिप्राय यह है कि अनवस्था सर्वत्र दोषाधायक नहीं होती है। किन्तु जहाँ अप्रामाणिक अनवस्था रहती है, उसी स्थल में तर्कविरोध लगता है जो इष्टसिद्धि का बाधक है। किन्तु अनवस्था यदि प्रामाणिक है तो वह दोष नहीं होता है। जैसे बीज तथा अंकुर में अनादिकाल से विवाद होता आ रहा है कि पहले बीज हुआ अथवा अंकुर, समाधान के अभाव में इस स्थल में सर्वसम्मत अनवस्था है, किन्तु यह दोषाधायक नहीं है क्योंकि प्रामाणिक है। प्रकृत में कार्यकारणभावसिद्धान्त में उपर्युक्त कारिका के 'अनादित्वात्' इस अंश से **आचार्य उदयन** का यही तात्पर्य विवक्षित रहा है।

इन विचारों के द्वारा उपपन्न हुआ कि कार्यकारणभावसिद्धान्त आवश्यक तथा समुचित है। इसमें सन्देह तथा विवाद का समावेश नहीं किया जा सकता है। इसका अपलाप करना भी सर्वथा निर्मूल तथा प्रमाण रहित है और इसी सिद्धान्त के आधार पर क्षिति आदि को कार्य मानकर उसके कर्त्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि प्राचीन काल से ही नैयायिकों ने किया है।

पृथिवी तथा पर्वत आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, तथा विनष्ट भी होते हैं, इसलिए इन पदार्थो में नियतावधिकत्व है और नियतावधिक पदार्थ कार्य अवश्य होता है। अतएव पृथिवी तथा पर्वत आदि का कार्य होना निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। कार्य सकारण होता ही है। प्रकृत में सिद्धान्ततः उक्त कार्य का कर्त्ता–ईश्वर सिद्ध होता है।

नैयायिकों ने प्रत्येक कार्य के प्रति तीन प्रकार के कारणों को माना है। समवायिकारण, असमवायिकारण तथा निमित्तकारण। जिस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है वह समवायिकारण है। उदाहरण के लिए घटात्मक कार्य को लिया जा सकता है। इसमें मिट्टी (कपाल) घट का समवायिकरण है। शास्त्रान्तर में यही उपादान कारण शब्द से प्रचलित तथा प्रसिद्ध है। समवायिकारण में स्थित होकर कार्य का निष्पादक कारण असमवायिकारण होता है और अविशिष्ट–इन दोनों से भिन्न तथा जिसके अभाव में कार्य की उत्पत्ति असम्भव है–वह निमित्तकारण है। जैसे उक्त कार्य का निमित्तकारण दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल, तथा उपभोक्ता का अदृष्ट आदि प्रसिद्ध है।

प्रकृत में पृथिवी तथा पर्वत आदि का समवायिकारण परम्परया परमाणु आदि होते हैं। उन परमाणुओं का संयोग, द्व्यणुक आदि का असमवायिकारण होता है तथा निमित्तकारणों में कर्त्ता रूप में वह ईश्वर है जिसके सम्बन्ध में इस प्रबन्ध में विचार प्रस्तुत है।

कार्यत्व हेतु से ईश्वर की सिद्धि

कार्य सकारण होता है–इसी से उपपन्न है कि वह सकर्तृक भी है। क्योंकि कर्त्ता भी कारण है। यह कहा जा चुका है कि कर्त्ता वही होता है जो कार्य के समवायिकारण का प्रत्यक्ष अनुभव रखता है। इस चराचरात्मक संसार के उपादानों का प्रत्यक्ष अनुभव मानव के द्वारा सम्भव नहीं है, अतएव सर्वज्ञ पुरुष की कल्पना करनी होती है, वही ईश्वर है। वह नित्य तथा विभु है। नित्य ज्ञान, नित्य इच्छा आदि गुण उसमें रहते हैं। कर्त्ता को यदि कार्य के समवायिकरण का अर्थात् किस द्रव्य से किस द्रव्य का उत्पादन सम्भव है, इसका ज्ञान नहीं हो तो वह कार्य का निर्माण ही कैसे कर सकेगा? अतः सांसारिक पदार्थों के उपादानों का अपरोक्ष ज्ञान से युक्त कर्त्ता ईश्वर ही हो सकता है। पृथिवी तथा पर्वत आदि ईश्वरात्मक कर्त्ता से निष्पन्न होता है कार्य होने से–इस अनुमान के द्वारा ईश्वर की सिद्धि की जाती है। यहाँ कार्यत्व हेतु होता है। इस हेतु से ईश्वर का सिद्ध होना न्याय दर्शन के मूल ग्रन्थ वार्त्तिक आदि में उपपादित है। प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में इसका विशद तथा स्पष्ट विवेचन हुआ है।

आयोजन हेतु से ईश्वर की सिद्धि

अपि च, आयोजन ईश्वर की सिद्धि के अनुमान में हेतु होता है। सृष्टि के आदि में परमाणुओं की प्रवृत्ति चेतन से अधिष्ठित होने पर होती है, अचेतन होने से चेतन से अधिष्ठित होकर ही अचेतन क्रियाशील होता है। कुल्हारी मानव से अधिष्ठित होने पर ही छिदाकर्म में प्रवृत्त होती है। सृष्टि के आदि में हमलोगों का अस्तित्व ही नहीं रहता है। अतएव उस समय में परमाणुओं का प्रवर्तक ईश्वर ही हो सकता है।

'आयुज्यते–संयुज्यते द्रव्यमनेनेत्यायोजनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आयोजन पद से द्व्यणुक के उत्पादक–दो परमाणुओं का संयोगजनक कर्म–विवक्षित है। परमाणु जड़ होता है, अतएव उसकी प्रवृत्ति स्वतः नहीं हो सकती है। अन्यथा उसकी जड़ता ही नष्ट हो जाएगी। केवल अदृष्ट भी परमाणुओं की प्रवृत्त नहीं कर सकता है। क्योंकि वह भी अचेतन है। दूसरी बात यह है कि अदृष्ट कारण अन्वय तथा व्यतिरेक से उपपन्न दृष्ट हेतु का प्रतिबन्ध नहीं करता है अपि तु उसके सहकार की अपेक्षा करता है। कारण का एक देश यदि करणान्तर का प्रतिबन्ध करे तो कारणता का सर्वथा उच्छेद होना रूप आपत्ति होगी। अतएव यह सिद्ध हुआ कि अचेतन में क्रिया लाने के लिए चेतन का अधिष्ठान अपेक्षित है। जहाँ चेतन का व्यापार नहीं रहता है, उस स्थल में अचेतन में क्रिया नहीं पायी जाती है। यदि कहा जाए कि केवल चेष्टात्मक क्रिया के लिए चेतन का प्रयत्न आवश्यक है। क्रिया सामान्य का वह कारण नहीं होता है। तस्मात् परमाणु में जो क्रिया होगी उसको चेतन के अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं होगी। तब सृष्टि के आदि में उक्त

क्रिया के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की सिद्धि का जो प्रयास किया जाता है, वह विफल हो जाएगा। इसी से सिद्ध होता है कि विशेष कार्य के प्रति विशेष कारण की व्याप्ति सामान्य व्याप्ति का प्रतिबन्ध नहीं करता है। अन्यथा सामान्य व्याप्ति का सर्वथा उच्छेद हो जाएगा। जिन विशेषों में कार्यकारणभाव होता है-उनके सामान्य में वह मानना ही होगा। इस तरह विशेष अंकुर के प्रति विशेष बीज को कारण माना जाता है। इसी से अंकुरसामान्य के प्रति बीजसामान्य की कारणता सिद्ध होती है। प्रकृत में चेष्टात्मक क्रिया विशेष के प्रति चेतन का प्रयत्न सर्ववादि सम्मत कारण है। अतएव उक्त नियम के अनुसार क्रिया सामान्य के प्रति भी वह कारण होगा।

चेतन प्रयत्न जन्यत्व केवल शरीर की क्रिया रूप चेष्टा में ही पाया जाता है, अन्यत्र नहीं। परमाणु शरीर से भिन्न पदार्थ है उसकी क्रिया चेष्टा नहीं है। अतएव परमाणु की प्रवृत्ति में चेतन का अधिष्ठान आवश्यक नहीं है। इस तरह पूर्वपक्षी सत्प्रतिपक्ष प्रदर्शन के लिए अनुमान उपस्थित करता है कि परमाणु चेतन से अधिष्ठित होकर नहीं प्रवृत्त होता है। क्योंकि वह शरीर से भिन्न है। किन्तु यह सर्वथा निर्मूल है। उपर्युक्त रीति से क्रिया मात्र के प्रति चेतन प्रयत्न की कारणता सिद्ध हो चुकी है। उसका अपलाप सर्वथा असम्भव है। शुष्कपत्र में जो वायुजन्य क्रिया देखी जाती है। उस स्थल में ही ईश्वरात्मक चेतन का अधिष्ठातृत्व मानना चाहिए। शरीर की क्रिया में भोक्ता का प्रयत्न जन्यत्व है। उससे भिन्न क्रिया में भोक्ता का प्रयत्न कारण नहीं है-यह कहना सही है किन्तु क्रिया में चेतन प्रयत्न जन्यत्व का अपलाप सम्भव ही नहीं है।

उक्त खण्डन मण्डन से सिद्ध हुआ कि परमाणु की क्रिया को चेतन का अधिष्ठान अपेक्षित है। अतएव प्रकृत में अनुमान का यह रूप होता है-सर्ग के आदि में द्व्यणुक का उत्पादक-दो परमाणुओं का कर्म-समकालिक चेतन के प्रयत्न से उत्पन्न होता है कर्मत्व रहने से। वह चेतन इतरबाधसहकार के द्वारा ईश्वर ही सिद्ध होता है।

आचार्य **उदयन** ने आगम प्रमाण से भी इस अनुमान का समर्थन किया है। इन्होंने इसकी पुष्टि के लिए मनुसंहिता का वचन उद्धृत किया है-

ईश्वर जब जागता है तो संसार की सृष्टि होती है और जब वह शान्त होकर सो जाता है, तो सकल चराचर प्रलय को प्राप्त करता है।[१] आचार्य **उदयन** ने इसके आशय वर्णन में कहा है कि यहाँ जागरण का अर्थ है सहकारी कारण का सन्निधान तथा शयन का अर्थ है उसकी अनुपस्थिति[२] कुसुमाञ्जलि की आमोद व्याख्या में **शङ्कर मिश्र** ने

---

१. यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति। मनुसंहिता।। १।५२।
२. अत्र जागरस्वापौ सहकारिलाभालाभौ न्या०कु० ५।४ की व्याख्या।

इसका तात्पर्यार्थ यह दिया है- ईश्वर जब सृष्टि की इच्छा करता है तो परमाणु क्रिया से युक्त हो जाती है और जब वह इसके संहार की इच्छा करता है तो परमाणु, निष्क्रिय होकर रहता है । अतएव जागरण से सृष्टि की इच्छा, जगत् से परमाणु, चेष्टते से सक्रिय होना, शयन से संहार की इच्छा तथा निमीलन से निष्क्रिय होना विवक्षित है।[१]

महाभारत में प्रतिपादित है कि यह जन्तु अपने सुख एवं दुःख में स्वयं अज्ञ है अतएव असमर्थ है। ईश्वर की प्रेरणा पाकर वह स्वर्ग में जाए या नरक का भोग करे।[२] इस कारिका की व्याख्या में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि अज्ञ होना तथा प्रयत्नशील नहीं होना ईश्वर की प्रेरणा में हेतु दिखाया गया है। यहाँ स्वर्ग एवं श्वभ्र पद क्रमशः इष्ट तथा अनिष्ट का उपलक्षण है।[३] इसके तात्पर्य वर्णन में शङ्कर मिश्र ने कहा है कि **'जनयति इति जन्तु'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जन्तुपद परमाणु का वाचक है। अज्ञ पद उसकी अचेतनता प्रतिपादित करता है। सुख एवं दुःख पद क्रमशः परमाणु की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का बोधक है। इसी से सुख या दुःख का अनुभव सम्भव है। अतएव सुख एवं दुःख पद क्रमशः स्वकारण रूप परमाणु की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के बोधक होते है।[४] फलितार्थ यह हुआ कि परमाणु अचेतन है, उसकी प्रवृत्ति या निवृत्ति में चेतन की अपेक्षा अवश्य होती है, वह चेतन ईश्वर है। इसी की प्रेरणा से बह इष्टलाभ एवं अनिष्ट का परिहार कर सकता है।

भगवद्गीता में (९-१०) भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं कि जब मैं परमाणु का अधिष्ठान करता हूँ तब वह स्थावर जंगमात्मक इस संसार का आरम्भ करता है। मैं ही सांसारिक सभी वस्तुओं का अधिष्ठान करता हूँ। इसके लिए मुझे तपस्या करनी पड़ती है, इसको निगृहीत करना पड़ता है एवं उत्सर्ग करना पड़ता है। केवल वस्तु के आरम्भ में ही मैं अचेतन कारण का अधिष्ठाता नहीं होता हूँ अपि तु इसके प्रतिरोध में भी मेरा अधिष्ठान रहता ही है।[५] आयोजन हेतु से नैयायिक का प्रतिपाद्य भी यही है। जो इन आगमों से समर्थित होता है।

---

१. आमोद, पृ० ३४३।
२. अज्ञो जन्तुनरीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा। महाभारत वनपर्व ३०।२८।
३. इश्वरप्रेरणायामज्ञत्वमप्रयतमानत्वं चेति हेतू दर्शितौ परमाण्वादिसाधारणौ।
स्वर्गश्वभ्रे चेष्टानिष्टलक्षणे।। न्या० कु० ५।४।
४. शङ्कर मिश्र का आमोद- पृ० ३४३।
५. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।। भगवद्गीता ।।९।१०।

धृति हेतु से ईश्वर की सिद्धि

क्षिति आदि ब्रह्माण्ड पर्यन्त यह विश्व साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध से पतन का प्रतिबन्धक रूप प्रयत्न युक्त पुरुष के द्वारा अधिष्ठित है। क्योंकि इसमें धृतिमत्व है। जैसे आकाश में विहंगम से अधिष्ठित काष्ठ रहता है। उक्त अधिष्ठाता पुरुष ईश्वर है। अभिप्राय यह है कि विहंगम अपना नीड़ निर्माण के लिये तृण तथा काष्ठ का संग्रह करके उड़ता है। उस समय में आकाश में वह तृण एवं काष्ठ आदि विहंगम के प्रयत्न से अधिष्ठित रहने पर नहीं गिरता है। प्रत्युत उचित लक्ष्य पर पहुँच कर कार्य सम्पादन करता है। इसी तरह यह विश्व ईश्वर के प्रयत्न से अधिष्ठित है। अतएव पाताल में लीन नहीं हो जाता है। जिसका गिरना सम्भव है, उसका नहीं गिरना ही धारण है। इन्द्र, अग्नि, यम तथा लोकपाल आदि के प्रतिपादक आगम भी इसका समर्थन करता है। एक ही ईश्वर व्यवहार दशा में इन्द्र तथा अग्नि आदि नाम धारण कर लेते हैं। यहाँ यह शंका नहीं की जा सकती है कि मुख्य आगम **तत्त्वमसि** आदि परब्रह्म के साथ अन्य के अभेद का प्रतिपादन करता है और इन्द्र आदि के प्रतिपादक आगम भेद का प्रदर्शन करता है, अतएव पारस्परिक भेद रहने से अप्रामाण्य होगा? वस्तुतः एक ही ईश्वर है किन्तु आवेश निबन्धन यहाँ बहुत्व का व्यवहार होता है। जैसे एक ही मायावी वानर, शूकर तथा मानव का स्वांग रचता है पुनः मानव में भी ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आदि का भेष धारण करता है, इसी तरह इन्द्र एवं अग्नि नाम से भी परमेश्वर प्रसिद्ध होता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि यह विश्व ब्रह्माण्ड किसी के द्वारा धारण किया हुआ है।[१] भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि ईश्वर त्रिभुवन का भरण पोषण करता है। वह पुरुषोत्तम है। परमाला शब्द से भी कहा जाता है।[२] आचार्य उदयन ने इसकी व्याख्या में कहा है कि उत्तम पद ईश्वर का संसारी नही होना तथा सर्वज्ञ होना प्रतिपादित करता है। परम पद से उसके सबों का उपास्य होना सिद्ध होता है। लोकत्रय पद चतुर्दश भुवन का उपलक्षण है तथा भरण क्रिया से धारण क्रिया विवक्षित है। अव्यय पद से उपपन्न होता है कि ईश्वर में आगन्तुक गुण नहीं रहते हैं। अपि तु वह नित्य गुण का आश्रय होता है।[३]

---

१. एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः- वृ० आ० उ० ३।८।

२. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः। गीता १५।१७।

३. अत्रोत्तमत्वमसंसारित्वं सर्वज्ञत्वादि च। परमत्वं सर्वोपास्यता। लोकत्रयमिति-सर्वोपलक्षणम्। भरणम् धारणम्। अव्ययत्वमागन्तुकविशेषगुणशून्यत्वम्।। न्या०कु० ५।४।

नाश हेतु से ईश्वर की सिद्धि

इस विश्व ब्रह्माण्ड का नाश भी होता है जो प्रलय शब्द से प्रसिद्ध है। वह भी ईश्वर की सिद्धि में हेतु होता है। यह विश्व प्रयत्नशील पुरुष से नष्ट होता है, विनाशी होने से। जैसे वस्त्र किसी के प्रयत्न से फट जाता है। इस विश्व का नाश हमलोगों से सम्भव नहीं है। तस्मात् ईश्वर को इसका संहारक माना जाता है। इसी से ईश्वर के प्रलयङ्कर नाम की सार्थकता होती है। यह अनुमान भी आगम से समर्थित है। भगवान् श्रीकृष्ण भगवद्गीता में कहते हैं–अर्जुन प्रलय में जीव हममें लीन हो जाता और पुनः सृष्टि के समय में उन जीवों को छोड़ देता हूँ।[१] पुराण में प्रतिपादित है कि ईश्वर ब्रह्मा–विष्णु तथा रुद्र के रूप को धारण करके सभी प्राणियों को उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के चक्र में अनवरत भ्रमण कराता रहता है।[२] इसी तरह ईश्वर के रौद्र रूप के प्रतिपादक आगम भी इसमें प्रमाण होते हैं।[३]

पद हेतु से ईश्वर का अनुमान

'पद्यते ज्ञायते अनेनेति पदम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पद शब्द से लौकिक व्यवहार की परम्परा विवक्षित है। उक्त कारिका के पदात् इस अंश की व्याख्या में कहना यह है कि कुम्भकार को घट आदि प्रसिद्ध कार्य निर्माण करने की जो कला है, वह स्वतन्त्र पुरुष के निर्देश से चलती है, व्यवहार होने से आधुनिक व्यवहार की तरह। जैसे आजकल पिता अपने पुत्र का नाम चैत्र रखता है। उसका वह पुत्र उसी नाम से समाज में प्रसिद्ध होता है। पुस्तक में अक्षर रहते हैं, उसे अध्यापक जिस तरह से पढ़ता है उसी का अनुसरण शिष्य करता है। **आचार्य पाणिनि** के वर्ण निर्देश का क्रम है, उसका अनुसरण सबों को व्यवहार दशा में करना होता है। प्रलय से इन व्यवहारों का लोप हो जाता है। अतएव सृष्टि के आदि में इन व्यवहारों को जानने वाला एक ईश्वर ही रहता है, वही इन व्यवहारों का उपदेश विभिन्न व्यक्तियों को कराता है। उसी के शिर पर संसार चलाने का भार है और तब इस संसार में क्रमशः व्यवहार चलता रहता है किन्तु इन व्यवहारों का आदि उपदेष्टा ईश्वर ही है।

यहाँ यह शङ्का नहीं की जा सकती है कि आदिमान् व्यवहार के विषय में उपर्युक्त युक्तियाँ ठीक बैठती है। किन्तु सांसारिक व्यवहार की अनादिता सर्वमान्य सिद्धान्त है।

---

१. सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिँ यान्ति मामिकीम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।। गीता० ९/७।
२. एष सर्वाणि भूतानि समभिव्याप्य मूर्त्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं सम्भ्रामयति चक्रवत् ।। पुराण।।
३. एतेन रौद्रमंशं प्रतिपादयन्तोऽप्यागमाः व्याख्याताः।। न्या०कु० ५।

अतएव इसके आदि उपदेश की आवश्यकता नहीं है। चूँकि सृष्टि का आदि एवं प्रलय युक्तियों से सिद्ध है। अतएव प्रलय के बाद सृष्टि के आदि में उपदेष्टा चाहिए ही और वह ईश्वर ही हो सकता है। दूसरों का अस्तित्व ही उस समय में नहीं रहता है। इससे सांसारिक व्यवहार की अनादिता पर आँच नहीं आती है। पूर्व सर्ग में इसी तरह का व्यवहार अनादि है। इसकी अनादिता का विरोध नहीं किया जा सकता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि लोक में व्यवहर्ता व्यक्ति शरीरी देखा गया है, जिसके उपदेश से बालक व्यवहार सम्पादन करता है। उपदेश मुख से होता है वह शरीर का अंग है। शरीर के अभाव में मुख की पृथक् सत्ता सम्भव नहीं है। अतएव उपदेश एवं शरीरी में अन्वय तथा व्यतिरेक के कार्यकारणभाव स्थिर है। किन्तु ईश्वर शरीरी नहीं है, अतएव वह व्यवहार का उपदेश नहीं दे सकता है। इसके उत्तर में आचार्य **उदयन** ने कहा है कि कार्य सम्पादन के लिए ईश्वर शरीर ग्रहण करता है तथा अपनी विभूतियाँ प्रदर्शित करता है। इसमें इन्होंने आगम प्रमाण का प्रदर्शन किया है। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ईश्वर इस संसार का कर्त्ता हूँ, पालक हूँ तथा कर्त्ता का भी कर्त्ता हूँ। मैं यदि निरलस होकर कर्म नहीं करूँगा तो यह संसार ही उच्छिन्न हो जाएगा। क्योंकि मेरा उपदेश पाकर ही मानव इस संसार में व्यवहार सम्पादन करता है।[१] गीता के इस वचन से प्रमाणित होता है कि नैयायिक का उपर्युक्त अनुमान लोक एवं शास्त्र उभय सिद्ध है। उक्त अनुमान के समर्थन में **आचार्य उदयन ने 'नमः कुलालेभ्यः नमः कर्मारेभ्य'**[२] इत्यादि वेद वाक्य का उद्धरण भी प्रस्तुत किया है।

यहाँ ध्यातव्य यह है कि ईश्वर के शरीर के सम्बन्ध में न्यायवार्त्तिककार **उद्योतकर** ने कहा है कि यद्यपि बुद्धि गुण का आश्रय शरीरी देखा गया है, अतएव ईश्वर को शरीरी होना चाहिए। किन्तु ईश्वर में नित्य बुद्धि आदि गुण विद्यमान है, अतएव अनित्यबुद्धि आदि गुण का आश्रय जीव यदि शरीरी होता है तो उसका व्यतिरेक प्रकृत में उपलब्ध है, अतएव ईश्वर शरीरी नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि नित्यज्ञान एवं शरीर में यदि कार्यकारणभाव रहता तब सम्भव था कि ईश्वर को शरीरी होना पड़ता किन्तु ऐसा कार्यकारणभाव नहीं है। अतएव नित्यज्ञान के आश्रय की शरीरी होना आवश्यक नहीं है। फलतः इनके मत से ईश्वर अशरीरी होता है।

---

१. पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।। गीता ९।७।
यदि ह्यहं न वर्तेयम् जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। गीता ३।२३।
उत्सीदेयुरिमे लोकाः न कुर्यां कर्म चेदहम् ।। गीता ३।२४।
२. वाजसनेयी संहिता रुद्राध्याय।

वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में कहा है कि ईश्वर शरीरी नहीं होता है। चूँकि ईश्वर नहीं है। अतएव वह अधिष्ठाता नहीं हो सकता है। शरीरी ही अधिष्ठाता होता हुआ देखा गया है। अन्यथा मुक्तात्मा को भी अधिष्ठाता मानने में क्या क्षति है। पूर्वपक्षी के ईश्वर खण्डन विषयक इस अनुमान में पक्षधर्मता की सिद्धि के लिए ईश्वर आवश्यक है, जो अनुमान से प्रमाणित होता है। अतएव ईश्वर सिद्धिमूलक अनुमान पूर्वपक्षी के उक्त अनुमान का उपजीव्य होगा और उपजीव्य विरोध किसी को इष्ट नहीं होता है। अनुमान से एक बार जब ईश्वर का शरीर होना और अचेतन उपादानों का अधिष्ठाता होना सिद्ध हो चुका है तो पुनः उसका खण्डन नहीं किया जा सकता है। इसी तरह **आचार्य उदयन** ने भी इस विषय में पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण किया है। अतएव इन्होंने आत्मतत्वविवेक में ईश्वर की अशरीरिता का उपपादन किया है। किन्तु कुसुमाञ्जलि में –**गृह्णाति हीश्वरोऽपि कार्यवशाच्छरीरम्**–यह जो कहा गया है, वह तुष्यतु दुर्जन न्याय से प्रतिपन्न होता है। अतएव कुसुमाञ्जलि एवं आत्मतत्वविवेक की परस्पर विरोधिनी उक्तियों को देखकर आचार्य **उदयन** की मान्यता में अप्रामाण्य का सन्देह नहीं किया जा सकता है। उपर्युक्त रीति से दोनों वाक्यों में समन्वय करना ही परवर्ती समीक्षकों का कर्तव्य है जो सुलभता से यहाँ सम्भव है।

प्रत्यय हेतु से ईश्वर की सिद्धि

प्रत्यय पद से प्रामाण्य विवक्षित है। प्रामाण्य ईश्वरसाधक अनुमान में हेतु होता है। वेद का ज्ञान कारणगत गुण से जन्य होता है प्रमाण होने से। न्यायमत में वेद पौरुषेय है। वेद के ज्ञान में जो प्रामाण्य है, वह उसके वक्ता रूप कारण के गुण से जन्य है। उक्त वक्तारूप कारण ईश्वर ही उपपन्न होता है। जैसे प्रत्यक्ष प्रमा का प्रामाण्य कारणगुण जन्य है। इसी तरह ईश्वरगत प्रामाण्य के आधार पर वेद के ज्ञान का प्रामाण्य उपपादित होता है।

श्रुति हेतु से ईश्वर की सिद्धि

वेद ईश्वर साधक अनुमान में हेतु होता है। वेद पौरुषेय है–किसी पुरुष से उक्त है–वेदत्व रहने से। वह पुरुष ईश्वर है। जैसे यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि आयुर्वेद किसी की उक्ति है तथा उसके आदेशानुसार चलने से व्यक्ति रोगमुक्त होकर स्वास्थ्य लाभ करता है। अतएव आयुर्वेद का प्रामाण्य प्रत्यक्षतः उपलब्ध है। इसी तरह वेदोक्त उपदेश के अनुसरण से इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति होती है। जो उसके प्रामाण्य को उपपन्न करता है। वेद का वक्ता हमलोग नहीं हो सकते हैं, क्योंकि प्रलय में वेद का नाश नहीं होता है, किन्तु हमलोगों का अस्तित्व नहीं रहता है। अतएव वेद का वक्ता सर्वज्ञ एवं नित्य ईश्वर ही हो सकता है। यह **हरिदास सिद्धान्तवागीश** का[1]

---

१. द्रष्टव्य–हरिदासी कुसुमाञ्जलि की कामाख्यानाथकृत व्याख्या–पृ० १०२।

कहना है। किन्तु **आचार्य उदयन** ने वेदत्व हेतु से ईश्वर को सिद्ध करने के लिए अनुमान का यह स्वरूप उपस्थित किया है-वेद सर्वज्ञ से प्रणीत है, वेदत्व रहने से इसमें इन्होंने व्यतिरेकी दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। जो सर्वज्ञ से प्रणीत नहीं है, वह वेद भी नहीं है। जैसे व्यवहार के लिए प्रयुक्त हमलोगों का वाक्य। वेद का निर्वचन करते हुए इन्होंने कहा है कि जिसका मूल कहीं भी उपलब्ध नहीं है तथा सबों को मान्य है ऐसा वाक्य समूह ही वेद है।[१]

वाक्य हेतु से ईश्वर की सिद्धि

अन्वयी दृष्टान्त देकर यहाँ अनुमान इस तरह से होता है-वेदवाक्य पौरुषेय है, वाक्यत्व रहने से। हमलोगों के वाक्य जैसे पौरुषेय होते हैं। यद्यपि इस वाक्यत्व हेतु में यह शंका हो सकती है कि यदि सकर्तृक होता तो जैसे रघुवंश आदि महाकाव्य के कर्त्ता रूप में **कालिदास** की स्मृति होती है, इसी तरह वेद के कर्त्ता की भी स्मृति होती। किन्तु इसका विपरीत देखा जाता है, वेद के कर्त्ता रूप में किसी का स्मरण नहीं होता है। इसलिए वेद पौरुषेय नहीं हो सकता है। तथापि इसके उत्तर में नैयायिक का कहना यह है कि वेद के कर्त्ता का भी स्मरण होता है। वेद ही इसका प्रतिपादन करता है। आपस्तम्ब की यज्ञ परिभाषा में कहा गया है कि प्रलय के बाद सृष्टि के आदि में ईश्वर के मुखों से वेदों की निःसृति हुई। प्रत्येक मन्वन्तर में यह श्रुति उस परमेश्वर के द्वारा विभिन्न रूप को धारण करती रहती है।[२] इससे स्वतः उपपन्न होता है कि वेद सकर्तृक है। भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि मैं वेदान्तों का कर्त्ता एवं वेदों का ज्ञाता हूँ। **'वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्'**[३] यहाँ अहं पद से ईश्वर विवक्षित हैं। ऋग्वेद कहता है कि विष्णु या ईश्वर से ऋग् आदि वेद उत्पन्न हुए है।[४]

प्रश्न उठता है कि शाब्दबोध के लिए शक्ति का ज्ञान अपेक्षित है। इस पद से अमुक अर्थ को समझना चाहिए-ऐसी ईश्वरेच्छा ही शक्ति पदार्थ है। यह शक्ति जिस पद में रहती है उसी पद से अर्थ का बोध होता है। प्रकृत में उपर्युक्त वाक्यों के द्वारा कर्त्ता का स्मरण अर्थवाद होने से प्रमाण नहीं है। कार्य में अन्वित जो पद होते है उसी में वृद्ध व्यवहार देखकर शक्ति मानी जाती है। प्रकृत वाक्यों में यह शक्ति नहीं है। अतएव वह प्रमाण नहीं हो सकता है और इन वाक्यों का अप्रामाण्य वेद का सकर्तृकत्व सिद्ध नहीं होने देता है, प्रत्युत उसका प्रतिबन्ध करता है। इसके उत्तर में नैयायिक उदयन ने कहा

---

१. अनुपलभ्यमानमूलान्तरत्वे सति महाजनपरिगृहीतत्वम् । न्या०कु० ५।५।

२. अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।
प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते।। आपस्तम्ब की यज्ञपरिभाषा।

३. भगवद्गीता। १५।१५।

४. तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि यज्ञिरे। ऋग्वेद, पुरुषसूक्त १०।९०।९।

है कि अर्थवाद वाक्य के मुख्यार्थ परक होने में यदि बाधक नहीं है तो पुनः वह प्रमाण क्यों नहीं होगा। अर्थवाद वाक्य भी निश्चित रूप से प्रमाण हो सकता है। '**यन्न दुःखेन संम्भिन्नम्**' इत्यादि स्वर्गप्रतिपादक अर्थवाद वाक्य को प्रमाण मानना ही होगा। दूसरी बात यह है कि कर्त्ता का स्मरण विध्यर्थक ही नहीं होता है। यदि कर्त्ता का स्मरण विध्यर्थक माना जाए तथा उसी को प्रमाण कहा जाए तो रघुवंश आदि में कहीं भी ऐसा विधिवाक्य उपलब्ध नहीं है, जिससे **कालिदास** आदि का स्मरण होगा। अतएव उक्त नियम के अनुसार प्रसिद्धकर्तृक काव्य में कर्त्ता के स्मरण नहीं होने से उन काव्यों को अकर्तृक मानना होगा–यदि उसे सकर्तृक माना जाए तो काव्य अकर्तृक है, क्योंकि कर्त्ता का स्मरण नहीं होता है–पूर्वपक्षी के इस अनुमान में अनैकान्तिक दोष होगा। पूर्वपक्षी के मतानुसार कर्त्ता का स्मरण अर्थवाद है, जो प्रमाण नहीं हो सकता है। अतएव उक्त काव्य में अस्मर्यमाणकर्तृकत्व रूप हेतु है किन्तु अपौरुषेयत्व रूप साध्य नहीं है। प्रकृत साध्याभाव के अधिकरण उक्त काव्य में हेतु के रहने से अनैकान्तिक का लक्षण समन्वित होता है।

यहाँ पुनःशङ्का होती है कि वेद पौरुषेय नहीं है, क्योंकि वह प्रमाणान्तर का विषय नहीं होता है–इस सत्प्रतिपक्ष को हटाने के लिए आचार्य **उदयन** ने कहा है कि यहाँ दो कल्प है–क्या प्रणेता के प्रमाणान्तर का अविषय वेद है?या अन्य के प्रमाणान्तर का अविषय है? प्रथम कल्प सम्भव नहीं है। ईश्वरात्मक प्रणेता को वेद का प्रत्यक्षात्मक अनुभव होता है। अतएव शब्द की अपेक्षा प्रत्यक्ष रूप प्रमाणान्तर की विषयता वेद में सिद्ध ही है। दूसरा कल्प यदि माना जाए तो हेतु अनैकान्तिक होगा। स्वप्न में मैंने एक सुन्दरी का दर्शन किया–इस वाक्य में पौरुषेय होने पर भी वक्ता से भिन्न पुरुष के लिए वक्ता के द्वारा कहे जाने पर शब्द प्रमाण को छोड़कर किसी अन्य प्रमाण का विषय होना असम्भव है। अतएव अन्य प्रमाण का अविषय रूप हेतु उक्त साध्य के सपक्ष में नहीं है, जो इसको अनैकान्तिक के असाधारण भेद के लक्षण से समन्वित करता है। इस प्रसंग में अन्य दोष नहीं प्रदर्शित किया जा सकता है। जैसे वेद का वक्ता अतीन्द्रिय पदार्थो का द्रष्टा नहीं है, पुरुष होने से। वेदवक्ता का ज्ञान अतीन्द्रिय विषयों का अवगाहन नहीं कर सकता है, इन्द्रियत्व रहने से–आदि–आदि विपरीत अनुमान तब सम्भव था यदि अनुमानों का आश्रय पहले से सिद्ध रहता, किन्तु इन अनुमानों का आश्रय तो वह ईश्वर ही है जो अनुमान से उपपन्न किया जाता है। अतएव इन अनुमानों में आश्रयासिद्धि दोष होते हैं। दूसरी बात यह है कि सामग्री के अभाव में अनित्य ज्ञान नहीं हो सकता है, किन्तु नित्य ज्ञान क्यों नहीं होगा, उसे तो किसी की अपेक्षा नहीं होती है।

संख्याविशेष से ईश्वर की सिद्धि

संख्याविशेष ईश्वर की सिद्धि में हेतु होता है-'**संख्याविशेषाच्च** इस वाक्य से **उदयन** को यही विवक्षित रहा है। अभिप्राय यह है कि तुल्य परिमाण के पाँच कपाल उपस्थित है। उसमें से दो कपालों से एक घट बनाया गया तथा तीन कपालों से अपर घट बनाया गया। उस स्थल में दो कपालों से आरब्ध जो घट है उसकी अपेक्षा तीन कपालों से आरब्ध घट का परिमाण प्रत्यक्षतः भिन्न है। इस भेद का कारण परिमाण नहीं हो सकता है। क्योंकि परिमाण तो दोनों घटों के कारण रूप कपाल में समान ही है। किन्तु कार्य में भेद देखकर कारणगत भिन्नता के निर्वाह के लिए त्रित्व संख्या को ही कारण मानना होगा। इसी तरह द्व्यणुक का परिमाण संख्या जन्य है। इसका कारण यह है कि द्व्यणुक का निर्माण दो परमाणुओं से होता है और त्रसरेणु का तीन द्व्यणुकों से। परमाणु तथा द्व्यणुक दोनों का परिमाण अणु माना गया है और परिमाण के विषय में यह नियम है कि परिमाण अपने समान जातीय उत्कृष्ट परिमाण का जनक होता है। जैसे कपाल का परिमाण महत् है, उससे घट का परिमाण उत्पन्न होता है जो उससे महत्तर होता है। इसी प्रकार यदि परमाणु के परिमाण से द्व्यणुक का परिमाण उत्पन्न हो तो परमाणु का परिमाण अणु है, इसलिए उक्त नियम के अनुसार वह अणुतर परिमाण को ही उत्पन्न करेगा, जो सम्भव नहीं है। अणु से अधिक छोटा परिमाण होता ही नहीं है। इसलिए द्व्यणुक के परिमाण का कारण परमाणु का परिमाण नहीं है। अन्यथा त्रसरेणु से लेकर घट तक का प्रत्यक्ष नहीं होगा, अपि तु परमाणुगत द्वित्व संख्या है। एकत्व संख्या आश्रय के नित्य अथवा अनित्य के अनुसार नित्य अथवा अनित्य होती है। किन्तु उससे भिन्न द्वित्व से लेकर परार्ध पर्यन्त संख्या अनित्य ही होती है और इन संख्याओं की उत्पत्ति अपेक्षा बुद्धि से होती है। यह एक है, और यह एक है दोनों मिलकर दो होता है। **अयमेकः अयमेकःइमौ द्वौ**, यही अपेक्षा बुद्धि का स्वरूप है। यह बुद्धि किसी चेतन में ही रहती है। अब, प्रश्न होता है कि सृष्टि के आदि में परमाणुगत इस द्वित्व संख्या के कारण रूप अपेक्षा बुद्धि का आश्रय चेतन पुरुष कौन होगा? इसके उत्तर में कहना होगा कि सर्वज्ञ ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि ही परमाणुगत द्वित्व संख्या का कारण हो सकता है। क्योंकि सृष्टि के आदि में केवल वही रहता है। इस तरह उक्त संख्याविशेष का अर्थ है द्व्यणुक के परिमाण का कारण रूप संख्या। उसका कारण अपेक्षा बुद्धि है, जो ईश्वराश्रित है। अतएव यह उपन्न हुआ कि संख्याविशेष से ईश्वर की सिद्धि होती है।[१]

क्या ईश्वर शरीरी है ?

कर्त्ता शरीरी होता है, ईश्वर शरीरी नहीं है, अतएव कर्त्ता भी नहीं हो सकता है।-बौद्ध आचार्य **धमकीर्ति** के अनुयायियों के इस पूर्वपक्ष के उत्तर में आचार्य **उदयन** पूछते हैं

कि कर्त्ता शरीरी होता है–इसका क्या अभिप्राय है? इसमें छः विकल्प हो सकते हैः–

१. ईश्वर शरीरी है, कर्त्ता होने से। क्योंकि कर्त्ता शरीरी ही होता है, जैसे घट का कर्त्ता कुम्भकार शरीरधारी है। कर्तृत्व हेतु से ईश्वर में शरीरीत्व का उपपादन इस अनुमान में होता है।

२. ईश्वर कर्त्ता नहीं हो सकता है, क्योंकि वह शरीरी नहीं है। जिसे शरीर नहीं है, वह कर्त्ता नहीं होता है। इस अनुमान से शरीरीत्व हेतु के द्वारा ईश्वर में कर्तृत्वाभाव का समर्थन होता है।

३.पृथिवी आदि कार्य शरीरी कर्त्ता के द्वारा बनाए गए हैं। क्योंकि उसमें कार्यत्व है। कार्य शरीरी कर्त्ता से ही निष्पादित होता देखा गया है। घट का कर्त्ता कुम्भकार शरीरी प्रसिद्ध है। ईश्वर शरीरी नहीं है। अतएव कर्त्ता भी नहीं हो सकता है। इस अनुमान से पृथिवी आदि में कार्यत्व हेतु से शरीर–कर्तृकत्व सिद्ध करके ईश्वर को नहीं सिद्ध होने देना अभिप्रेत है।

४. क्या पृथिवी आदि कार्य ही नहीं है, क्योंकि वह शरीरी कर्त्ता से सम्पादित नहीं होते हैं, जो वस्तु शरीरी के द्वारा नहीं बनती है, वह कार्य नहीं है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आकाश है। इसका शरीरी कर्त्ता नहीं होता है। अतएव वह कार्य भी नहीं है। इस अनुमान से पृथिवी आदि में अशरीरीकर्तृत्व हेतु से कार्यत्वाभाव उपपादित किया जाता है जो परम्परया ईश्वर की सिद्धि में प्रतिबन्धक होगा।

५. जो वस्तु शरीरी से नहीं बनता है वह सकर्तृक भी नहीं होता है। पृथिवी आदि सकर्तृक भी नहीं होते हैं, क्योंकि शरीरी के द्वारा नहीं बनते। इस अनुमान से पृथिवी आदि में शरीरकर्तृकत्वाभाव हेतु से सकर्तृकत्वाभाव रूप साध्य को सिद्ध किया जाता है–और षष्ठ विकल्प का रूप यह है–

६. जो कार्य है वह सकर्तृक होता है–नैयायिक के इस अनुमान में केवल दोष दिखाने के लिए इसके विपरीत जो शरीर से जन्य नहीं होता है, वह सकर्तृक भी नहीं होता है–इस व्याप्ति का प्रदर्शन पूर्वपक्षी का अभिप्रेत है।

उक्त विकल्पों में प्रथम तथा द्वितीय विकल्प सम्भव नहीं है। इसमें क्रमशः आश्रयासिद्धि, बाध, अपसिद्धान्त तथा प्रतिज्ञाविरोध रूप आपत्तियाँ होती है। ईश्वर के अस्तित्व में जब विवाद है तब उसी को आश्रय बनाकर अनुमान करना आश्रयासिद्धि से युक्त है। ईश्वर शरीरी है कर्त्ता होने से, अथवा ईश्वर कर्त्ता नहीं है शरीरी नहीं होने से–इन अनुमानों का पक्ष ईश्वर है जो विवादग्रस्त होने से प्रसिद्ध नहीं है एवं इन अनुमानों का धर्मी ईश्वर है। नैयायिक ईश्वर के अस्तित्व के लिए अनुमान करता है कि पृथिवी आदि सकर्तृक होते हैं कार्य होने से, वह कर्त्ता ईश्वर इतरबाधसहकृत अनुमान से सिद्ध होता है। अब विकल्प घटक उपर्युक्त अनुमानों के आगे नैयायिक का अनुमान कट जाता है

और उसका कट जाना ही बाध हुआ। किन्तु यह सम्भव नहीं है। क्योंकि नैयायिक का अनुमान उपर्युक्त विकल्प घटक उन दोनों अनुमानों का उपजीव्य है और उपजीव्य विरोध किसी को इष्ट नहीं हो सकता है। अतएव नैयायिक का अनुमान उक्त विकल्प घटक अनुमानों से होता है। फलतः धर्मिग्राहकमानबाध रूप दोष स्पष्ट ही है और यही बाध पद से आचार्य उदयन को विवक्षित भी है। कुसुमाञ्जलि की प्रकाशटीका में **वर्द्धमान** ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि पूर्वपक्षी के अनुमान का धर्मी ईश्वर यदि प्रमाण से सिद्ध हो तो धर्मिग्राहकप्रमाण उपस्थित है। अब उसके नहीं सिद्ध होने का प्रयास करना धर्मिग्राहकप्रमाण का बाध हुआ। उक्त ईश्वर रूप धर्मी का प्रमाण से ज्ञान नहीं हुआ है तब तो पदार्थ सिद्ध ही नहीं है। अतएव पूर्वपक्षी के अनुमान के आश्रय रूप ईश्वर की असिद्धि है।[1] दूसरी बात यह है कि अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर भूधर आदि में कार्यता सिद्ध करके उसके कर्त्ता रूप में ईश्वर सिद्ध होता है। यह अनुमान विकल्प घटक अनुमानों के धर्मी को सिद्ध करता है। अतएव वह **धर्मिग्राहकप्रमाण** पद से कहा जाता है। विकल्प घटक अनुमानों से इसका बाध होता है। अतएव विकल्प घटक अनुमानों में धर्मिग्राहकमान का बाध रूप दोष होता है, जो अनुमानों के असंगत होने में साधक होता है।

ईश्वर को नहीं मानना बौद्ध का सिद्धान्त है। किन्तु ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में विचार नहीं करके कर्त्ता के शरीरित्व एवं अशरीरित्व का विचार उपस्थित करना प्रमाणित करता है कि ईश्वर बौद्धों को मान्य है। बौद्ध दार्शनिक नैयायिक से इसमें इतना ही पृथक् है कि बौद्ध दार्शनिक ईश्वर को शरीरी सिद्ध करना चाहते हैं जो नैयायिकों को मान्य नहीं है। इस तरह बौद्धदर्शन का स्वसिद्धान्तभङ्गरूप अपसिद्धान्त–ईश्वर का मानना–प्रकृत विचार से उपपन्न होता है।

ईश्वर अशरीरी कर्त्ता का वाचक है। जो कर्त्ता शरीर परिग्रह नहीं करता है वही ईश्वर पद से समझा जाता है। किन्तु उपर्युक्त विकल्प अनुमानों से सिद्ध होता है कि ईश्वर शरीरी है अथवा वह कर्त्ता नहीं होता है। इससे यही हुआ कि बौद्धों को प्रतिज्ञात है ईश्वर का अस्तित्वाभाव। किन्तु उन विकल्प घटक अनुमानों से उसका शरीरी होना अथवा कर्त्ता नहीं होना उपपादित होता है। अतएव प्रतिज्ञाविरोध रूप दोष स्पष्टतः लगता ही है।

तृतीय विकल्प भी युक्तिपूर्ण नहीं है। कार्यत्व एवं शरीरकर्तृकत्व की व्याप्ति से क्षिति आदि में शरीरकर्तृकत्व के सिद्ध कर लेने से अशरीरी कर्त्ता का निषेध नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि कार्यत्व एवं शरीरकर्तृत्व की व्याप्ति भी सम्भव नहीं है। अंकुर

---

१. ईश्वरस्य धर्मिणः प्रमाणेन ज्ञानाज्ञानयोर्धर्मिग्राहकमानबाधाश्रयासिद्धी। न्या०कु०की प्रकाशव्याख्या पृ० ४८५।

में कार्यत्व के रहने पर भी शरीरकर्तृत्व नहीं रहता है। अतएव कार्यत्व हेतु घट आदि सपक्ष में तथा अंकुर आदि विपक्ष में विद्यमान है, जो उसको साधारण नामक अनैकान्तिक दोष से युक्त करता है।

चतुर्थ विकल्प में बाध नामक दोष होता है। साध्याभाव का अधिकरण यदि अनुमान का पक्ष होता है तो उसे बाध नामक हेत्वाभास कहा जाता है। प्रकृत में क्षितित्वजात्यवच्छिन्न सकल क्षिति को यदि पक्ष कहा जाए तो उसके अन्तर्गत घटात्मक क्षिति भी स्वतः आ ही जाएगी, और इसके कार्य होने में विवाद का सर्वथा अभाव है। अब घट रूप क्षिति कार्य है। अतएव अकार्यत्वरूप साध्य का अधिकरण वह नहीं हो सकता है, किन्तु उक्त साध्य के अभाव का अधिकरण वह होगा। प्रकृत में घटात्मक पक्ष अकार्यत्व रूप साध्य के अभाव कार्यत्व का अधिकरण होता है, अतएव बाध दोष के लक्षण का समन्वय हुआ। क्षितित्वजात्यवछिन्न सकल क्षिति को यदि पक्ष नहीं मानकर केवल यत्किंचित् क्षिंति को पक्ष मान लिया जाए तो सव्यभिचार दोष होगा। पृथिवी आदि कार्य नहीं है, क्योंकि शरीरजन्य नहीं है-इस अनुमान में अकार्यत्वरूप साध्य का निश्चित अधिकरण आकाश होता है, जहाँ शरीराजन्यत्वरूप हेतु विद्यमान है, एवं उक्त साध्य के अभाव का निश्चित अधिकरण अंकुर होगा। यत्किंचित् क्षिति को पक्ष मानने से उससे अतिरिक्त का ही पक्ष में समावेश होगा, वह पक्ष से भिन्न है, अतएव वह विपक्ष होगा जहाँ शरीराजन्यत्व विद्यमान है और सपक्ष एवं विपक्ष में हेतु की सत्ता ही साधारण नामक अनैकान्तिक है जो प्रकृत में समन्वित होता है।

पञ्चम विकल्प के सम्बन्ध में आचार्य **उदयन** का कहना है कि जैसे वह्निमान् धूमात् इस अनुमान मे केवल धूम हेतु होता है। किन्तु किसी ने यदि उस धूम में नील विशेषण लगा दिया तो वह व्यर्थविशेषण हो जाता है और व्यर्थविशेषण से युक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास होकर अनुमान का बाधक होता है। इसी तरह यदि प्रकृत में अकार्यत्व के साथ शरीराजन्यत्व की व्याप्ति सिद्ध की जाए तो हेतु में शरीर पद का समावेश व्यर्थविशेषण हो जाएगा। दूसरी बात यह है कि पृथिवी आदि सकर्तृक नहीं होते, क्योंकि शरीरजन्यत्व उसमें नहीं है-पूर्वपक्षी के इस अनुमान का हेतु शरीरजन्यत्वाभाव है। यहाँ नञ् का सम्बन्ध केवल जन्यत्व के साथ करने पर उपर्युक्त रीति से व्यर्थविशेषण दोष होता है। यदि अखण्ड में अर्थात् शरीरजन्यत्व में उसका सम्बन्ध माना जाए तो ऐसी स्थिति में अजन्यत्व ही उपाधि हो जाएगी। जो साध्य का व्यापक होकर साधन का व्यापक नहीं होता है, उसे उपाधि कहते हैं। प्रकृत में शरीरजन्यत्वाभाव हेतु है तथा अकार्यत्व साध्य है। अकार्यत्व का अधिकरण आकाश होता है। जहाँ अजन्यत्व विद्यमान है, अतएव आकाश में अजन्यत्व का अभाव नहीं रह सकता है। अपि तु किसी अन्य का अभाव रहेगा उस अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक

धर्म कुछ और ही होगा तथा अनवच्छेदक धर्मवत्वव्यापक का लक्षण अजन्यत्व में समन्वित होता है। यह अजन्यत्व उक्त साधन का अव्यापक भी है। शरीरजन्यत्वाभाव के अधिकरण पृथिवी में (पक्ष में) अजन्यत्व का अभाव रहता है, उसकी प्रतियोगिता अजन्यत्व में है, अतः साधन का अव्यापक भी है। इस तरह उपाधि का लक्षण समन्वित होता है।

छट्ठे विकल्प में यद्यपि व्याप्ति बैठती है किन्तु हेतु के बलाबल का जब विचार किया जाएगा तो वहाँ केवल व्याप्ति से काम नहीं चलता है। हेतु वही सबल होता है, जिसमें व्याप्ति तथा पक्षधर्मता दोनों का समावेश रहता है। प्रकृत में पूर्वपक्षियों के हेतु में व्याप्ति को मान लेने पर भी पक्षधर्मता का सर्वथा अभाव है। अतएव हेतु सबल नहीं अपि तु दुर्बल है। साध्य के अधिकरण में–यहाँ साध्य को सिद्ध करना इष्ट है–हेतु का अस्तित्व ही पक्षधर्मता है। इसका ज्ञान अनुमान में हेतु के सबल होने में सहायक होता है। इसी सम्बन्ध में नैयायिक के ईश्वरसाधक अनुमान का हेतु व्याप्ति तथा पक्षधर्मता से युक्त है। अतएव उस सबल हेतु के आगे दुर्बल हेतु कट ही जाएगा। फलतः बौद्ध के उपर्युक्त पूर्वपक्ष से कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। जिस स्थल में साध्य के साधक एवं साध्याभाव के साधक हेतुओं में समान बल रहता है उसी स्थल में सत् प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभाव की आपत्ति दी जा सकती है। किन्तु प्रकृत में वह सम्भव नहीं है।

पूर्वपक्षी षष्ठ विकल्प को उठाकर पुनः नैयायिक के अनुमान में सत् प्रतिपक्ष दिखाते हुए कहता है कि यदि नियम हो कि जो वस्तु बुद्धिमान् कारण से सम्पादित होता है वह शरीरी कारण से ही होता है, तब इसका विपरीत यह होगा कि जो वस्तु शरीरी हेतु से नहीं होता है उसका कारण बुद्धिमान् नहीं होगा। इस नियम के अनुसार पृथिवी आदि सन्दिग्ध कर्तृक कार्यों की रचना बुद्धिमान् से सम्पादित नहीं होगी। क्योंकि शरीरी हेतु से उन कार्यों का निर्माण देखा नहीं गया है। अब, पृथिवी आदि में कार्यत्व भी विवाद का विषय ही रहा है। क्योंकि वह शरीरी हेतु से निष्पन्न नहीं होता है। अतएव उसमें बुद्धिमत्कर्तृकत्व नहीं है और बुद्धिमत्कर्तृकत्व का अभाव उसके अकार्यत्व को उत्पपन्न करता है।

अब पूर्वपक्षियों का कहना यह है कि पृथिवी आदि सन्दिग्ध कर्तृक पदार्थ रूप पक्ष में कार्यत्वाभाव रूप साध्य की सिद्धि के लिए निर्दिष्ट शरीरजन्यत्वाभाव रूप हेतु विद्यमान है। तस्मात् पक्षधर्मता का अस्तित्व हेतु में सिद्ध होता है एवं पूर्व निर्दिष्ट रीति से व्याप्ति है ही। यह हेतु भी अब दुर्बल नहीं है प्रत्युत पूर्ण बलवान् है। अतएव नैयायिक का यह कहना कि पूर्वपक्षियों का हेतु दुर्बल है–असंगत होगा। साथ ही पृथिवी आदि में सकर्तृकत्व सिद्धि के लिए नैयायिक का अनुमान दोषयुक्त हेतु होने से असंगत है। इसका निष्कर्ष यही हुआ कि पृथिवी आदि का कर्त्ता शरीरी नहीं है। अतएव बुद्धिमान् की रचना नहीं है, उसमें कार्यत्व स्वतः आ जाता है।

इसके उत्तर में नैयायिक ने पूर्वपक्षी से पूछा है कि पृथिवी आदि में शरीराजन्यत्व हेतु से जो कार्यत्व का अभाव दिखाया गया है, वह केवल व्यतिरेक के बल पर या अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों के बल पर?

पहला कल्प सम्भव नहीं है। जिस हेतु का सपक्ष नहीं होता है वही केवल व्यतिरेकी हेतु कहा जाता है। प्रकृत अनुमान में कार्यत्व के अभाव रूप साध्य का निश्चित अधिकरण गगन ही होता है। इसलिए पृथिवी आदि पक्ष में कार्यत्व के अभाव रूप साध्य की सिद्धि में शरीराजन्यत्व हेतु का उपपादन किया गया है, जो केवल व्यतिरेक के बल पर सम्भव नहीं है। दूसरा कल्प भी सम्भव नहीं है? क्योंकि अन्वय व्याप्ति की सिद्धि सम्भव नहीं है। पहले भी कहा जा चुका है। कि उसमें शरीर विशेषण व्यर्थ हो जाता है और व्यर्थविशेषण से युक्त हेतु को व्याप्यत्त्वासिद्ध कहते हैं। जिस हेतु में अन्वय व्याप्ति नहीं घटती है उसमें व्यतिरेक भी नहीं घटता है। उपर्युक्त शरीराजन्यत्व हेतु वाला अनुमान को अन्वयी भी नहीं कहा जा सकता है। पृथिवी आदि में अकार्यत्व है या कार्यत्व-इसका जबतक निर्णय नहीं हुआ है तब तक अकार्यत्व का भी निश्चय नहीं है। अतएव पक्ष में शरीराजन्यत्वरूप हेतु का अस्तित्व सन्दिग्ध है जो उसमें स्वरूपासिद्ध को उपपन्न करता है। दूसरी बात यह है कि कार्यकारणभाव सिद्धान्त के आधार पर नैयायिकों ने पृथिवी आदि में कार्यत्व सिद्ध कर दिया है, अतएव पक्ष में शरीराजन्यत्वरूप हेतु का अभाव रहने से स्वरूपासिद्ध दोष निश्चित ही है। इसलिए, अन्वय के नहीं घटने से उक्त स्थल में व्यतिरेक भी नहीं घटता है और इस स्थिति में अन्वय तथा व्यतिरेक के बल पर क्षिति आदि पक्ष में शरीराजन्यत्व हेतु से अकार्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

इसमें पुनः पूर्वपक्ष होता कि पृथिवी आदि पक्ष में अकार्यत्व सिद्धि के लिए प्रयुक्त शरीराजन्यत्व हेतु में शरीर पद के समावेश से व्यर्थ विशेषण दोष उपस्थित होता है, जो हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभाव से सम्बद्ध करता है। अतएव अनुमान के स्वरूप में भेद करके इस तरह निम्न रीति से पृथिवी आदि में अकर्तृत्व सिद्ध किया जाता है। पृथिवी आदि अकर्तृक है, क्योंकि वह कर्तृव्यापक से रहित है। पृथिवी आदि में वह वस्तु नहीं है जो कर्त्ता का व्यापक होता है। जिसका अभाव जिसके अभाव में अन्वय तथा व्यतिरेक से सिद्ध होता है, वह उसका व्यापक होता है। प्रकृत में कर्त्ता के अभाव के शरीर में अभाव अन्वय एवं व्यतिरेक से सिद्ध होता है, अतएव कर्त्ता का व्यापक शरीर होता है। पृथिवी आदि उससे रहित है, अतएव उसमें अकर्तृकत्व सिद्ध होता है। इसके उत्तर में **उदयन** ने कहा है कि व्यापक का ऊर्ध्व प्रतिपादित लक्षण सङ्गत नहीं है। वही उसका व्यापक होता है, जिसके अभाव में जिसका अभाव साध्य होकर अन्वयविधि से पक्ष में तथा व्यतिरेक विधि से व्यतिरेकी दृष्टान्त में प्राप्त है। जैसे

धूम का अभाव रूप साध्य वह्न्यभाव रूप हेतु के सन्दिग्ध अधिकरण पक्ष में अन्वय विधि से तथा व्यतिरेकी दृष्टान्त महानस में व्यतिरेक विधि से प्राप्त है। अतएव धूमाभाव व्यापक होता है और बह्न्याभाव व्याप्य।[१]

कुलाल तथा मिट्टी आदि जितने वस्तुओं से घट बनता है उन वस्तुओं में घट की कारणता मानी जा सकती है। एवम् जितने वस्तुओं से पट बनता है उन वस्तुओं को पट का कारण कहा जाता है। इसी तरह विशेष रूप से कार्यविशेष के साथ कारण विशेष का कार्यकारणभाव मान लेने पर व्यवहार का निर्वाह होगा ही, पुनः सामान्यतः कार्यत्व तथा कारणत्व में व्याप्ति मानकर कार्यकारणभाव सिद्धान्त को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? इस पूर्वपक्ष के विरोध में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि कार्यविशेष के साथ कारणविशेष का कार्यकारणभाव सामान्यतः कार्यत्व तथा कारणत्व की व्याप्ति में बाधक या प्रतिबन्धक नहीं होता है। अन्यथा अनुमान मात्र का उच्छेद रूप आपत्ति हो जाएगी। उदाहरण के लिए धूम से आग का अनुमान सर्ववादि सम्मत है। अब प्रश्न यह है कि धूमसामान्य वह्निसामान्य के अनुमान में जिस समय हेतु होगा उसी समय में धूमगत कटुता, नीलिमा तथा सौरभ आदि विशेष उसको हेतु नहीं होने देगा। क्योंकि विशेष सामान्य का बाधक होता है–यही पूर्वपक्षियों को इष्ट है। किन्तु अनुमान का उच्छेद रूप आपत्ति को देखकर फलित होता है कि विशेष से सामान्य का बाध नहीं किया जा सकता है। प्रकृत में पट आदि कार्यविशेष तथा कुविन्द आदि कारणविशेष का कार्यकारणभाव सामान्यतः कार्यत्व तथा कारणत्व की व्याप्ति का बाधक नहीं हो सकता है। अतएव उक्त पूर्वपक्ष निर्मूल सिद्ध होता है। दूसरी बात यह है कि सामान्य में व्याप्ति नहीं मानने से प्रवृत्ति का उच्छेद हो जाएगा। क्योंकि जिस धूम को देखकर व्यक्ति मशक निवृत्ति के लिए बह्नि में प्रवृत्त होता है, उस धूम तथा वह्नि का लाना सम्भव नहीं है, और सामान्य में कार्यकारणभाव नहीं मानने से अपर धूम तथा वह्नि का प्रत्यक्ष नहीं हुआ है। अतएव उसको लाने में प्रवृत्ति कैसे होगी? तृतीय विषय यह है कि सामान्य तथा विशेष पद सापेक्ष है। किसी की अपेक्षा जो वस्तु सामान्य है वही अन्य की अपेक्षा विशेष भी हो सकता है। उदाहरणार्थ धूम को लिया जा सकता है। धूम द्रव्य की अपेक्षा विशेष है तथा स्वगत सौरभ, कटुत्व तथा नीलिमा आदि की अपेक्षा सामान्य है एवं धूम का सौरभ भी अपने स्वभाव की अपेक्षा सामान्य है तथा धूम की अपेक्षा विशेष है। इस तरह यदि विशेष से सामान्य का निषेध होता चला जाए तो अनवस्था हो जाएगी।

सौरभ आदि विशेष को छोड़कर भी केवल धूम की व्यापकता आग में देखी जाती है। किन्तु कार्य में विशेष को छोड़कर केवल कार्य की व्यापकता कर्त्ता में नहीं

---

१. स एव तस्य व्यापको यस्याभावे साध्ये दृष्टान्ते अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पक्षे उपसंहर्तुं शक्यते। यथा बह्नेरभावो धूमाभावे। न्या०कु० ५/२। की प्रकाश व्याख्या।

देखी जाती है। इसलिए दोनों में विलक्षणता है, जो परस्पर भेद सिद्ध करता है। अब कार्यविशेष से ही सर्वत्र व्यवहार का निर्वाह हो जाएगा? कर्त्ता सामान्य की व्याप्ति कार्य सामान्य में मानने की क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर देते हुए **उदयन** ने कहा है कि प्रतिबन्धक के अभाव में विशेषकारण के साथ विशेषकार्य की व्याप्ति सामान्यतः कार्य एवं कारण की व्यापित का खण्डन नहीं करती है। लौकिक व्यवहार भी कार्यत्व सामान्य के साथ कारणत्वसामान्य को व्याप्ति सिद्ध करता है। उदाहरण के लिए बीज तथा अंकुर को लिया जा सकता है।सामान्यतः बीज बोए जाने से अंकुर का जन्म होना प्रसिद्ध है किन्तु यहाँ विशेष व्याप्ति यह है कि धान के बीज से धान का ही अंकुर होता है।एवं यव के बीज से यवका ही अंकुर उगता है, जो परस्पर अविरुद्ध है। पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता है कि अशरीरी कर्त्ता दृष्टान्त में उपलब्ध नहीं है। अतः मान्य नहीं होगा। बहुत पदार्थ ऐसे हैं जो दृश्य नहीं है किन्तु उभयवादियों को मान्य है। जैसे द्व्यणुक कार्य है–यह वादी तथा प्रतिवादी को मान्य है, किन्तु उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। किसी वस्तु के चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए उद्भूत रूप तथा महत्व अपेक्षित है। द्व्यणुक में इन दोनों में से एक भी नहीं है। इसलिए उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है एवं इसी हेतु उसके कारणरूप दो परमाणुओं का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। जैसे द्व्यणुक आदि अनुमान के द्वारा पक्षधर्मता के बल पर अपना अस्तित्व लाभ करता है। इसी तरह ईश्वर भी अनुमान से पक्षधर्मता के बल पर अशरीरी तथा कर्त्ता होकर अपना अस्तित्व लाभ करेगा।

पृथिवी तथा पर्वत पक्ष में कार्यत्व हेतु से सकर्तृकत्व की सिद्धि में पूर्वपक्षी का कहना है कि अन्वय तथा व्यतिरेक से हेतु को स्थिर किया जाता है। किन्तु उपर्युक्त अनुमान में व्यतिरेक का सन्देह है, अतः उस हेतु से अनुमान नहीं किया जा सकता है। वह अनुमान असद्धेतु रूप दोष से युक्त होगा। इसके उत्तर मे **आचार्य उदयन** ने कहा है कि ऐसी स्थिति में कार्य से कारण के अनुमान का उच्छेद हो जाएगा। कार्य मात्र को यदि कारणजन्य नहीं माना जाय तो कार्य आकस्मिक होने लगेगा। पुनः कार्य से कारण का अनुमान होगा ही कैसे? क्योंकि उसमें कार्यकारणभावरूप अनुकूल तर्क नहीं मिलेगा, कार्यकारणभाव सिद्धान्त ही तो उस स्थिति में उच्छिन्न है।

कार्यत्व हेतु से ईश्वर की सिद्धि में पूर्वपक्षी बौद्ध दार्शनिक पहले अनुमान का विरोध दिखाकर उसमें विफल होकर अब तर्कविरोध उपस्थित करते हैं। जैसे ईश्वर यदि कर्त्ता होता तो वह शरीरधारी होता। शरीरी नहीं है, अतएव कर्त्ता भी नहीं होगा। घट तथा पट आदि प्रसिद्ध कार्यरूप दृष्टान्त का कर्त्ता कुम्भकार एवं जुलाहा आदि शरीरी ही देखा जाता है एवं क्षिति आदि यदि सकर्तृक होता तो शरीरजन्य अवश्य होता। यदि बुद्धिमान् से निर्मित होता तो अनित्य प्रयत्न से जन्य होता। यदि नित्य प्रयत्न से जन्य होता तो बुद्धि एवं इच्छा जन्य नहीं होता इत्यादि प्रतिकूल तर्क यद्यपि ईश्वरसिद्धि के

विरोध में पूर्वपक्षियों ने प्रस्तुत किया है। किन्तु इसके उत्तर में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि ईश्वरसिद्धि के विरोध में प्रदर्शित उपर्युक्त तर्क वस्तुतः तर्क नहीं है, अपि तु तर्काभास है. अतएव वह दोषाधायक नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि कार्यत्व हेतु से ईश्वर की सिद्धि रूप नैयायिक के पक्ष में कार्यकारणभाव ही अनुकूल तर्क है।[१] क्योंकि कर्त्ता भी कारण होता है। अतएव कर्त्ता के अभाव में क्षिति आदि कार्य की उत्पत्ति ही रुक जायगी। परमाणु आदि अचेतन पदार्थों की क्रिया चेतन के व्यापार का ही फल होता है। चेतन के व्यापार के बिना अचेतन में क्रिया ही नहीं होगी और क्रिया के अभाव में कार्य का होना सम्भव नहीं है। अपि च, कार्य को जैसे कारणान्तर की अपेक्षा होती है इसी तरह कर्त्ता का अपेक्षा भी आवश्यक है।[२] यहाँ **आचार्य उदयन** ने स्वपक्ष की रक्षा के लिए द्विधा प्रयास किया है–पूर्वपक्षी के तर्क को असंगत प्रमाणित किया है तथा अपने पक्ष में अनुकूल तर्क का प्रदर्शन किया है।

साधारणः अनुकूल तर्क दो प्रकार के होते हैं–विषय का पारिशोधक तथा व्याप्ति का ग्राहक। तत्त्व के निर्णय में विषय परिशोधक तर्क अपेक्षित है और अनुमान में व्याप्ति का ग्राहक तर्क आवश्यक होता है। व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के ज्ञान से अनुमान का प्रामाण्य सिद्ध होता है और व्याप्ति के ज्ञान के लिए तर्क अपेक्षित है। अतएव परम्परया व्याप्तिग्राहक तर्क अनुमान में उपयोगी होता है। इस तर्क से हेतु में साध्य के व्यभिचार का सन्देह निराकृत होता है। जैसे धूम से वह्नि के अनुमानस्थल में धूम वह्नि का व्यभिचारी है या नहीं? अर्थात् आग से शून्य स्थान में भी वह रहता है या नहीं इस तरह संशय होने पर तर्क होता है कि धूम यदि आग का व्यभिचारी होता तो आग से ही उसकी उत्पत्ति नहीं होती। आग के बिना भी उसकी उत्पत्ति होती। किन्तु ऐसा नहीं होता है। धूम आग से जन्य होने के कारण आग का व्यभिचारी नहीं होता है। अतएव उक्त व्यभिचार का सन्देह निराकृत होता है, जो उस तर्क का फल है। इसी तरह प्रकृत में क्षिति आदि सकर्तृक है, कार्य होने से–इस अनुमान में कार्यकारणभाव अनुकूल तर्क होता है। अर्थात् उक्त स्थल में अनुमान में कार्यकारणभाव व्याप्ति का ग्राहक होता है। अतएव नैयायिक का अनुमान सबल सिद्ध होता है। अनुकूल तर्क पद से व्याप्ति का ग्राहक रूप तर्क ही **आचार्य उदयन** का विवक्षित है।

---

१. तर्काभासतयाऽन्येषां तर्काशुद्धिरदूषणम् ।
अनुकूलस्तु तर्कोऽत्र कार्यलोपो विभूषणम् ।। न्या०कु० ५।२।

२. कारकव्यापारविगमे हि कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः। चेतनाचेतनव्यापार-योर्हेतुफलभावावधारणात्। कारणान्तराभाव इव कर्तृत्वाभावे कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः। कर्तुरपि कारणत्वात्। न्या०कु०५/३ की व्याख्या।

आचार्य धर्मकीर्ति ने-**सिद्धं यादृगधिष्ठातृ**' इत्यादि कारिका के द्वारा दृश्य कार्य तथा दृश्य कारण में ही अन्वय तथा व्यतिरेक के बल पर कार्यकारणभाव को माना है। पूर्वपक्ष रूप में इसी मत का विवरण देते हुए **आचार्य उदयन** कहते हैं कि अदृश्य वस्तु में कार्यकारणभाव मानने से वह्नि के व्याप्य धूम से अदृश्य उदर्य वह्नि का एवं वृक्ष में कम्पन वायु का व्याप्य होता है, उससे निश्चल वायु का-यथार्थ अनुमान रूप आपत्ति हो जाएगी। यदि च दृश्य वस्तु में कार्यकारणभाव माना जाता है तो उक्त आपत्ति से मुक्ति मिलती है तथा उपर्युक्त स्थलों में काष्ठ से उत्पन्न दृश्य आग का एवं स्पृश्य वायु का अनुमान यथार्थ होता है। इसी तरह यह प्रमाणित होता है कि शरीरी में ही कर्तृत्व की सिद्धि होती है अन्यत्र नहीं[१] इसके उत्तर में कहना यह है कि कृतिविशेष एवं कार्यविशेष में अन्वय तथा व्यतिरेक के दर्शन से कृति सामान्य के साथ कार्यसामान्य की व्याप्ति का ज्ञान होता है।[२] यदि इसमें कोई बाधक नहीं है। जैसे पाकशाला के वह्नि के साथ महानसीय धूम में अन्वय तथा व्यतिरेक देखा जाता है, जो वह्निसामान्य के साथ धूमसामान्य की व्याप्ति का ज्ञान करा देता है। इसमें किसी बाधक का प्रवेश नहीं है। अन्यथा अनुमान मात्र का उच्छेद हो जाएगा। प्रकृत में घट तथा कुम्भकार में अन्वय तथा व्यतिरेक का दर्शन ही ईश्वर तथा क्षिति आदि में व्याप्ति का ज्ञान करा देगा। किसी बाधक का प्रवेश यहाँ नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यदि केवल दृश्य वस्तु में कार्यकारणभाव माना जाए तो पाक के प्रति आलोकवान् वह्नि की एवं घट निर्माण के लिए भ्रममाण चक्र में दृष्ट कम्प के प्रति रूपवान दण्ड की कारणता प्रत्यक्षतः उपलब्ध है। अतएव भोजन के परिपाक रूप अदृश्य कार्य से उदर्य वह्नि की तथा आकाश में तृण आदि के कम्प से अप्रत्यक्ष वायु की कारण रूप में सिद्धि नहीं होगी।[३] यहाँ यदि कहा जाए कि दृश्य एवं अदृश्य साधारण में कार्यकारणभाव मानने पर भी धूम से औदर्य वह्नि की तथा कम्प से निश्चल वायु की सिद्धि रूप उपर्युक्त आपत्ति से मुक्ति नहीं है। तो इसका यह उत्तर है कि यह तब सम्भव था यदि शरीर के बिना जैसे क्षिति आदि कार्य की उत्पत्ति होती है इसी तरह

---

१. यस्त्वाह-प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तदुत्पत्तिनिश्चयो दृश्ययोरेव, नत्वदृश्ययोः। प्रत्यक्षानुपलम्भस्य तावन्मात्रविधिनिषेधसमर्थत्वात्, धूमाग्निवत्, कम्पमारुतवच्च। नहि धूमः कार्योऽनलस्येति उदर्यस्यापि, नहि शाखाकम्पो मातरिश्वन इति स्तिमितस्यापि कारणत्वमवगन्तुमुचितम् नान्यस्येति। न्या० कु० ५/३ की व्याख्या।

२. तदसत् प्रत्यक्षानुपलम्भौ हि दृश्यविषयावुपायस्तदुत्पत्तिनिश्चये। न तु दृश्यतैव तत्रोपेया। न्या० कु० ५/३ की व्याख्या।

३. नचेदेवमुदाहृतयोरेव दहनपवनयोरालोकरूपवतोस्तुदुत्पत्तिनिश्चये कथमनालोकनिरस्तरूपयोः सिद्धिः यदुदर्यस्तिमितिसाधारणी सिद्धिः स्यादिति।।

न्या०कु० ५/३ की व्याख्या।

आर्द्र इन्धन के बिना भी आग की उपलब्धि होती एवं स्पृश्य वायु के बिना भी वृक्ष में कम्प उपलब्ध होता। किन्तु ऐसा होता नहीं है।[1] इसलिए कार्यकारणभाव में दृश्यविशेषण नहीं हो सकता है तथा कृतिविशेष और कार्यविशेष में अन्वय तथा व्यतिरेक का दर्शन उसके सामान्य में किसी बाधक के अभाव में व्याप्ति का ज्ञान करा देता है। प्रकृत में घट तथा कुम्भकार रूप विशेष में अन्वय तथा व्यतिरेक का दर्शन क्षिति आदि के साथ ईश्वरात्मक कर्त्ता की व्याप्ति को सिद्ध कर देता है।

पुनः पूर्वपक्ष होता है कि तुष्यतु दुर्जन न्याय से ईश्वर को संसार के कर्त्ता रूप में मानने पर भी इष्ट की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि ईश्वर नित्य तथा विभु पदार्थ है. वह सर्वदा विद्यमान ही रहेगा। अतएव कारण की उपस्थिति में कार्य का यौगपद्य रूप दोष होता है। यदि कहा जाए कि अदृष्ट की सहकारिता पाकर ही वह सृष्टि का विधान करता है। अतएव सर्वदा प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी तो पुनः दोष उपस्थित होता है कि तब ईश्वर की स्वरूपहानि हो जाएगी। ऐश्वर्य पाकर ही ईश्वर ईश्वर है। यदि उसे भी अन्य की अपेक्षा हो तो पुनः वह ईश्वर क्या रहा।[2] इसका उत्तर यह है कि[3] इस तरह अदृष्ट सापेक्ष ईश्वर को अन्यथा सिद्ध कर देने से कहीं भी कारणता सिद्ध नहीं होगी। घट के प्रति दण्ड कारण होता है किन्तु उसे कारण होने में चक्र की अपेक्षा होती है। अब दण्ड अन्यथा सिद्ध हो जाएगा और तब स्थिर पदार्थ सहकारी के समवधान होने से किसी कार्य के प्रति कारण नहीं हो सकेगा। जिससे संसार का अकारण होना रूप आपत्ति हो जाएगा। बौद्ध यदि कहे कि क्षिति क्या है ? अकारण ही संसार है, तो यह सम्भव ही नहीं है। अन्यथा कार्य का कादाचित्कत्व रूप स्वभाव नष्ट हो जाएगा। यह नित्य होने लगेगा और नियम है कि वस्तु स्वभाव से भिन्न नहीं होता है। अतएव कार्य का नित्य होना रूप आपत्ति होगी।

यदि प्रश्न हो कि ईश्वर की सिद्धि उपनिषद् आदि से ही हो जाती है। जैसा कि **आचार्य उदयन ने स्वयं** 'इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा प्रतिपादित किया है। पुनः उसमें अनुमान का प्रदर्शन तथा तर्क का उपस्थापन निरर्थक है। इसके उत्तर में **आचार्य उदयन** ने वचन उद्धृत किया है।[4] धर्म का उपदेश

---

१. तद्भवेदप्येवं यदि शरीरादिकं विना कार्यमिव भौमं स्पर्शवद्वेगवन्तं च विनाऽग्निमात्रात्।पवनमात्राद्वा धूमकम्पौ स्यातां नत्वेवम्। न्या० कु०५/३की व्याख्या।

२. ननु तस्य सर्वदा सर्वत्राविशेषे कार्यस्य सर्वदोत्पत्तिप्रसंग इति निरपेक्षेश्वरपक्षे दोषः। सापेक्षे उपेक्षणीय एवास्त्विति। न्या०कु० ५।३ की व्याख्या।

३. तन्न। स्थेमभाजो जगत एवाकारणत्वप्रसंगात्। ओमिति ब्रुवतः सौगतस्य दत्तमुत्तरं प्राक्। न्या० कु० ५।३ की व्याख्या।

४. आर्षधर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतरः।।- मनुसंहिता १२।१०६

ऋषि आदि के द्वारा किये जाने पर भी वेद तथा शास्त्र के अविरोधी तर्क से वह पुष्ट किया जाता है और तब वह उपदेश यथार्थ में धर्म होता है। इसी हेतु **आचार्य उदयन** ने कुसुमाञ्जलि के प्रारम्भ में ही कहा है कि ईश्वर का मनन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है, जो अनुमान तथा तर्क से होता है[1] और ईश्वर का मनन वेद विहित है। **श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः** इत्यादि श्रुति ही इसमें प्रमाण है।

आचार्य उदयन ने ईश्वर की सिद्धि में अनुमान प्रमाण पहले दिखाकर पश्चात् आगम से उसको पुष्ट करने का प्रयास किया है। न्याय वैशेषिक परम्परा की यह प्रवृत्ति बहुत प्राचीनकाल से आ रही है। अतएव **उद्योतकर** तथा **वाचस्पति** प्रभृति ने भी मुख्यतया ईश्वर के कर्तृत्व स्थापन में अनुमानावलम्बी होकर पश्चात् आगम से अपनी युक्ति को पुष्ट करने की प्रवृत्ति दिखायी है।

अभिप्राय यह है कि सृष्टि के कर्त्ता रूप में ईश्वर की स्थापना विभिन्न दार्शनिकों ने की है। किन्तु न्यायवैशेषिक मान्यता के साथ मौलिक भेद यह हो जाता है कि अपर दार्शनिक जैसे माध्व सम्प्रदाय नैयायिक की तरह प्राणिकर्मसापेक्ष ईश्वर को संसार का कर्त्ता मानते हैं। किन्तु इसे मुख्यतया वह आगम प्रमाण पर आधारित करते हैं और अनुमान को उसका पोषक मानते है। इनका वक्तव्य है कि अनीश्वरवादी यदि अपने समर्थ अनुमान से विरोध करे तब ईश्वर साधक अनुमान सबल नहीं रह सकता है। अतएव अनुमान से उसकी निर्विवाद स्थापना नहीं की जा सकती है। किन्तु न्याय परम्परा यहाँ अनुमान प्रमाण को मुख्य रूप से मान्यता देती है और पोषक रूप में आगम का प्रदर्शन करती है।[2] इसी हेतु **उदयन** ने भी पहले ईश्वर साधक अनुमानों को प्रस्तुत किया है और अपने पक्ष में प्रबल तर्को का प्रदर्शन किया है, जिससे विरोधी तर्क तथा अनुमान खण्डित हो जाते हैं। पश्चात् आगम से ही इसका पुष्टीकरण हुआ है। इसी हेतु **उदयन** ने कहा है कि इसको आगम भी पुष्ट करता है तथा प्रतिपक्षी के विचार का खण्डन करता है। **आचार्य उदयन** ने यहाँ उपनिषद्वाक्य का उद्धरण दिया है-

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सम्बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावा भूमी जनयत् देव एकः ।।[3]

---

१. न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता।। न्या०कु० १।२ की व्याख्या।

२. तमिममर्थमागमः संवदति विसंवदति तु परेषां विचारम् । न्या०कु० ५।३।

३. अत्र प्रथमेन सर्वज्ञत्वं, चक्षुषा दृष्टेरूपलक्षणात् । द्वितीयेन सर्ववक्तृत्वम् मुखेन वागुपलक्षणात्। तृतीयेन सर्वसहकारित्वम् । बाहुना सहकारित्वोपलक्षणात्। चतुर्थेन व्यापकत्त्वम् पदा व्याप्तेरूपलक्षणात् । पञ्चमेन धर्माधर्म-

यहाँ चक्षुष् पद दृष्टि का उपलक्षण है और दृष्टि से यहाँ ज्ञान विवक्षित है। अतएव उक्त वाक्य के प्रथम खण्ड से ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध होती है। मुख पद वाक् इन्द्रिय का उपलक्षण है। अतः ईश्वर की वेदवक्तृता सिद्ध होती है। बाहु प्रत्येक कार्य का सहायक होता है। अतएव प्रत्येक विषय में ईश्वर की सहकारिता बाहुपद से सिद्ध होती है। धर्म तथा अधर्म लोकयात्रा का निर्वाहक होता है। अतएव उसे भी बाहु पद से कहा जा सकता है। परमाणु गतिशील होता है। अतएव-**'पतन्ति गच्छन्ति इति पतत्राणि'** इस व्युत्पति से वह परमाणु का वाचक सिद्ध होता है।

जिसके अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की सिद्धि न्यायदर्शन का सिद्धान्त है। शास्त्रकारों ने चौदह भुवनों का प्रतिपादन किया है। इनमें ऊर्ध्वलोक में सात भुवन है तथा अधोलोक में सात भुवन है। उन्हीं भुवनों की चर्चा यहाँ द्यावाभूमी पद से की गयी है। द्यावा से उर्ध्वलोक तथा भूमी से अधोलोक का ग्रहण होता है। ईश्वरात्मक देव में एकत्व का प्रतिपादन प्रमाणित करता है कि यह सृष्टि प्रक्रिया अनादि है तथा ईश्वर भी आदिमान् नहीं है। स्मृति भी इसका अनुवाद करती है। भगवान् श्रीकृष्ण[१] ने कहा है कि मैं ही सबों का कारण हूँ,मेरे ही द्वारा सबों की प्रवृत्ति होती है। यहाँ अहं पद ईश्वर का बोधक है। इसी तरह ब्रह्म के प्रतिपादक आगम भी ईश्वर के जगत् कर्तृकत्व का समर्थन करता है। क्योंकि ब्रह्म आदि अधिकारी पुरुष है, सबों का प्रयोजक कर्त्ता ईश्वर ही होता है।

लक्षणप्रधानकारणत्वम् , तौ हि लोकयात्रावहनाद्बाहू। षष्ठेन परमाणुरूपप्रधानाधिष्ठेयत्वम्, ते हि गतिशीलत्वात् पतत्रव्यपदेशाः पतन्तीति। द्यावा इति ऊर्ध्वसप्तलोकोपलक्षणम् भूमीत्यधस्तात्। एक इत्यनादितेति।। न्या० कु० ५।३ की व्याख्या।

१. स्मृतिरपि-अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। भगवद्गीता १०।८।।

अनुच्छेद (२)

अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की सिद्धि

न्यायवार्त्तिककार **उद्योतकर** आदि प्राचीन नैयायिकों ने जीव के अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर का प्रतिपादन किया है। धर्म एवं अधर्म रूप अदृष्ट क्रमशः जीव के सुख एवं दुःख का कारण होता है। वह स्वयं अचेतन है, अतएव चेतन के अधिष्ठान की अपेक्षा उसे होती है। पहले ही कहा जा चुका है कि चेतन के अधिष्ठान के बिना अचेतन पदार्थ में क्रिया नहीं होती है। प्रकृत में अदृष्ट का अधिष्ठाता रूप चेतन ईश्वर होता है। अतएव न्यायमत में ईश्वर की सिद्धि जैसे संसार के निमित्तकारण रूप में होती है इसी तरह अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में भी।

वह अदृष्ट कार्यकारणभाव सिद्धान्त पर आधारित है। अतएव पूर्वपक्षी चार्वाक पहले कारणता की सिद्धि में ही विघ्न उपस्थित करता है। जिससे **'छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा'** इस नियम के अनुसार अदृष्ट की असिद्धि स्वतः हो जाएगी और तब उसके अधिष्ठाता की अपेक्षा ही नहीं होगी। अतः अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की सिद्धि असम्भव होगी। किन्तु **आचार्य उदयन** ने पूर्वपक्षी के इस आशय को प्रश्रय नहीं दिया है। न इसे कार्यान्वित ही होने दिया है। 'सापेक्षत्वात्' आदि कारिका[१] में सापेक्षत्व एवं अनादित्व हेतु से पहले कारणता की सिद्धि की गई है, जिससे कार्यकारणभाव के विरोध में प्रतिपक्षी द्वारा प्रदर्शित युक्तियाँ खण्डित हो जाती है। पश्चात् इस कार्यकारणभाव पर आधारित अदृष्ट की सिद्धि के लिए अन्य दो हेतुओं का उपयोग किया गया है– सांसारिक कार्य में जो वैचित्र्य देखा जाता है उससे अदृष्ट की सिद्धि होती है। तथा लोगों को परलोक में विश्वास है, अतएव वह परलोक की प्राप्ति के लिए यागादिकर्म का अनुष्ठान रूप प्रयत्न करता है। उसका वह प्रयत्न निष्फल नहीं होता है। अदृष्टात्मक व्यापार उक्त प्रयत्न को सफल करता है। अतएव अदृष्ट की सिद्धि होती है। प्रतीत होता है कि उपर्युक्त कारिका में उपपादित वैचित्र्य तथा विश्ववृत्ति हेतु से **आचार्य उदयन** का यही विवक्षित है।

प्रकृत में अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की सिद्धि रूप न्यायमत की प्रतिरक्षा के लिए पहले अदृष्ट सिद्धि का प्रकार संक्षेप में उपस्थित किया जाता है। संसार में सब

---

१. सापेक्षत्वादनादित्वाद्वैचित्र्यात् विश्ववृत्तितः।

प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः। न्या० कु० १।४।

तरह के लोग दीखते है। किसी को सुख की अनुभूति होती है तो किसी को अत्यधिक वेदना हो रही है। कोई छप्पन प्रकार का भोग लगा रहा है, तो किसी को तीन दिनों से रोटी नहीं मिली है। किसी की दुराचार में प्रवृत्ति है, तो अपर सदाचार से सन्तुष्ट है। इस सांसारिक वैषम्य का कारण अदृष्ट होता है। जिस आत्मा में समवायसम्बन्ध से धर्म रहता है उसमें समवायसंबन्ध से सुख उत्पन्न होता है। एवं जिस आत्मा में समवाय संबन्ध से अधर्म रहता है उसमें समवायसम्बन्ध से दुःख उत्पन्न होता है। अतएव सुख के प्रति धर्म और दुख के प्रति अधर्म कारण होते हैं। इस तरह सुख एवं दुःख रूप कार्य के कारण रूप में धर्म एवं अधर्म रूप अदृष्ट की सिद्धि होती है।

इसमें पूर्वपक्ष होता है कि दृष्ट कारण से ही प्रत्येक कार्य का उत्पादन सम्भव है पुनः अदृष्ट में कारणता की कल्पना निरर्थक है। लौकिक व्यवहार भी देखा जाता है कि जो व्यक्ति जिस कार्य को करना चाहता है, उस कार्य के प्रत्यक्ष कारणों से संग्रह में उसकी प्रवृत्ति होती है। सुखी एवं दुःखी का होना भी प्रत्यक्ष कारण से उपपन्न है। स्त्री, पुत्र तथा धनवैभव आदि लौकिक साधन जिसे प्राप्त है, वह सुख का अनुभव करता और जिसे वह प्राप्त नहीं है, वह दुःखी है। इसके लिए अदृष्ट को कारण मानने की आवश्यकता नहीं है।

इसके उत्तर में नैयायिक ने कहा है कि केवल दृष्ट कारणों से उपर्युक्त सांसारिक वैषम्य रूप वैचित्र्य उपपन्न नहीं होता है। एक ही परिवार में दृष्ट कारणों के समान रहने पर भी एक व्यक्ति सुखी रहता है तथा अपर रुग्ण तथा पीड़ित रहता है। अतएव उसे दुःख की अनुभूति होती है। इस स्थिति में पूर्वजन्मार्जित अदृष्ट को ही इस वैचित्र्य का कारण मानना समुचित होगा। फलतः शेषवत् अनुमान से वैचित्र्य रूप हेतु अदृष्ट को सिद्ध करता है।

दूसरी बात यह है कि दृष्ट ही कारण होता है–इस पक्ष के मान लेने पर भी प्रश्न उठता है कि यहाँ दृष्टपद से पूर्वपक्षी को क्या विवक्षित है? कारण को किसी से दृष्ट होना आवश्यक है या स्वदृष्ट होना आवश्यक है? यदि पूर्वकल्प माना जाए तो नैयायिक के साथ विवाद ही नहीं रहता है। अतएव इसमें नैयायिक को आपत्ति नहीं है, प्रत्युत मान्य है। धर्म तथा अधर्म (अदृष्ट) ईश्वर एवं तत्कल्प महर्षियों के प्रत्यक्ष का विषय होता ही है। ईश्वर आदि से दृष्ट रहने पर भी हमलोग उसका प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं। इसलिए योगरुढ़ अर्थ में धर्म एवं अधर्म का शास्त्रकारों ने अदृष्ट शब्द से व्यवहार किया है। यदि दूसरा कल्प माना जाए तो प्रत्यक्ष पदार्थ में भी कारणता की सिद्धि नहीं होगी। पुत्र अपने पिता को उत्पादक रूप में प्रत्यक्ष नहीं करता है। अपि तु माँ या किसी अन्य के उपदेश से पिता को पिता रूप में जानता है। अतएव कारण को स्वदृष्ट मानना सम्भव नहीं है।

अपि च प्रत्येक कार्य एक ही व्यक्ति के समक्ष में नहीं होता है। अब जिस कार्य का कारण प्रस्तुत है, किन्तु इससे कार्य होते किसी ने नहीं देखा है। उस व्यक्ति के लिए उक्त कार्य का प्रस्तुत कारण भी कारण नहीं होगा। किन्तु यह अनुभव विरुद्ध है। फलतः सांसारिक वैचित्र्य की उपपत्ति के लिए धर्म एवं अधर्म रूप अदृष्ट को कारण मानना ही होगा।

तीसरी बात यह है कि किसी कार्य के प्रति दृष्ट सभी कारण उपस्थित है तथा प्रतिबन्धक का अभाव है, किन्तु कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। जो उक्त कार्य के अधिकरण में कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में विद्यमान नहीं है। अतएव कार्य नहीं होता है। इससे प्रमाणित होता है कि प्रत्येक कार्य के प्रति उक्त रीत्या अदृष्टात्मक कारण की उपस्थिति सर्वथा अपेक्षित है। जैसे आग के रहने पर भी मन्त्र से यदि आग की दहन शक्ति का स्तम्भन कर दिया गया है या चन्द्रकान्तमणि का समवधान कर दिया गया है तो दाह नहीं होती है। यहाँ मीमांसक ने दाह के प्रति दाहानुकूल शक्ति से युक्त आग को कारण माना है और मन्त्र, चन्द्रकान्तमणि तथा औषधविशेष में दाह का प्रतिबन्धकत्व माना गया है। किन्तु नैयायिक ने दृष्ट कारण समान रहने पर भी किसी को पुत्र होता है किसी को कन्या होती है तथा किसी को कुछ नहीं होता है। अतः यहाँ अदृष्ट को कारण कहा है। एवं समान द्रव्य लेकर दो व्यक्ति व्यापार में प्रवृत्त हैं, एक व्यक्ति सफल होता देखा गया है और अपर व्यक्ति की विफलता देखी गई है। इसमें अदृष्ट ही कारण है। इसी तरह कार्य मात्र के प्रति अदृष्ट को कारण मानने पर इसके अभाव में कारण कूट की उपस्थिति सम्भव नहीं है। क्योंकि कूटघटक अदृष्ट रूप कारण विद्यमान नहीं है। अतएव अदृष्ट की कारणता का अपलाप नहीं किया जा सकता है।

यदि पूर्वपक्ष हो कि दृष्ट सभी कारणों के रहने पर भी कार्य का उत्पादन नहीं होता है तो ऐसी स्थिति में कारण में ही वैगुण्य की कल्पना करनी चाहिए। अदृष्टात्मक कारणान्तर की कल्पना में प्रमाण नहीं मिलता है, न उसका प्रयोजन ही है।

इसके उत्तर में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि तब जिस यज्ञ में सर्वस्व दक्षिणा विहित है, उसमें व्यक्ति की प्रवृत्ति नहीं होती हुई देखी जाती । किन्तु इतिहास साक्षी है कि इस पुण्यभूमि भारत में कितने ही व्यक्तियों द्वारा उस यज्ञ का सम्पादन हुआ है। **महाकवि कालिदास** ने स्पष्ट कहा है कि सम्राट रघु ने इस यज्ञ को किया था। अतएव **कौत्स मुनि** के जाने पर इन्होंने मिट्टी के पात्र में अर्घ्य देकर अतिथिसत्कार किया था एवं कुबेर के भण्डार से सुवर्ण मुद्रा लेकर उसकी याचना की पूर्ति की थी।[१] अब, विषय यह है कि यदि अदृष्ट में कारणता नहीं है तो यज्ञ इस जन्म में होता है और इसका फल अपर जन्म में दिव्यलोक में मिलने को है। जो मध्य में किसी व्यापार के नहीं मानने पर सम्भव नहीं है। उक्त व्यापार ही प्रकृत में अदृष्ट होता है।

---

१. रघुवंश ५।१२

अदृष्ट के नहीं मानने पर मीमांसा आदि कर्मबोधक शास्त्र की तथा वेदों की निरर्थकता हो जाएगी। अतः अदृष्ट को कारण मानना होगा। यदि कहा जाए कि दृष्ट फल के आगे अदृष्ट फल की कल्पना नहीं होती है। उक्त यज्ञ का दृष्ट फल ही सम्भव है। समाज में यश है प्रतिष्ठा बढ़ती है, यही क्या कम हुआ। अथवा कुछ विशेष लाभ होता होगा। अथवा दूसरों को प्रताड़ित किया जाता है। यह वस्तुतः वञ्चक का व्यापार है, तो इसका उत्तर यह है कि किसी की प्रताडणा के लिए ऐसा वञ्चक होना ही सम्भव नहीं है, जो अपना सर्वस्व दक्षिणा में गंवाकर बन्धु वर्ग को छोड़कर सांसारिक सुखों से विमुख हो जाएगा। ब्रह्मचर्य, तपस्या तथा श्रद्धा से जीवन यापन करता हुआ आत्मा को केवल अवसाद देता रहेगा। दृष्ट फल, यश, प्रतिष्ठा की प्राप्ति यदि उपायान्तर से सुविधा पूर्वक सम्भव है तो पुनः इसके लिए सर्वस्व का दान व्यक्ति क्यों करेगा।[१] अतः अनुमान होता है कि चिर विनष्ट याग आदि कर्म स्वजन्य अदृष्टात्मक व्यापार के द्वारा फल का जनक होता है। साक्षात्सम्बन्ध में फलोत्पत्ति के पूर्वक्षण में नहीं रहकर भी फल का जनक होता है। जैसे स्मृति के प्रति अनुभव संस्कार के द्वारा कारण होता है।[२] इस अनुमान से अदृष्ट की निर्विवाद रूप से सिद्धि होती है।

यदि पूर्वपक्ष हो कि जैसे एक ही दीप वर्त्ती में विकार उत्पन्न करता है, अन्धकार का नाश करता है तथा घट आदि को प्रकाशित करता है, इसी तरह एक ही ब्रह्म सांसारिक वैचित्र्यों का सम्पादन कर सकता है। इसके लिए अदृष्ट को कारण मानने की अवश्यकता नहीं है।[३] इसके उत्तर में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि ब्रह्म नित्य पदार्थ माना गया है। उसका अस्तित्व सर्वत्र सर्वदा रहेगा ही और कारण की उपस्थिति में प्रतिबन्धक नहीं रहने से कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। अतएव एक काल में एक देश में विभिन्न कार्यों का उत्पादन हो जाएगा, जो इष्ट नहीं है। क्योंकि कार्य का क्रमिक होना प्रत्यक्ष सिद्ध है।

---

१. विफला विश्ववृत्तिर्नो न दुःखैकफलापि वा।
दृष्टलाभफला नापि विप्रलम्भोऽपि नेदृशः।। न्या.कु.१/८ तथा इसकी व्याख्या। एव यः सर्वस्वदक्षिणया सर्वबन्धुपरित्यागेन सर्व-सुखविमुखो भूत्वा ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया वा केवलपरवञ्चनकुतूहली यावज्जीवमात्मानमवसादयति। न्या० कु० १/८ की उदयनकृत व्याख्या।

२. चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं बिना। न्या०कु० १/९।

३. तथाप्येकजातीयमेव किञ्चित्कारणमस्तु कृतं विचित्रेण। दृश्यते ह्यविलक्षण-मपि विलक्षणानेककार्यकारि। यथा प्रदीप एक एव तिमिरापहारी वर्तिविकारकारी रूपान्तरव्यवहारकारीति.......। न्या०कु० १/७ की भूमिका व्याख्या।

इस आपत्ति के निवारण के लिए पूर्वपक्षी यदि यह कहे कि शक्ति के सहकार से ब्रह्म वैचित्र्य सम्पादन करता है। एक काल में एक देश में विभिन्न कार्यों को करने की शक्ति ब्रह्म में नहीं रहती है। अतः उपर्युक्त दोष नहीं होता है तो इसके उत्तर में नैयायिक दो विकल्प उपस्थित करते हैं-क्या वह शक्ति ब्रह्म से भिन्न है? या अभिन्न है? यदि भिन्न है, तो वेदान्तदर्शन का सिद्धान्तभंग होता है। वेदान्तदर्शन अद्वैत की सिद्धि करता है। संसार के प्रति ब्रह्मरूप एक ही कारण उस दर्शन में प्रतिज्ञात है, जिसका व्याघात स्पष्ट ही है।

यदि अभिन्न है तो पुनः कार्य का यौगपद्य रूप उक्त आपत्ति से छुटकारा नहीं है। क्योंकि अब तो उक्त शक्ति से युक्त ही ब्रह्म सर्वत्र सर्वदा विद्यमान रहेगा।[१] अतः काम में क्रमिकत्व सिद्धि के लिए अदृष्टात्मक कारण को मानना ही होगा।

इस तरह अनुमान प्रमाण से सिद्ध इस अदृष्ट के विषय में आगम प्रमाण भी मिलता है। महाभारत में कहा गया है कि "**पौरुषं दैवसंपत्त्या काले फलति पार्थिव।**"

पुनश्च इसके सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक है कि धर्म तथा अधर्म रूप अदृष्ट कर्म से जन्य तथा सापेक्ष होता है। गंगालाभ से धर्म होता हैं, किन्तु गंगासागर स्नान से गंगास्नानजन्य धर्म की अपेक्षा अधिक धर्म होता है। कर्मनाशा जल के स्पर्श से धर्म नष्ट होता है। निन्दित आचरण से अधर्म होता है। इसमें भी सापेक्षत्व है। लशुन भक्षण से जितना अधर्म होगा, ब्राह्मण के वध से अपेक्षाकृत अधिक पाप होता है। इसका नाश अनुताप प्रायश्चित एवं तत्त्वज्ञान आदि से होता है। वस्तुतः भोग से ही इस अदृष्ट का नाश होता है।[२]

इस अदृष्ट का आश्रय जीव होता है। अतएव यह आत्मनिष्ठ माना गया है भोग्यनिष्ठ नहीं। यदि वह भोग्यनिष्ठ होता तो इसे धर्म करने से सुख का अनुभव होना

---

१. एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यञ्च समस्य न।
शक्तिभेदो न चाभिन्नः स्वभावो दुरतिक्रमः।। न्या०कु० १/७।

२. आचार्य उदयन ने १।१।२ न्यायसूत्र की परिशुद्धि में कहा है कि "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।" अर्थात् अदृष्ट में भोगनाश्यता ही है। इसमें अनुमान भी प्रमाण होता है-'विवाद से अध्यासित कर्म, भोग से ही क्षीण होते है, प्रायश्चित्त आदि से सर्वथा क्षीण नहीं होने से, आरब्ध शरीरकर्म की तरह।' "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा" यह यद्यपि अदृष्ट की भोगनाश्यता का विरोधी है। इसमें तत्त्वज्ञान रूप अग्नि द्वारा सभी कर्मों का नाश कहा गया है। स्वतः उससे अदृष्ट का भी नाश होगा। किन्तु दोनों आगम वाक्यों में समन्वय के लिए उदयन ने कहा है कि तत्त्व-ज्ञान होने पर भी योग के प्रभाव से अथवा भगवत्कृपा से कायव्यूह द्वारा फलों का भोग कराकर ही कर्म नष्ट होते हैं, अन्यथा नहीं। इसमें सौभरि तथा वासुदेव का दृष्टान्त भी इन्होंने प्रस्तुत किया है।

चाहिये एवं पापाचरण से दुःखी होना चाहिए- यह व्यवस्था नहीं हो पाती।[1] क्योंकि प्रत्येक मूर्त्त पदार्थ के संयोगसम्बन्ध का अनुयोगी आत्मा होता है। अतएव शरीर के साथ प्रत्येक आत्मा का संयोग हो सकता हैं। अदृष्ट यदि भोग्यवस्तु निष्ठ हो तो यह स्वाश्रयसंयुक्तसम्बन्ध से कारण होगा। अब, किसी अन्य पुरुष के कर्म से उत्पन्न अदृष्ट अपर पुरुष को फलभोग सम्पादित कर सकता है। देवदत्त ने यज्ञ किया, उससे अदृष्ट की उत्पत्ति हुई। इसका जो आश्रय होगा, उस आश्रय के साथ भवदत्त के आत्मा की भी सम्बन्ध हो सकता है। अतएव स्वाश्रय संयुक्तत्व सम्बन्ध से देवदत्त द्वारा कृत कर्म से उत्पन्न अदृष्ट भवदत्त को फल भोग करा सकता हैं किन्तु यह इष्ट नहीं हैं, अतएव अदृष्ट को जीवनिष्ठ माना जाता है। '**सापेक्षत्वात्**' इत्यादि कारिका में कथित भोग की प्रत्यात्मनियतता-प्रति व्यक्ति में पृथक् रूप से भोग की व्यवस्था-अदृष्ट के जीवनिष्ठ होने में हेतु होता है अतएव अनुमान का रूप यहाँ प्रदर्शित किया जाता है- अदृष्ट जीवनिष्ठ होता है, क्योंकि प्रति व्यक्ति में पृथक् रूप से भोग की व्यवस्था देखी जाती है। जैसे ज्ञान भिन्न भिन्न रूप से प्रत्येक आत्मा में उपलब्ध होता है।

पूर्वपक्षी मीमांसक ने अदृष्ट को भोग्यनिष्ठ सिद्ध करने के लिए निम्ननिर्दिष्ट युक्तियों का प्रदर्शन किया है-

१. यह सर्वानुमत है कि '**ब्रीहीन् प्रोक्षति, ब्रीहीन् अवहन्ति**' इत्यादि वैदिक विधियों के अनुष्ठान से अदृष्ट की उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रोक्षण क्रिया से उत्पन्न अदृष्ट का आश्रय ब्रीहि ही होता है। इसी से प्रोक्षित एवं अप्रोक्षित ब्रीहि में भेद होता हैं। प्रोक्षित ब्रीहि यज्ञ कर्म में उपादेय होता है और अप्रोक्षित नहीं। अतएव '**प्रोक्षिता एव ब्रीहयः अवधाताय कल्पन्ते**' इस वाक्यशेष के अनुसार प्रोक्षित ब्रीहियों का अवघात होता है।

२. अपि च '**ब्रीहिन् प्रोक्षति**' इस वाक्य में ब्रीहि कर्म होता है, अतएव अदृष्ट का आश्रय वही होगा। '**परसमवेतक्रियाजन्यफलाश्रयत्वम् कर्मत्वम्**' कर्म का यह लक्षण है। प्रकृत में परसमवेत क्रिया से प्रोक्षण लिया जाता है। उससे जन्य फल होगा अदृष्ट, जिसका आश्रय ब्रीहि होता है।

३. अपि च जो कर्म जिसमें फल की कामना से की जाती है उसी में फल जनक व्यापार को उत्पन्न करता है। प्रोक्षणक्रिया स्वर्ग रूप फल की प्राप्ति की कामना से की जाती है। अतएव ब्रीहि में ही फल जनक रूप अदृष्ट को उत्पन्न करती है।

४. अपि च माघ की जुताई से भूमि में उर्वरा शक्ति की वृद्धि होती है, कृषक में नहीं। औषध सेवन से रोगी स्वास्थ्य लाभ करता है वैद्य नहीं। इसी तरह अदृष्ट को भी भोग्यनिष्ठ ही होना चाहिये।

---

१. सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि। न्या०कु० १/९।

५. अपि च '**संस्कृतो ब्रीहिः**' इस प्रत्यय से प्रमाणित होता है कि अदृष्ट ब्रीहि निष्ठ ही होता है आत्मनिष्ठ नहीं।

६. अपि च प्रलय काल में ब्रीहि एवं यव आदि सभी वस्तुओं का नाश हो जाता है, उस सबों का केवल परमाणु शेष रहता है। उस परमाणुओं के ब्रीहि एवं यव आदि का जनक अदृष्ट मानना होगा, जिससे दुबारा सृष्टि होने पर उस परमाणुओं से ब्रीहि एवं यव आदि की उत्पत्ति सुलभ हो सके।[१]

इस प्रकार यद्यपि पूर्वपक्षी मीमांसक ने अदृष्ट को भोग्यनिष्ठ सिद्ध करने के लिए प्रयत्न किया है। तथापि नैयायिक द्वारा उपर्युक्त सभी हेतुओं के खण्डन हो जाने से उसका प्रयत्न विफल हो जाता हैं और अदृष्ट की आत्मनिष्ठता सिद्ध होती है। आचार्य **उदयन** ने यहाँ कहा है कि ब्रीहि आदि के प्रोक्षण एवं अभ्युक्षण आदि से उसके कर्त्ता में ही अदृष्ट उत्पन्न होता है, कर्म रूप ब्रीहि आदि में नहीं।[२] जैसे देवता विशेष को उद्देश करके आग में हवन किया गया हवि (घृत) कर्त्ता (पुरुष) के प्रति ही अदृष्ट को उत्पन्न करता है देवता या आग के प्रति[३] नहीं। दूसरी बात यह है कि उसे ब्रीहि निष्ठ मानने पर ब्रीहि के अनन्त होने से अनन्त अदृष्टों को मानना होगा-इसमें गौरव है। इसकी अपेक्षा आत्मा में एक अदृष्ट को स्वीकार करने में लाघव स्पष्ट ही है।

'**ब्रीहीन् प्रोक्षति**' इस वाक्य में कर्म विभक्ति के प्रयोग से भी अदृष्ट की भोग्य-निष्ठता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि परसमवेतक्रिया प्रोक्षण अवश्य है, किन्तु तज्जन्य फल अदृष्ट नहीं होता है, अपि तु जलसंयोग है। अतएव उक्त फल का आश्रय यदि ब्रीहि होता है तो इससे अदृष्ट की ब्रीहिनिष्ठता उत्पन्न नहीं होती है। लौकिक वाक्य से भी इसकी पुष्टि होती है-'**सक्तून् प्रोक्षति**' यह कोई वैदिक वाक्य नहीं है। अतएव इस स्थल में अदृष्ट नहीं माना जाता है। किन्तु जल संयोग रूप फल के आश्रय होने से सक्तु पद से कर्म विभक्ति होती है।

---

१. **तस्माद् भावभूतमतिशयं जनयन्त एव प्रोक्षणादयः कालान्तरभाविने फलाय कल्पन्ते भोगकृषिचिकित्सावदिति। अन्यथा कृष्यादयो दुर्घटाः प्रसज्येरन्।** बीजादीनामापरमाण्वन्तभंगात्। तेषु चावान्तरजातेरभावान्नियत-जातीयकार्यारम्भानुपपत्तेः। न्या० कु० १।११ की उदयन कृत व्याख्या।

२. **संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः।** न्या०कु० १।११।

३. **यथा हि देवताविशेषोद्देशेन हुताशने हविराहुतयः समन्त्राः प्रयुक्ताः पुरुष-मभिसंस्कुर्वते न वह्निनापि देवताः। तथा ब्रीह्यंद्युद्देशेन प्रयुज्यमानः प्रोक्षणादिः पुरुषमेव संस्कुरुते न तम्।** न्या०कु० १।११की उदयन कृत व्याख्या।

अपि च जो कर्म जिसमें फल की कामना से किया जाता है वह उसी में फलजनक व्यापार को उत्पन्न करता है यह नियम, व्यभिचरित है। शत्रुनिष्ठ वध आदि फल की कामना से किया गया श्येनयाग कर्त्ता में अदृष्ट को उत्पन्न करता है। नाना शत्रुओं में अनेक अदृष्टों को मानने की अपेक्षा कर्त्ता में एक अदृष्ट मानने में लाघव भी है। तथा '**शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरि**' शास्त्र में कहा गया फल अनुष्ठान करने वाले को मिलता है–इस वचन की रक्षा भी हो जाती है। अतः उक्त नियम के आधार पर अदृष्ट का भोग्यनिष्ठ होना असंगत प्रमाणित होता है।

कृषि तथा औषध के सेवन स्थल में नैयायिक कहता है कि उक्त स्थलों में क्रमशः भूमि का मृदुल होना एवं धातु का साम्य रूप दृष्ट द्वारा ही फल का जनक होता है। अतएव इन स्थलों में अदृष्ट की कल्पना निरर्थक है। जहाँ प्रत्यक्ष द्वारा नहीं रहता है, उसी स्थल में द्वार रूप में अदृष्ट की कल्पना समुचित है। द्वार का लक्षण है स्वयं जन्य होना तथा स्वजन्य का जनक होना। प्रकृत में भूमि का मृदु होना एवं धातु का साम्य क्रमशः माघ की जुताई एवं औषध सेवन से उत्पन्न होता है। तथा उक्त क्रिया जन्य उपज में वृद्धि का तथा स्वास्थ्य लाभ या रोग मुक्ति का जनक भी होता है। अतएव लक्षण का समन्वय होता है।

'**सस्कृतो ब्रीहिः**' इस प्रत्यय से भी अदृष्ट का भोग्यनिष्ठ होना सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि यह प्रतीति ब्रीहि के साथ अदृष्ट के स्वरूपसम्बन्ध होने से होती है। सम्बन्ध के दो प्रकार हैं– वृत्ति का (आधेयता का) नियामक एवं उसका अनियामक। संयोग तथा समवाय वृत्ति के नियामक सम्बन्ध माने गये हैं। अतिरिक्त सम्बन्ध वृत्ति के नियामक नहीं होते हैं। प्रकृत में समवायात्मक वृत्तिनियामकसम्बन्ध से भिन्न वृत्ति के अनियामक सम्बन्ध से अदृष्ट को ब्रीहिनिष्ठ होने से भी क्षति नहीं है। क्योंकि वृत्तिनियामकसम्बन्ध उसकी जीवनिष्ठ ही प्रमाणित करता है।

प्रलय काल में केवल परमाणुओं के शेष रहने पर यव तथा ब्रीहि आदि की पुनः सृष्टि कैसे होगी? उस समय में परस्पर भेदक का अभाव रहता है– इसके उत्तर में कहना यह है कि परमाणुओं के पाकज गुण रूप रस आदि ही ब्रीहि तथा यव आदि के परमाणुओं के परस्पर भेदक होते हैं।[१] इसी हेतु पाकज रूप तथा रस आदि गुणों से युक्त परमाणु ही ब्रीहि तथा यव आदि को पृथक् रूप में उत्पन्न करते हैं। जो ब्रीहि एवं यव के बीजों में अन्तर पाया जाता है वह उनके परमाणुओं के रूप तथा रस आदि पाकज गुणों में भी विद्यमान रहता है। अतएव उन परमाणुओं में पार्थिवत्व के समान रहते हुए भी उनसे ब्रीहि तथा यव आदि भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति होती है।

पुनश्च अदृष्ट को भोग्य निष्ठ सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षी कहता है कि पाकज गुण केवल पृथिवी में उपलब्ध होते हैं। अतएव वायु तथा जल आदि में, जहाँ पाकज गुण भेदक नहीं है, उद्भूत एवं अनुद्भुत स्पर्श कैसे होता है ? ओले में द्रवत्व का प्रतिरोध

---

१. स्वगुणाः परमाणूनां विशेषाः पाकजादयः। न्या०कु० १।११

कैसे होता है इसकी उपपत्ति के लिये वायु तथा जल के परमाणुओं में अदृष्ट विशेष मानना होगा, जो उपर्युक्त व्यवस्था का सम्पादन करेगा। अपि च मूर्ति में प्रतिष्ठा आदि करने की क्या उपयोगिता है ? उस प्रतिष्ठा से प्रतिमा में अदृष्ट मानना होगा, जो उसको पूज्य बनाता है तथा चाण्डाल आदि के स्पर्श से उस अदृष्ट के नाश हो जाने पर उस प्रतिमा की पूजा भी नहीं होती है। इन हेतुओं से सिद्ध होता है कि अदृष्ट भोग्यनिष्ठ ही होता है, आत्मनिष्ठ नहीं।

यहाँ प्रथम युक्ति के विरोध में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि जो व्यक्ति जिस वस्तु का उपभोग करता है उस उपभोग्य वस्तु की उत्पत्ति में उपभोक्ता का अदृष्ट कारण होता है। अतएव अदृष्टवान् आत्मविशेष के सम्बन्ध से ही उद्भूत स्पर्श आदि तथा करका में द्रवत्व का प्रतिरोध आदि उत्पन्न हो जाता है। वायु तथा जल के परमाणुओं में अदृष्ट मानने की आवश्यकता नहीं है।[१] एवं दूसरी युक्ति के विरोध में इन्होंने कहा है कि प्रतिष्ठा विधि से देवप्रतिमा में अदृष्ट उत्पन्न नहीं होता है। अपितु इस मूर्ति के अधिष्ठातृदेवता में प्रतिमाविषयक अहंकार या ममकार आदि उस प्रतिष्ठा विधि से उत्पन्न होते हैं। पुज्यत्व के लिए प्रतिमा में प्रतिष्ठा से किसी अदृष्ट का आधान नहीं होता है।[२] अतएव अदृष्ट को भोग्यनिष्ठ नहीं माना जा सकता है। फलतः अदृष्ट की आत्मनिष्ठता रूप नैयायिक की मान्यता ही समर्थित होती है।

प्राचीन काल में संन्दिग्ध अपराधों के निर्णय के लिए दिव्यपरीक्षा प्रचलित थीं। उन दिव्यपरीक्षाओं में ही एक तुलापरीक्षा की पद्धति भी रही है। इसमें मन्त्रादि द्वारा अभिमन्त्रित तुला पर अपराधी को बैठाया जाता था और तुला के झुकने या नहीं झुकने से अपराध का निश्यच किया जाता था। इसी तुलापरीक्षा का दृष्टान्त देकर पूर्वपक्षी अदृष्ट को भोग्यनिष्ठ प्रमाणित करने के लिए कहता है कि जैसे तुलापरीक्षा से तुला में अदृष्ट उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा उसमें झुकना एवं उठना क्रिया पायी जाती है। इसी तरह ब्रीहि में प्रोक्षण क्रिया की जाती है। अतः प्रोक्षण जन्य अदृष्ट का आश्रय ब्रीहि होगा व्यक्ति नहीं।

इसके प्रतिवाद में कहना है कि तुलापरीक्षा में अदृष्ट उत्पन्न नहीं होता है। अपि तु जिसकी परीक्षा होती है; उस पुरुष में समवायसम्बन्ध से रहने वाले जय और पराजय के निमित्त धर्म तथा अधर्म के सहकारी लाभ के लिए परीक्षाविधि स्वीकृत की गयी है। जो मैं इस परीक्षाविधि से तुला पर बैठा हूँ, वह मैं पापवान् हूँ अथवा निष्पाप हूँ–इस प्रकार का ज्ञान ही प्रकृत में सहकारी होता है अथवा परीक्ष्य व्यक्ति में परीक्षाविधि से अदृष्ट उत्पन्न होता है। अतः किसी भी तरह अदृष्ट

---

१. निमित्तभेदसंसर्गादुद्भवानुद्भवादयः।

२. देवताः सन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा।। न्या० कु० १।१२।

भोग्यनिष्ठ नहीं प्रमाणित होता है। अपि तु आत्मा ही उसका आश्रय होता है।[1] तुला परीक्षा आदि विधि के विषय में नैयायिक सम्प्रदाय देवचैतन्यवाद का समर्थन करते हुए अपना मत व्यक्त करते हैं कि परीक्षाविधि से धर्म तथा अधर्म के अधिष्ठात देवता का सन्निधान उस देश तथा उस काल में होता है, जहाँ यह परीक्षा की जाती है। और वही देवता धर्म तथा अधर्म के अनुकूल परीक्ष्य पुरुष को विजयी तथा पराजित प्रमाणित कर देते हैं।[2]

प्रश्न उठता है कि अदृष्ट में प्रतिनियतभोगजनकत्व तभी सम्भव है यदि वह आत्मजन्य हो। किन्तु उसका आत्मजन्यता सिद्ध नहीं होती हैं। कारणता का निश्चय अन्वय तथा व्यतिरेक से होता है। आत्मा के साथ अदृष्ट के अन्वय के घटने पर भी व्यतिरेक नहीं घटता है। क्योंकि आत्मा नित्य एवं विभुपदार्थ माना गया है। अतएव नित्य होने से किसी काल में तथा विभु होने से किसी देश में उसका अभाव नहीं हो सकता है और व्यतिरेक के नहीं घटने से कारणता का निश्चय नहीं हो सकता हैं। अतः अदृष्ट के प्रति आत्मा में कारणता सिद्ध नहीं होती है और इसकी असिद्धि ही अदृष्ट में प्रतिनियतभोगजनकत्व सिद्ध नहीं होने देगी। क्योंकि अब तो अदृष्ट की नित्यता ही मान्य होगी, जो प्रत्येक आत्मा के लिए समान ही होगा। अतएव एक आत्मा के किये गये पाप का फलभोग अपर आत्मा को होगा--जो आपत्ति मानी जाती है।

इसके उत्तर में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि केवल अन्वय तथा व्यतिरेक ही कारणता के ग्राहक नहीं होते हैं। अपितु धर्मिग्राहकमान भी कारणता का ग्राहक होता है।[3] अतएव अदृष्ट की आत्मजन्यता में व्यतिरेक के नहीं घटने से आत्मा में कारणता की असिद्धि नहीं होती है। क्योंकि इस स्थल में धर्मिग्राहकमान ही कारणता का ग्राहक है। आत्मा में यदि कारणता नहीं मानी जाए तो आत्मा रूप धर्मी अस्तित्व लाभ ही नहीं कर सकता है। क्योंकि वह किसी के प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अपि तु इच्छा आदि आत्मगुण के समवायिकारण रूप में अनुमान द्वारा उसकी सिद्धि होती है। फलतः धर्मिग्राहकमान ही आत्मा के कारणता का निश्चायक होता है। अतः अदृष्ट की आत्मजन्यता सिद्ध होती है। तथा भोग का प्रतिनियत होना उपपन्न होता है।

---

१. जयेतरनिमित्तस्य वृत्तिलाभाय केवलम् ।
परीक्ष्य समवेतस्य परीक्षाविधयो मताः।। न्या०कु० १।१३।

२. यद्यपि धर्माद्यभिमानिदेवतासन्निधिरत्रापि क्रियते। ताश्च कर्मविभवानुरूपं लिंगम् अभिव्यञ्जयन्तीत्यस्माकं सिद्धान्तः। न्या० कु० १।१३। की उदयन कृत व्याख्या।

३. पूर्वभावो हि हेतुत्वं मीयते येन केनचित् ।
व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधीरन्यथा नहि।। न्या०कु० । १।१९

यहाँ प्रसंगवश मीमांसक सम्मत अपूर्व पदार्थ से परिचय कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। आशुतर विनाशी–याग या यज्ञ जन्मातर लभ्य स्वर्ग की प्राप्ति कराने में द्वार के बिना समर्थ नहीं हो सकता है। अतएव द्वार रूप में अपूर्व माना जाता है। अपूर्व की कल्पना से याग में स्वर्ग प्राप्ति की कारणता का निषेध नहीं होता है। नियम है कि उपकारक से उपकारी अन्यथासिद्ध नहीं होता है। प्रत्युत याग में स्वर्गसाधनता के सम्पादन के लिए ही अपूर्व की कल्पना होती है। अतएव कारण कोटि में अपूर्व द्वार होता है और याग द्वारी। इससे सिद्ध होता है कि संस्कारविशेष अपूर्व पदार्थ है। यह भोग्यनिष्ठ तथा आत्मनिष्ठ होता है प्रोक्षण आदि कर्म से उत्पन्न अपूर्व ब्रीहि में रहता है। अतएव प्रोक्षित ब्रीहि अवघात में उपयोगी होता है। अप्रोक्षित ब्रीहि उपयोगी नहीं होता है। यही अपूर्व की भोग्यनिष्ठता है। यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति में द्वार रूप अपूर्व आत्मनिष्ठ होता है।

कुमारिलभट्ट का सम्प्रदाय अपूर्व का आश्रय केवल भोग्य वस्तु को ही मानता हैं। मीमांसाशास्त्र में पहले उसके चार भेद किये गये हैं–फलापूर्व, समुदायापूर्व, उत्पत्यपूर्व तथा अंगापूर्व। जो स्वर्ग का आरम्भक होता है, वह फलापूर्व है। अमावास्या में तीन याग किये गये और पौर्णमासी मे एक याग हुआ। दोनों मिलकर फलापूर्व का उत्पादन नहीं करता हैं, अपितु दोनों समुदायों से दो अपूर्व बनते हैं, जो समुदयापूर्व कहलाता है। इसी में प्रत्येक के आरम्भ के लिए प्रत्येक समुदाय गत तीन यागों के विभिन्न क्षणों में विद्यमान होने से तीनों का सन्धान करके अपूर्व की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतएव तीन यागों से तीन उत्पत्त्यपूर्वों की कल्पना होती है। इन अपूर्वों के विभिन्न क्षणों में विद्यमान होने से संघात सम्भव नहीं है। अतएव अंगोपकारक की कल्पना होती है, जो अंगापूर्व है। इसके अतिरिक्त एक परमापूर्व होता है। जो स्वर्ग की प्राप्ति में साक्षात् द्वार होता है और अंगापूर्व आदि इसमें भी उपकारक होते हैं। इस प्रकार अपूर्व के पाँच प्रकार सिद्ध होते हैं।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यद्यपि आपाततः नैयायिक के अदृष्ट तथा मीमांसक के अपूर्व में भेद लक्षित नहीं होता है। अतएव बहुत स्थलों में दोनों को परस्पर पर्याय जैसा भी व्यवहार किया गया है[1] तथापि दोनों में वस्तुतः भेद है। अदृष्ट का क्षेत्र व्यापक है और अपूर्व का क्षेत्र सीमित है। नैयायिक सम्प्रदाय कार्यमात्र के प्रति अदृष्ट को कारण मानता है। किन्तु अपूर्व में यह नहीं है। याग से दोनों की उत्पत्ति होती है, किन्तु अदृष्ट का उत्पादक वासना भी है। स्वप्न में भी वासना से अपूर्व उत्पन्न नहीं होता है। अदृष्ट का नाश प्रायश्चित आदि से तथा भोग से होता हैं। अपूर्व का नाशक केवल भोग होता है। अदृष्ट आत्मनिष्ठ ही होता है, किन्तु अपूर्व भोग्यनिष्ठ अवश्य होता है। कदाचित् आत्मनिष्ठ भी होता है। इस तरह अपूर्व से अदृष्ट में भेद सिद्ध होता है।

---

१. सारस्वती सुषमा में प्रकाशित मेरा ही निबन्ध अदृष्टवाद। सा०सु० २०१७ संवत् भाग तृ० च०का पृ० २९१

उपर्युक्त रीत्या अदृष्ट के सिद्ध हो जाने पर यहाँ उपसंहार में इतना ही कहना है कि इसी अदृष्ट के अधिष्ठाता (फलदाता) रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। अदृष्ट स्वतः अचेतन है, उसकी प्रवृत्ति चेतन के अधिष्ठान के बिना नहीं होती है। जैसे कुल्हारी चेतन के बिना छिदा कर्म में प्रवृत्त नहीं होती है। यह चेतन जीव नहीं हो सकता है। अतः ईश्वर की सिद्धि होती है।

अनुच्छेद ३
वेद के कर्त्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि

लौकिक वाक्य में देखा जाता है कि यदि वक्ता में असत्य कथन का अभ्यास है तो उसके वचन में किसी का विश्वास नहीं होता है। किन्तु यदि वह सत्यभाषी है तो उसका कथन सबों को मान्य होता है। इससे सिद्ध होता है कि साधारण जनता को वक्ता में यदि प्रामाण्य का ज्ञान है तो उसकी उक्ति का प्रामाण्य भी मान्य होता है। किन्तु उससे यदि प्रामाण्य का ज्ञान नहीं है तो उसके वचन में भी किसी की श्रद्धा नहीं होती है। इसलिए कहना होगा कि शब्द का प्रामाण्य तभी सम्भव है यदि उसका वक्ता प्रमाण हो और वक्ता वही प्रमाण होता है, जो वाक्यार्थ के यथार्थ ज्ञान से युक्त हो तथा राग आदि से भी अन्यथा कहने में असमर्थ हो। यही प्रमाणित करता है कि वचन का प्रामाण्य वक्ता के प्रामाण्य की अपेक्षा रखता है।

यज्ञ आदि वैदिक कर्मों में व्यक्ति की प्रवृत्ति तभी सम्भव है यदि वेद पर विश्वास हो और यह विश्वास उसके प्रामाण्य की अपेक्षा रखता है, और यह प्रामाण्य उसके वक्ता के प्रामाण्य पर निर्भर करता है। फलतः वेद में प्रामाण्य स्थापन के लिए उसके कर्त्ता रूप में परम आप्त ईश्वर को माना जाता है। यह ईश्वर वेद में प्रतिपादित सकल विषयों का ज्ञाता है। अतः वेद का यथार्थ ज्ञान उसी को है। अन्यथा यज्ञ आदि वैदिक कर्मों में किसी की प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है।

प्रकृत में, वेद के कर्त्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि में नैयायिक सम्प्रदाय प्रमुखतः अनुमान का आश्रय लेता है। अतएव अनुमान होता है कि वेद (पक्ष) पौरुषेय है– किसी पुरुष का प्रणीत है (साक्ष्य), वाक्य समूह होने से (हेतु), जैसे हम लोगों का वाक्य या महाकवि आदि के वाक्यसमूह रूप महाकाव्य आदि पौरूषेय होता है (उदाहरण)। वेद का प्रणेता या उपदेष्टा कोई मानव नहीं हो सकता हैं। किसी मानव को समस्त वेदों का यथार्थ ज्ञान सम्भव ही नहीं है और यथार्थ ज्ञान नहीं रहने से उसमें प्रामाण्य नहीं हो सकता है? अन्यथा उन्मंत्त तथा वञ्चक आदि के वाक्यों में भी प्रामाण्य की सिद्धि हो जाएगी और उसमें प्रामाण्य के अभाव में उसके उपदेश में श्रद्धा ही कैसे हो सकती है? दूसरी बात यह है कि मनुष्य में भ्रम तथा प्रमाद आदि मानव सुलभ गुण अवश्य रहते हैं। अतएव भ्रान्त मनुष्य का उपदेश भ्रम तथा प्रमाद आदि से बच नहीं सकने के कारण प्रमाण नहीं होगा। फलतः वेद का प्रणेता या उपदेष्टा ईश्वर

सिद्ध होता है, जिसमें भ्रम तथा प्रमाद आदि के लिए स्थान ही नहीं है। ईश्वर के प्रमाण होने से उसके उपदेश वेद में भी प्रामाण्य रह जाता है। इसी के आधार पर वैदिक कर्म, यज्ञ आदि के अनुष्ठान में मानव की प्रवृत्ति सफल सिद्ध होती है। और तीसरी बात पहले ही कही जा चुकी है कि सृष्टि के आदि में ईश्वर से अतिरिक्त किसी चेतन का अस्तित्व नहीं रहता है। उस समय में अन्य वक्ता सम्भव नहीं है। अतएव वेद के वक्ता, प्रणेता या उपदेष्टा रूप में ईश्वर को मानना ही होगा-नैयायिक का यही अपना सिद्धान्त हैं।

इस प्रसंग में पूर्वपक्षी मीमांसक का कहना है कि वेद की प्रामाण्यसिद्धि के लिए ईश्वर की कल्पना निरर्थक है। वेद नित्य पदार्थ है, वह किसी के वाक्यसमूह रूप नहीं है, अपि तु वह अपौरुषेय है। दूसरी बात यह है कि वह निर्दुष्ट है। उसमें लेश मात्र भी दोष नहीं है।[१] अतः उसे अप्रमाण्य के विषय में संशय भी नहीं होता है। नित्य एवं निर्दुष्ट पदार्थ स्वयं प्रमाण होता है। उसका प्रामाण्य किसी अपर के प्रामाण्य पर निर्भर नहीं रहता है।

इसके उत्तर में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि प्रमा का पारतन्त्र्य ही वेद को पौरुषेय सिद्ध करता है। तथा उसके कर्त्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि में कारण होता है।[२] प्रमा का पारतन्त्र्य दो तरह से होता है- (१) वह अपनी उत्पत्ति में परतन्त्र है तथा (२) उसका ज्ञान भी परतन्त्र है।

प्रमा अपनी उत्पत्ति में आत्मा तथा मनस् के संयोग आदि-ज्ञान के हेतु से- अतिरिक्त गुण रूप हेतु की अपेक्षा रखती है। क्योंकि वह कार्य है तथा ज्ञान विशेष रूप है[३] प्रमा यदि अपनी उत्पत्ति में केवल ज्ञान के हेतुओं की अपेक्षा करती तो अप्रमा भी प्रमा होने लगती। क्योंकि प्रमा तथा अप्रमा दोनों में कार्यत्व तथा ज्ञानत्व समान धर्म विद्यमान है। और अप्रमा के कारण से विलक्षण कारण प्रमा का उपलब्ध नहीं है। अब, अप्रमा क्यों नहीं प्रमा होगी। यदि अप्रमा के कारण को ज्ञान का कारण नहीं माना जाए तो अप्रमा ज्ञान ही नहीं होगी-यही आपत्ति होगी।

यदि कहा जाए कि अप्रमा के प्रति दोष की कारणता अन्वय तथा व्यतिरेक से सिद्ध है। अतएव प्रमा में केवल ज्ञानहेतुजन्यत्व मानने पर भी अप्रमा के साथ उसका तादात्म्य नहीं होगा। तो इसका प्रतिवन्दी उत्तर यह है कि प्रमा में भी केवल ज्ञान

---

१. ननु नित्यनिर्दोषवेदद्वारको धर्मसम्प्रदायः स्यात् किं परमेश्वरकल्पनयेति। न्या०कु० २।१ की भूमिका व्याख्या।

२. प्रमायाः परतन्त्रत्वात् -न्या० कु० २।१ का०।

३. प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वे सति तद्विशेषत्वात् अप्रमावत्। न्या०कु० २।१ की व्याख्या।

कारणजन्यत्व नहीं रहेगा अपि तु दोषाभाव ही अन्वय तथा व्यतिरेक से उसके प्रति अतिरिक्त कारण सिद्ध हो जाएगा और तब प्रमा की उत्पत्ति में ज्ञान के कारण से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा रूप नैयायिक की मान्यता प्रमाणित हो जाती है। यदि इसमें भी पुनः प्रश्न हो कि प्रमा के प्रति दोषाभाव के असाधारण कारण होने पर भी भावात्मक गुण में कारणता सिद्ध नहीं हुई, जिससे गुण के आधार रूप में ईश्वर की सिद्धि होती तो इसका उत्तर यह है कि यह तब सम्भव था यदि दोषाभाव भावात्मक नहीं होता, किन्तु यह भावात्मक होता है। क्योंकि संशय के प्रति सामान्यधर्म की उपस्थिति तथा विशेषधर्म की अनुपस्थिति कारण होता है। अतएव यह पुरुष है या स्थाणु--इस संशय में अन्धकार में दण्डायमान वस्तु रूप सामान्यधर्म के उपस्थित रहने पर भी करचरणादिमत्वरूप विशेषधर्म का दर्शन नहीं होता है। इसी तरह शुक्ति में चाकचिक्य रूप सामान्यधर्म के मिलने से रजत का विपर्ययात्मक ज्ञान होता है, किन्तु शुक्तिगत पृष्ठ भाग का मालिन्य रूप विशेषधर्म का दर्शन नहीं होता हैं। अतएव संशय तथा विपर्यय रूप अप्रमाज्ञान के प्रति विशेषधर्म का अदर्शन रूप दोष कारण होता है। अब, प्रमा के प्रति दोषाभाव को कारण मानना होगा, जो विशेष दर्शनात्मक होगा। अतएव प्रमा के प्रति दोषाभाव को कारण मानने पर भी उपर्युक्त रीति से उसके भावात्मक होने से प्रमा का गुणजन्यत्व रूप नैयायिक का सिद्धान्त समर्थित होता है।[१]

यदि च, प्रमा के प्रति भावात्मक हेतु को सिद्ध नहीं होने देना है इस लक्ष्य से विशेषधर्म के अदर्शन को उक्त अप्रमा ज्ञान के प्रति कारण नहीं माना जाए तो यह अनुभव विरुद्ध होगा। उक्त रीति से विशेषधर्म के अदर्शन रूप कारण से संशय तथा विपर्यय रूप ज्ञान की उत्पत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है। तथा विशेषदर्शन के होने पर भी अप्रमात्मक ज्ञान होना रूप आपत्ति होगी। अतः उसका अभाव अर्थात् विशेषधर्म के दर्शन से अभाव का अभाव वस्तुतः विशेषधर्मदर्शन रूप भावपदार्थ प्रमा के प्रति कारण सिद्ध होता है। अतएव प्रमा के प्रति ज्ञान के हेतु से अतिरिक्त भावात्मक हेतु सिद्ध होता है, जो गुण रूप है और गुण के आधार रूप में ईश्वर की सिद्धि रूप नैयायिक की मान्यता में विघ्न नहीं आ सकती है।

सामान्य प्रमा के गुणजन्य होने पर भी प्रत्यक्ष प्रमा के प्रति विशेष दर्शनाभाव

---

१. यदि च तावन्मात्राधीना भवेदप्रमापि प्रमैव भवेत् । अस्ति हि तत्र ज्ञान-हेतुः। अन्यथा ज्ञानमपि सा न स्यात् । ज्ञानत्वेऽप्यतिरिक्तदोषानुप्रवेशादप्रमेति चेत् एवं तर्हि दोषाभावमधिकमासाद्य प्रमापि जायेत नियमेन तदपेक्षणात् । अस्तु दोषाभावोऽधिको, भावस्तु नेष्यते इति चेत् ? भवेदप्येवं, यदि नियमेन दोषैर्भावरूपैरेव भवितव्यम् । न त्वेवम् । विशेषादर्शनादेरभावस्यापि दोषत्वात् कथमन्यथा ततः संशयविपर्ययौ। ततस्तदभावो भाव एवेति कथं स नेष्यते। न्या.कु. २।१ की व्याख्या।।

का अभाव-विशेष दर्शनरूप कारण होता है। किन्तु शाब्दी प्रमा के प्रति अभावात्मक दोषाभाव कारण होता है। क्योंकि यहाँ दोष भ्रम एवं विप्रलिप्सा आदि-भावात्मक है।[1] अतएव उसका प्रभाव अभावात्मक होगा। अब, प्रकृत में कहना यह है कि शाब्दी प्रमा के प्रति ज्ञान का हेतु शब्द होता है। इससे अतिरिक्त भावात्मक विशेष गुण नहीं।[2] अतएव शाब्दी प्रमा में गुणजन्यत्व मानकर वेद के प्रामाण्य के उपपादन के लिये उस गुण के आधार रूप ईश्वर की सिद्धि का प्रयास निरर्थक है। शाब्दी प्रमा की उत्पत्ति उक्त रीति से अन्यथा ही सम्भव है। उसमें गुणजन्यता सिद्ध ही नहीं होती है। इसके उत्तर में कहना है कि अनुमानस्थल में लिंग का भ्रम एवं विपर्यास आदि भावात्मक दोष के अभाव रहने पर भी प्रमात्मक अनुमिति नहीं होती है अपि तु इसके लिए सद्धेतु का परामर्श रूप गुण अपेक्षित हो जाता है। इसी तरह शाब्दी प्रमा में वक्ता का यथार्थ ज्ञान रूप गुण अवश्य अपेक्षित है। केवल भ्रम तथा विप्रलिप्सा आदि के अभाव से उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है।[3]

इसमें पुनः यदि प्रश्न हो कि[4] एक स्थल में प्रमाण के विषय में जो अपेक्षित है वही अपर स्थल में भी हो-ऐसा नियम नहीं है। अतएव प्रमात्मक अनुमति के प्रति गुण की कारणता है। इसके शाब्दी प्रभा में भी गुण की उपस्थिति अपेक्षित नहीं है इसके प्रति केवल दोषाभाव ही कारण होगा। इसका प्रतिवन्दी[5] उत्तर यह है कि ऐसी स्थिति में वक्ता का यथार्थज्ञानरूप गुण के अभाव में केवल शब्द से ही शाब्दी अप्रमा उत्पन्न होगी। वक्ता के अयथार्थज्ञान रूप दोष की अपेक्षा इसे नहीं रहेगी। किन्तु यह अनुभव विरुद्ध है। यदि कहा जाए कि अप्रमा के प्रति दोष की कारणता अन्वय एवं व्यतिरेक से सिद्ध है। अतएव उसका अपलाप असम्भव है।[6] तो नैयायिक के पक्ष में भी यही विषय

---

१. स्यादेतत्। शब्दे तावद्विप्रलिप्सादयो भावा एव दोषाः। ततस्तदभावे स्वत एव शाब्दी प्रमेति चेत् । न्या०कु० २/१ की व्याख्या।

२. शाब्दबोध के प्रति पद का ज्ञान, पदार्थ की उपस्थिति तथा आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति कारण होते हैं और अनेकार्थक पद में तात्पर्य का ज्ञान कारण होता है। इससे भिन्न भावात्मक विशेषगुण रूप कारण नहीं होता है।

३. न। अनुमानादौ लिंगविपर्यासादीनां भावानामपि दोषत्वे तदभावमात्रेण प्रमानुत्पत्तेः। न्या कु० २।१ की व्याख्या।

४. अन्यत्र यथा तथास्तु। शब्दे तु विप्रलिप्साद्यभावे वक्तृगुणापेक्षा नास्तीति चेत्। न्या०कु० २।१ की व्याख्या।

५. न। गुणनिवृत्याऽप्रामाण्यस्यापि संभवात्। तस्या अप्रामाण्यं प्रति सामर्थ्यं नोपलब्धम् । न्या०कु०२।१ की व्याख्या।

६. आत्मानमुपालभस्व। तस्मात् यथा द्वेषरागाभावाविनाभावेऽपि रागद्वेषयोरनु विधाननियमात् प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयत्नयो रागद्वेषकारणकत्वम् । न तु निवृत्ति प्रयत्नो द्वेषहेतुकः। प्रवृत्तिप्रयत्नस्तु सत्यपि रागानुविधाने द्वेषाभावहेतुक इति विभागो युज्यते, विशेषाभावात् तथा प्रकृतेऽपि। न्या .कु. २-१ की व्याख्या।

है। प्रमा के प्रति गुण की कारणता अन्वय एवं व्यतिरेक से सिद्ध है।[1] अतएव शाब्दी प्रमा के गुण का कारण होना प्रमाणित होता है। उस गुण के आश्रय रूप में उपर्युक्त रीति से ईश्वर सिद्ध होता है।

आचार्य उदयन ने पहले सामान्यतः प्रमा की उत्पत्ति को परतन्त्र प्रमाणित किया है। पश्चात् उसके विशेष शाब्दी प्रमा में परतन्त्रता का सयुक्तिक प्रदर्शन किया है। किन्तु अब शब्द में भी वेद रूप विशेष को परतन्त्र सिद्ध करने के लिए पहले मीमांसक के पूर्वपक्ष का विवरण देकर पश्चात् उत्तरपक्ष रूप अपनी उक्ति में युक्ति प्रस्तुत करते हैं।

पूर्वपक्षी का कहना है कि जहाँ वक्ता सम्भव है उस स्थल में वक्ता का यथार्थ ज्ञान रूप गुण शाब्दी प्रमा के प्रति कारण हो सकता है। किन्तु वेद के अपौरुषेय होने से उस स्थल में वक्ता की सम्भावना नहीं है। अब, किसका ज्ञान प्रकृत में गुण होगा? अतएव वेद के प्रामाण्य के प्रयोजक रूप में दोष निवृत्ति को ही मानना होगा।[2] अतः शाब्दी प्रमा का गुणजन्यत्व सिद्ध करके उस गुण के आश्रय रूप में ईश्वर की सिद्धि का प्रयास पुनः निष्फल सिद्ध होता है।

इसका उत्तर यह है कि इस स्थिति में वेद का अप्रामाण्य ही क्यों नहीं होगा? जैसे पूर्वपक्षी के मतानुसार दोष की निवृत्ति रहने से वेद प्रमाण होता है। इसी तरह उत्तरपक्षी के मत से गुण की निवृत्ति वेद में विद्यमान है, जो उसके अप्रामाण्य में हेतु होता है। यदि कहा जाए कि गुण की निवृत्ति में किसी को अप्रमाण करने का सामर्थ्य नहीं है। तो तुल्ययुक्ति से यह भी कहा जा सकता है कि दोषनिवृत्ति में प्रामाण्यसिद्धि के लिए ही सामर्थ्य कहाँ देखा गया है।[3]

यदि प्रश्न है। कि इस तरह प्रमा के गुणजन्य होने से तथा अप्रमा के दोषजन्य होने से भी वक्ता से रहित वेद में गुण अथवा दोष नहीं है। अतएव कारण के अभाव में न वह प्रमा ही होगा न अप्रमा ही।[4] तो इसके उत्तर में **आचार्य उदयन** ने पूर्वपक्षी

---

१. न। गुणाभावे तदप्रामाण्यस्य वक्तृदोषापेक्षा नास्तीति विपर्ययस्यापि सुवचत्वात्। न्या.कु.। २/१। की व्याख्या।

२. अप्रामाण्यं प्रति दोषाणामन्वयव्यतिरेकौ स्त इति चेत् । न्या. कु. २/१। की व्याख्या।

३. न। प्रामाण्यं प्रत्यपि गुणानां तयोः सत्त्वात् । न्या. कु. २/१ की व्याख्या।

४. पौरुषेयविषये इयमस्तु व्यवस्था। अपौरुषेये तु दोषनिवृत्त्यैव प्रामाण्यमिति चेत् । न्या. कु. २/१ की व्याख्या।

से कहा है कि वह उपालम्भ अपने आत्मा को ही देना चाहिये। अभिप्राय यह है कि- पूर्वपक्षी वेद को पौरुषेय नहीं मानता है और उसके अपौरुषेय होने से उसमें दोष या गुण नहीं रहता है। जिसके रहने से वह प्रमा या अप्रमा कुछ होता। उत्तरपक्ष में तो वह पौरुषेय माना गया है। अतएव यह आपत्ति नहीं होती है। वक्ता के गुण से उसमें प्रमा की उत्पत्ति सम्भव है। इसी विषय को दृष्टान्त के द्वारा अधिक स्पष्ट करने के लिए **उदयन** ने कहा है कि जैसे द्वेष तथा रागाभाव में स्वाभाविक सम्बन्ध रहने पर भी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के साथ राग तथा द्वेष का अन्वय और व्यतिरेक यथाक्रम परस्पर देखा जाता है। इसी से सिद्ध होता है कि राग प्रवृत्ति का कारण होता है, तथा द्वेष निवृत्ति का। किन्तु यह कथमपि सम्भव नहीं है कि द्वेष से निवृत्ति होती है। अतएव राग के साथ प्रवृत्ति के अन्वय तथा व्यतिरेक के समन्वित होने पर भी द्वेषाभाव ही प्रवृत्ति का कारण होगा। इसमें कुछ उपलब्ध नहीं है। इसी तरह प्रकृत में प्रामाण्य के सम्बन्ध में कहना यह है कि दोष तथा गुणाभाव में व्याप्ति रहने पर भी प्रामाण्य तथा गुण में और अप्रामाण्य तथा दोष में अन्वय तथा व्यतिरेक का परस्पर यथाक्रम समन्वय होता है, अतएव अप्रमा के प्रति दोष कारण होता है तथा प्रमा के प्रति गुण। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि अप्रमा यदि दोषजन्य है तो गुण के साथ प्रमा के अन्वय तथा व्यतिरेक के घटने पर भी उसमें दोषाभावजन्यता होगी। इसलिए उपसंहार में कहना है कि प्रमा की गुणजन्यता सिद्ध हुई। अतएव वेद में प्रामाण्य की सिद्धि के लिए उक्त गुण के आश्रय रूप में ईश्वर की सिद्धि रूप नैयायिक का प्रयास सफल हुआ ।

अब प्रमा की उत्पत्ति के परतन्त्र प्रमाणित हो जाने पर उसके ज्ञान को परतन्त्र सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ प्रस्तुत की जाती है। इससे पूर्वपक्षी मीमांसक का स्वतः प्रामाण्यवाद खण्डित हो जाता है तथा नैयायिक के परतः प्रामाण्यवाद सिद्धान्त का स्थापन होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि नैयायिक ज्ञान का प्रामाण्य परतः भी मानता है, परतः ही नहीं। अतएव स्वतः भी उसका प्रामाण्य होता है। स्वतः ही नहीं यही इसका मुख्य लक्ष्य है। जो यह समझते हैं कि नैयायिक किसी भी स्थिति में ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः नहीं मानते हैं-यह उनका भ्रम है। ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः भी है परतः भी । न स्वतः ही होता है, न परतः ही। किसी एक पर जोर नहीं है। और मीमांसक स्वतः ही ज्ञान का प्रामाण्य मानता है जो नैयायिक का खण्डनीय है। अतएव नैयायिक के पक्ष में ज्ञान ग्राहक ज्ञान के (अनुव्यवसाय के) स्वतः प्रमाण होने से मीमांसक सिद्धान्त का मानना रूप अपसिद्धान्त का प्रदर्शन तथा उसको परतः मानने पर अनवस्था दोष का उपस्थापन सर्वथा असंगत है।

ज्ञान का प्रामाण्य स्वरूप से ही ज्ञात होता है।[१] मीमांसक के इस मत के निराकरण में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि प्रामाण्य भी परतः ज्ञात होता है।

---

१. एवं प्रामाण्यं परतो ज्ञायते। न्या. कु. २/१ की व्याख्या।

अभिप्राय यह है कि पिपासु व्यक्ति बहुधा पिपासा के उपशम में जल का व्यवहार देखकर पुनः अभ्यासवश उसकी निवृत्ति के लिए जलाहरण में प्रवृत्त होता है। किन्तु जिस स्थल में इसका विपरीत है– व्यक्ति को अभ्यास नहीं हुआ है, उस स्थिति में ज्ञान से स्वरूपतः परिचय होने पर भी उसके प्रामाण्य के विषय में सन्देह होता है– यह ज्ञान प्रमाण है या नहीं । इस स्थिति में स्वरूप से ज्ञान में प्रामाण्य की स्थिरता नहीं होती है। अपितु व्यवहार उसका निर्णायक होता है। जैसे अप्रामाण्य का ज्ञान परतः होता है! अमुक व्यक्ति का वचन प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह मिथ्याभाषी है। यहाँ व्यक्ति का मिथ्याभाषी होना उसके वचन में अप्रामाण्य का निर्णायक होता है। अतः जैसे अप्रामाण्य का ज्ञान परतः ज्ञात होता है, इसी तरह प्रामाण्य भी परतः ज्ञात होता है। प्रामाण्य यदि स्वतः ज्ञात होता तो जैसे ज्ञान के स्वरूप के निश्चय होने पर–यह ज्ञान है या नहीं–यह संशय नहीं होता। इसी तरह– यह ज्ञान प्रमाण है या नहीं–यह संशय भी किसी स्थिति में नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रामाण्य का निश्चय ही रहता और नियम है कि निश्चित विषय में संशय नहीं होता है।[१]

यदि प्रश्न हो कि प्रामाण्य के निश्चय हो जाने पर भी प्रमाण तथा अप्रमाण रूप उभय के साधारणधर्म ज्ञानत्व के दर्शन से ज्ञान में पुनः प्रामाण्य का सन्देह हो सकता है। क्योंकि कारण की उपस्थिति में कार्य होता है। प्रकृत में उक्त संशयात्मक कार्य का कारण समान धर्म उपलब्ध है।[२] इसका उत्तर यह है कि एक कोटि के निश्चय रहने पर समान तथा असमान धर्म के दर्शन से संशय नहीं होता है। अन्यथा विशेषधर्म के उपलब्ध होने पर भी संशय के कारण रूप सामान्यधर्म की उपस्थिति में संशय होने लगेगा और इससे सर्वत्र प्रामाण्य का उच्छेद हो जाएगा।[३]

यदि कहा जाए कि प्रमा की तरह अप्रमा में भी प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है। किन्तु पश्चात् करणदोष तथा बाधज्ञान आदि से अप्रमा में स्वतो गृहीतप्रामाण्य का त्याग होता है। तब प्रमा में भी अप्रमा के वैलक्षण्य (नियामक विशेष) के नहीं देखने से यह ज्ञान प्रमा है या नहीं इस तरह का संशय होने लगेगा।[४] यहाँ उत्तर रूप में दो विकल्प उपस्थित किए जाते हैं– (१) क्या प्रमाणात्मक ज्ञान के उपलब्ध होने पर भी उसका प्रामाण्य उपलब्ध नहीं है–अतएव उक्त संशय होता है। या (२) प्रमाणात्मक

---

१. निश्चिते, तदनवकाशात् । न्या. कु. २/१ की व्याख्या ।

२. नहि साधकबाधकप्रमाणाभावमवधूय समानधर्मादिदर्शनादेवासौ । न्या. कु. २/१ की व्याख्या ।

३. तथा सति तदनुच्छेदप्रसंगः । न्या. कु. २/१ की व्याख्या ।

४. अथ प्रमाणवदप्रमाणेऽपि तत् प्रत्यदर्शनात् विशेषादर्शनात् भवति शंकेत्यभिप्रायः। न्या. कु. २/१ की व्याख्या ।

ज्ञान ही उपलब्ध नहीं है[1] इससे संदेह होता है। पहला कल्प सम्भव नहीं है। ज्ञान के होने पर भी उसका प्रामाण्य किसी तरह उपलब्ध नहीं है। अतएव उसका स्वतः प्रामाण्य भी सिद्ध नहीं होता है। दूसरा कल्प यदि माना जाए तो संशय के लिए स्थान ही नहीं है। क्योंकि धर्मी के उपलब्ध रहने पर उसमें धर्मविषयक सन्देह हो सकता है। प्रकृत में ज्ञान उपलब्ध ही नहीं है। अतएव ज्ञान में प्रामाण्य विषयक सन्देह होगा ही कैसे? आश्रय ही उपलब्ध नहीं है। और संशय के प्रति आश्रय का ज्ञान कारण होता है। फलतः उपर्युक्त विचारों से सिद्ध होता है कि वेद भी आप्त के उक्त होने से प्रमाण होता है और वह आप्त ईश्वर है। अतएव प्रमात्मक ज्ञान के परतन्त्र होने से ईश्वर की सिद्धि रूप नैयायिक का अभीष्ट उपपन्न होता है।

पूर्वपक्ष होता है कि प्रामाण्य के स्वतः ज्ञान के बिना शीघ्र तथा प्रचुर प्रवृत्ति सम्भव नहीं है–और शीघ्र तथा प्रचुर प्रवृत्ति देखी जाती है। अतएव प्रामाण्य का परतः ज्ञान नहीं हो सकता है। प्रामाण्य का परतः बोधक अनुमान शीघ्र तथा प्रचुर प्रवृत्ति रूप अर्थापत्ति से बाधित है।[2] इसके उत्तर में कहना यह है कि शीघ्र प्रचुर प्रवृत्ति प्रामाण्य के स्वतः ज्ञान के बिना भी उपपन्न होता है। अतएव उक्त अर्थापत्ति से प्रामाण्य के परतः बोधक अनुमान का बाध नहीं हो सकता है। जल पिपासा के उपशम का कारण है, जल होने से, पूर्वपीत जल की तरह–इस अनुमान से पिपासु को जल की इच्छा होती है। इस इच्छा से जल में प्रवृत्ति होती है। पुनः अनुमान होता है, पुनः इच्छा होती है, पुनः प्रवृत्ति होती है। इस तरह प्रवृत्ति में शीघ्रता तथा प्रचुरता उपपन्न हो जाती है।[3] इसमें प्रामाण्य के ज्ञान की भी अपेक्षा नहीं होती है, स्वतः प्रामाण्य की तो बात ही दूर रही।

यदि प्रश्न हो कि यहाँ भी अनुमान के हेतु का ज्ञान अपेक्षित है और इसके अनुसन्धान से इष्टसाधनता के ज्ञान में विलम्ब होगा। अतएव शीघ्र प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। शीघ्र प्रवृत्ति के लिए प्रामाण्य का स्वतः ज्ञान अपेक्षित है। इसका उत्तर यह

---

१. तत्किं प्रमाणज्ञानोपलम्भेऽपि न तत्प्रामाण्यमुपलब्धम् । प्रमाणज्ञानमेव वा नोपलब्धम्? आद्ये कथं स्वतः प्रामाण्यग्रहः । प्रत्ययप्रतीतावपि तदप्रतीतेः। द्वितीये कथं तत्र शंका, धर्मिण एवानुपलब्धेः। न्या. कु. २/१ । की व्याख्या ।

२.यद्यपि झटिति प्रचुरतरमर्थप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या स्वतः प्रामाण्यमुच्यते। न्या. कु. २/१ की व्याख्या ।

३. तदपि नास्ति। अन्यथैवोपपत्तेः। झटिति प्रवृत्तिर्हि झटितितत्कारणोपनिपात -मन्तरेणानुपपद्यमाना तमाक्षिपेत् । प्रचुरप्रवृत्तिरपि स्वकारणप्राचुर्यम् । इच्छा च प्रवृत्तेः कारणम् । तत्कारणमपीष्टाभ्युपायताज्ञानम् न्या. कु. २/१ की व्याख्या ।

है कि प्रकृत में हेतु का प्रत्यक्ष ही होता है।[1] अतएव उक्त दोष का लेश मात्र भी सम्भव नहीं है। अतः शीघ्र तथा प्रचुर प्रवृत्ति प्रामाण्य के प्राचुर्य से अथवा प्रामाण्य के ग्रहण के प्राचुर्य से उपपन्न होती है। जल में पिपासा की उपशमनशक्ति के प्रत्यक्ष के बिना पिपासु व्यक्ति की जल के लिए शीघ्र तथा प्रचुर प्रवृत्ति मीमांसक मत में भी सम्भव नहीं है।[2] किन्तु शक्ति मीमांसक मत में अतीन्द्रिय पदार्थ है। अतएव स्वतः प्रामाण्यवाद पक्ष में सिद्धान्त विरोध होगा।

प्रामाण्य के ज्ञान होने पर ही किसी वस्तु में व्यक्ति की प्रवृत्ति आदि की उपपत्ति हो सकती है। किन्तु यहाँ पूर्वपक्ष होता है कि प्रामाण्य का ज्ञान यदि स्वतः नहीं होगा तो अन्यथा नहीं हो सकता है। उसके परतः ज्ञान होने में अनवस्था होती है।[3] जो आपत्ति धारावाहिक रूप से चलती रहती है और जिसका अन्त नहीं सम्भव है वही अनवस्था[4] शब्द से व्यवहृत होती है। प्रकृत में अनवस्था दो तरह से सम्भव है।

(क) प्रमा के साधन को आधार मानकर तथा (ख) उसके फलज्ञान को लेकर। इसमें भी प्रथम के दो प्रकार हैं और द्वितीय का एक ही प्रकार है। क्रमशः इनको प्रस्तुत किया जाता है।

(क) -(१) समर्थ प्रवृत्ति से प्रामाण्य का अनुमान होता है और वह प्रवृत्ति प्रामाण्य के अवधारण से होता है। पुनः प्रामाण्य का अवधारण प्रवृत्यन्तर से होता है और वह प्रवृत्ति प्रामाण्य के अवधारण से होता है–इस तरह से अनवस्था का होना उसका प्रथम प्रकार है।

(२) प्रामाण्य की अनुमिति के लिए उसके जनक परामर्श में यदि प्रामाण्य का निश्चय है तो वह उस अनुमिति का हेतु हो सकता है। किन्तु उस परामर्श में प्रामाण्य के लिए पुनः अनुमिति अपेक्षित हो जाएगी। जिसका निश्चायक अपर परामर्श होगा। पुनः इस परामर्श के प्रामाण्य के लिए अनुमिति होगी। इसका निर्णायक परामर्श होगा–इस तरह से अनवस्था का होना उसका दूसरा प्रकार है।

(ख) किसी वस्तु में प्रामाण्य है या नहीं इसके निश्चय के लिए प्रामाण्य का

---

१. सोऽपीन्द्रियसन्निकर्षादिजन्मा । न तु प्रामाण्यग्रहस्य क्वचिदप्युपयोगः।... ततः समर्थप्रवृत्तिप्राचुर्यमपि प्रामाण्यप्राचुर्यात् तद्ग्रहणप्राचुर्याद्वा। न्या. कु. २/१ की व्याख्या।

२. नहि पिपासूनां झटिति प्रचुरा समर्था च प्रवृत्तिरम्भसीति पिपासोपशमनशक्तिस्तस्य प्रत्यक्षा स्यात् । न्या. कु. २/१ की व्याख्या।

३. स्यादेतत् । प्रामाण्यग्रहे सति सर्वमेतदुपपद्यते । स च स्वतो यदि न स्यात् न स्यादेव। परतः पक्षस्यानवस्थादुःस्थत्वात् इति चेत् । न्या. कु. २/१ । की व्याख्या ।

४. अनवस्था पुनरप्रामाणिकानन्तप्रवाहमूलप्रसंगः- तर्क जागदीशी ।

निश्चय अपेक्षित है। पुनः यह प्रामाण्य तभी उपयोगी होगा जब इसमें प्रामाण्य का निश्चय हो जाएगा । प्रकृत में फलमुख अनवस्था इस प्रकार से होती है।

इसके उत्तर में नैयायिक की मान्यता कहती है कि अनवस्था होने से प्रामाण्य का परतः ज्ञान नहीं होगा–यह नहीं कहा जा सकता है। इससे यह तो प्रमाणित नहीं होता कि उसका स्वतः ही ज्ञान होगा। प्रामाण्य के ज्ञान नहीं होने पर भी विषय का ज्ञान होता है। उसके सन्देहात्मक होने पर भी प्रवृत्ति देखी जाती है।[१] फलतः प्रामाण्य का स्वतस्त्व सिद्ध नहीं होता है। तथा उपर्युक्त अनवस्था का प्रथम प्रकार खण्डित हो जाता है। क्योंकि प्रामाण्य के अवधारण से ही प्रवृत्ति नहीं होती है। अपि तु उक्तरीत्या अन्यथा भी वह सम्भव है।

जैसे अर्थ के ग्रहण होने से उस विषय के ज्ञान में प्रामाण्य के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। इसी तरह प्रवर्तक ज्ञान के प्रामाण्य के ग्रहण होने पर उसके ग्राहक गुण संवादिज्ञान में प्रामाण्य ग्रह की अपेक्षा नहीं होती है। अतएव फलमुखी अनवस्था उपपन्न नहीं होती है। इसी के प्रतिपादन में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि अनवस्था नहीं होती है, क्योंकि प्रामाण्य का अवश्य ज्ञेय होना आवश्यक नहीं है। अतएव मान्य भी नहीं है। यदि उसका अवश्य ज्ञेय होना मान्य हो तो मीमांसक के स्वतः प्रामाण्यवाद पक्ष में भी अनवस्था हो जाएगी।[२] मीमांसक के मत में भी ज्ञान स्वयं प्रामाण्य का ग्रहण नहीं करता है। क्योंकि स्व का ग्रहण भी उस (स्व) से नहीं होता है। फलतः कहना होगा कि ज्ञान के ग्राहक ज्ञातता रूप फल की अनुपपत्ति रूप प्रमाण से प्रामाण्य का ग्रहण होता है। यहाँ भी अर्थापति के प्रामाण्य ज्ञान में अर्थान्तर से प्रामाण्य का ग्रहण करना होगा एवं इसके प्रामाण्य का ग्रहण भी अर्थान्तर से होगा–इस प्रकार प्रामाण्य के स्वतस्त्व पक्ष में भी अनवस्था उपपन्न होती है।

अपि च साधनमुखी अनवस्था के विषय में कहना है कि पूर्वोक्तरीत्या प्रामाण्य के अवश्य ज्ञेयत्व के अस्वीकार से ही उसका समाधान हो जाता है।अतः यह सिद्ध होता है कि ज्ञान के परतः ग्रह में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं होती है।

यह नहीं कहा जा सकता है कि वेद ध्वंस का प्रतियोगी है। अतएव उसकी नित्यता सम्भव नहीं है। वेद का प्रवाह कदापि उच्छिन्न नहीं होता है। शिष्य तथा अध्यापक की परम्परा उसके प्रवाह की रक्षा करती है। इसलिए वेद का नित्य होना सिद्ध होता है।[३] ईश्वर का वाक्य होना उसमें सन्दिग्ध है। अतः ईश्वर के वाक्य होने से

१. न। तदग्रहेऽप्यर्थसन्देहादपि सर्वस्योपपत्तेः। न्या. कु. २/१ की व्याख्या ।

२. न चानवस्थापि, प्रामाण्यस्यावश्यज्ञेयत्वानभ्युपगमात् । अन्यथा स्वतः पक्षेऽपि सा स्यात् । न्या. कु. २/१ की व्याख्या ।

३. परतन्त्रपुरुषपरम्पराधीनतया प्रवाहाविच्छेदमेव नित्यतां ब्रूम इति चेत् । न्या. कु. २/१ की व्याख्या ।

वेद नित्य है–यह बात नहीं मानी जाती है। अब, पूर्वपक्ष होता है कि प्रमा की उत्पत्तिगत एवं ज्ञानगत परतन्त्रता के सिद्ध होने पर भी वेद की ईश्वरकर्तृकता सिद्ध नहीं होती है। अतएव वेद का प्रामाण्य भी सन्दिग्ध है।

इसके उत्तर में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि सृष्टि एवं प्रलय होता रहता है।[1] अतएव वेद का प्रवाह उच्छिन्न हो जाता है और तब वेद के प्रवाह के अविच्छेद से उसका नित्य होना सम्भव नहीं है। अतएव ईश्वरकर्तृक होने से नित्य तथा प्रमाण होता है–नैयायिक का यह सिद्धान्त निर्दोष है।

यदि यहाँ पुनः पूर्वपक्ष हो कि प्रलय के बाधक हेतुओं की विद्यमानता प्रलय को सिद्ध नहीं होने देती है। अतएव प्रवाह का अविच्छेद रूप वेद की नित्यता हो सकती है। यथा–

(क) देखा जाता है कि दिन रात अव्यवहित दिन रात पूर्वक होती है। अतएव अनुमान होता है कि अहोरात्र अव्यवहित अहोरात्र पूर्वक होता है। अहोरात्र होने से आज की दिनरात की तरह, अन्यथा आज का अहोरात्र भी उपपन्न नहीं होगा। क्योंकि इसका नियामक उपलब्ध नहीं है।[2] प्रलय यदि माना जाए तो सर्ग के प्रथम अहोरात्र में अव्यवहित अहोरात्र पूर्वकत्व कदापि प्रमाणित नहीं होगा, प्रलय ही बीच में व्यवधायक है। अतएव सर्ग के प्रथम अहोरात्र में अव्यवहित प्रलय पूर्वकत्त्व रहता है। अव्यवहित अहोरात्र पूर्वकत्व नहीं, फलतः प्रलय नहीं सिद्ध होता है।

(ख) अपि च, प्रलय साधन के लिए सभी प्राणियों के अदृष्टों का एक काल में वृत्तिरोध अपेक्षित होगा, किन्तु वह असम्भव है। फलभोग से एक कर्म के नाश होने पर फलान्तर के उत्पादन के लिए अपर कर्म का अनुष्ठान होता ही रहता है। अतएव अनुमान होता है कि धर्माधर्म रूप अदृष्ट एक काल में सर्वथा निरुद्धवृत्तिक नहीं हो सकता है, समय में विषम विपाक के अस्तित्व से। यथा आधुनिक भुक्त भुज्यमान तथा भोक्ष्यमाण कर्म इस समय में अपनी सत्ता रखता है।[3]

(ग) अपि च, ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण होता देखा गया है। किन्तु प्रलय मानने पर इसकी उपपत्ति नहीं होती है। सृष्टि के आदि में जाति के व्यवस्थापक उत्पादकगत जाति विद्यमान नहीं है। अतएव बाद में भी जाति की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। सृष्टि के आदि में ब्राह्मण के नहीं मिलने पर बाद में भी ब्राह्मण का व्यवहार स्वतः लुप्त हो

---

१. एतदपि नास्ति । सर्गप्रलयसम्भवात्-न्या. कु. २/१ की व्याख्या ।

२. अहोरात्रस्य अहोरात्रपूर्वकत्वनियमात् । न्या. कु. २/१ की व्याख्या ।

३. कर्मणां विषमविपाकसमयतया युगपद्वृत्तिनिरोधानुपपत्ते :। न्या. कु. २/१ की व्याख्या।

जाएगा। अतएव अनुमान होता है कि ब्राह्मण के सन्तान से जन्म लाभ करता है, ब्राह्मणत्व रहने से, आज के ब्राह्मण की तरह।[1]

(घ) अपि च प्रलय यदि माना जाए तो सांसारिक व्यवहार के निर्वाह में प्रयुक्त उपयोगी शब्द अब अनुपयुक्त हो जाएगा। क्योंकि सृष्टि के आदि में प्रत्येक प्राणी अव्युत्पन्न रहता है। किसी उपदेशक के अभाव में वह कैसे शब्द के माध्यम से व्यवहार चला सकता है।[2]

(ङ) कला तथा विद्या में पटुता पूर्वदर्शन से होता है। किसी को वस्तु बनाते देखकर उसका निर्माण व्यक्ति सीख लेता है।[3] प्रलय यदि माना जाए तो सर्ग के आदि में किसी आदर्श के अभाव में पूर्वदर्शन असम्भव हो जाएगा और तब उत्तरकाल में भी किसी की विद्या तथा कला में पटुता नहीं होगी। यहाँ अनुमान होता है कि घट आदि का निर्माण तथा मूर्त्तवस्तु किसी आदर्श के ज्ञान से सम्भव है, निर्माण होने से। जैसे आजकल व्यक्ति किसी से उपदेश पाकर वस्तु के निर्माण में प्रवृत्त होता देखा जाता है। अतः प्रलय की सिद्धि कथमपि सम्भव नहीं है।

इन अनुमानों के विरोध में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि वर्षा आदि की तरह भव प्रथम अनुमान में उपाधि होता है। निद्रावस्था की तरह वृत्तिरोध सम्भव है, वृश्चिक आदि की तरह वर्णव्यवस्था की उपपत्ति होती है तथा ऐन्द्रजालिक की तरह कला आदि में निपुणता सम्भव है।[4] इससे प्रलय के बाधक अनुमानों की युक्तिहीनता प्रमाणित होती है। फलतः प्रलय की सिद्धि सम्भव है।

प्रकृत में प्रथम अनुमान में भव उपाधि होता है, जो हेतु को व्याप्तत्वासिद्ध दोष से युक्त करता है। उपाधि का अस्तित्व हेतु में व्याप्यत्वासिद्ध दोष उपस्थित करता है। उपाधि पदार्थ साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक होता है। जैसे धूम साध्यक वह्नि हेतुक अनुमान में आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि होता है। वह साध्य का व्यापक है। जहाँ जहाँ धूम रहता है इस स्थल में वह अवश्य रहेगा। क्योंकि आर्द्रेन्धन संयोग से ही धूम की उत्पत्ति होती है। और जहाँ जहाँ आग रहती है, सर्वत्र नियम से वह रहता ही नहीं है। अयोगोलक में आग रहती है, किन्तु आर्द्रेन्धन संयोग नहीं है।

---

१. वर्णादिव्यवस्थानुपपत्तेः। न्या. कु. २/१ की व्याख्या।
२. समयानुपलब्धौ शब्दव्यवहारविलोपप्रसंगात्। न्या. कु. २/१। की व्याख्या।
३. घटादिसम्प्रदायभंगप्रसंगाच्च। कथमेवमिति चेत्। न्या. कु. २/१ की व्याख्या।
४. उच्यते- वर्षादिवद्भवोपाधिर्वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत्।
उद्भिद्वृश्चिकवद्वर्णा मायावत् समयादयः।। न्या. कु. २/२ की व्याख्या।

अतएव वह हेतु का अव्यापक भी है। इसी तरह प्रकृत में सृष्टि के चलते रहने पर जहाँ अव्यवहित अहोरात्रपूर्वकत्व है उस स्थल में ब्रह्माण्ड की स्थिति रूप भव काल है। क्योंकि अव्यवहित अहोरात्रपूर्वकत्व ब्रह्माण्ड के स्थिति काल में सम्भव है और सर्ग के आदि में अहोरात्र में भव काल की सत्ता नहीं है तथा अहोरात्रत्व हेतु विद्यमान है। अतएव भव साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक सिद्ध होकर उपाधि होता है। ब्रह्माण्ड सावयव पदार्थ है। वह उत्पादविनाशशील अवश्य होगा, उसका सर्वदा अवस्थान सम्भव नहीं है। इसलिए सर्ग के आदि में अहोरात्र में उसका अस्तित्वाभाव सम्भव है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रलय के बाधक प्रथम अनुमान का हेतु सोपाधिक होने से व्याप्यत्वासिद्ध दोष से युक्त है। अतएव हेत्वाभास होने से पूर्वपक्षी का उक्त अनुमान नहीं हो सकता है। यहाँ **आचार्य उदयन** ने दृष्टान्त प्रस्तुत किया है कि जैसे **वर्षा** ऋतु के आदि दिन में गत दिन पूर्वकत्व को साध्य करने पर गत दिनत्व हेतु अप्रयोजक होता है। क्योंकि यहाँ राशि तथा नक्षत्र आदि विशेष के साथ सूर्य का सम्बन्ध रूप काल उपाधि होता है। इसी तरह प्रकृत में भव काल उपाधि होता है।[१]

प्रलय का बाधक दूसरा अनुमान भी संगत नहीं है। जैसे निद्रावस्था में प्रत्येक कर्म भोग से विमुख रहता है। इसी तरह प्रलय काल में अदृष्ट का वृतिरोध हो सकता है। निद्रा तथा मूर्च्छा से चेतन अचेतन की तरह हो जाता है और सुख आदि का अनुभव रूप भोग चेतन में सम्भव है। इसलिए उस अवस्था में प्रत्येक कर्म का भोग से विमुख रहना उपपन्न होता है। यदि पूछा जाए कि तब उस समय में शरीर की उपयोगिता ही क्या है तो कहना होगा कि निद्रा के बाद उत्तरकाल में भोग की उपपत्ति के लिए शरीर होता है। जैसे चक्षुष् आदि इन्द्रिय स्वप्नावस्था में यद्यपि कार्यक्षम नहीं रहती है किन्तु जागरण होने पर ज्ञानार्जन में उपयोगी होती है। अतः स्वप्नावस्था[२] में जैसे कर्म के निरोध से भोग का निरोध होता है, इसी तरह प्रलय में सभी प्राणियों के अदृष्ट का वृत्तिरोध हो सकता है।

---

१. अनन्तरपूर्वकत्वे अप्रयोजकत्वात्। वर्षादिदिनपूर्वकतद्दिन-नियमभंगवदुपपत्तेः।राश्यादिविशेषसंसर्गरूपकालोपाधिप्रयुक्तं हि तत् । तदभावे एव व्यावृत्तेः । तथेहापि सर्गानुवृत्तिनिमित्तब्रह्माण्ड-स्थितिरूपकालोपाधि-निबन्धनत्वात्तस्य तदभाव एव व्यावृतौ को दोषः। न च तदनुत्पन्नमनश्वरं वा अवयवित्वात् । न्या. कु. २/२ की व्याख्या ।

२. वृत्तिनिरोधस्यापि सुषुप्त्यवस्थावदुपपत्तेः। नहि अनियतविपाकसमयानि कर्माणीति तदानीं कृत्स्नान्येव भोगविमुखानि। न चेतयतः कश्चिद् भोगो नाम विरोधात् । कस्तर्हि तदानीं शरीरस्योपयोगः? तं प्रति न कश्चित् । तर्हि किमर्थमनुवर्तते ? उत्तरभोगार्थं चक्षुरादिवत्। न्या. कु. २/२ की व्याख्या।

प्रलय का बाधक तीसरा अनुमान भी युक्तिहीन है। देखा गया है कि वृश्चिक से वृश्चिक उत्पन्न होता है। किन्तु सबसे पहले गोमय से वह उत्पन्न हुआ था। आग से आग की उत्पत्ति होती है। किन्तु सर्वप्रथम काष्ठघर्षण से वह उत्पन्न हुआ था। इसी तरह मानव मानव से एवं ब्राह्मण ब्राह्मण से उत्पन्न होता है। किन्तु सर्वप्रथम इनकी उत्पत्ति अदृष्ट से हुई है। अतएव जाति भेद का कारण अदृष्ट होता है। उससे आत्मा का सम्बन्ध है और इस आत्मा से युक्त आरम्भक परमाणु का भेद ही ब्राह्मण आदि जाति का भेदक होता है। यह सर्वत्र अनुगत रहता है। विजातीय कारण रहने से भी ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति सम्भव है। अर्थात् कारण अपने से विजातीय कार्य की उत्पत्ति कर सकता है।[१]

यदि पूछा जाए कि अदृष्ट को वर्ण व्यवस्थापक मानने से उत्पाद्यगत जाति का प्रयोजक उत्पादकगत जाति होती है-इस नियम का भंग होता है तो इसके उत्तर में कहना है कि यह नियम केवल योनिज के लिए ही है। इस नियम का विरोध किसी को अभिप्रेत नहीं है। किन्तु अयोनिज में यह नियम नहीं माना जाता है। अतएव मानसी प्रजा में वर्ण का व्यवस्थापक अदृष्ट हो सकता है। सर्ग के आदि में मानस प्रजा ही उत्पन्न हुई, जो पश्चात् योनिज प्रजा को सृष्ट करती रही है। यदि पूछा जाए कि जैसे गोमय से वृश्चिक की उत्पत्ति आजकल देखी जाती है। इसी तरह मानस प्रजा की प्रथा क्यों नहीं है तो उत्तर में केवल कालविशेष को ही इसका नियामक कहना होगा। आज का काल ऐसा नहीं है कि मानस प्रजा की सृष्टि हो। सर्ग के आदि में वह काल रहता है, जिससे मानस प्रजा की उत्पत्ति होती है। यह नहीं कहा जा सकता है कि वर्षा में गोमय से शालूक उत्पन्न होता है। अतएव हेमन्त में भी उसकी उत्पत्ति क्यों नहीं होगी। इसी तरह उसे भी समझना चाहिए। इससे यही फलित हुआ कि सर्ग के आदि में अदृष्ट से उपनिबद्ध परमाणुगत भेद वर्णव्यवस्था का नियामक होता है और पश्चात् उत्पादक की जाति उत्पाद्यगत जाति का नियामक होता है। इसलिए प्रलय मानने पर भी जातिव्यवस्था का लोप कदापि नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी का उक्त तृतीय अनुमान सर्वथा युक्तिहीन ही है।[२]

---

१. वृश्चिकतण्डुलीयकादिवत् वर्णादिव्यवस्थाप्युपपद्यते। यथाहि वृश्चिकपूर्वकत्वे ऽपि वृश्चिकस्य गोमयादाद्यः वह्निपूर्वकत्वेऽपि वह्नेररणेराद्यः। तथा मानुषपशुगोब्राह्मणपूर्वकत्वेऽपि तेषां प्राथमिकास्तत्तत्कर्मोपनिबद्धभूतभेदहेतुका एव। स एव हेतुः सर्वथानुगत इति सर्वेषां तत्सान्तानिकानां समानजातीयत्वमिति। किमसंगतम्। गतं तर्हि गोपूर्वकोऽयं गोत्वादित्यादिना। न गतं योनिजेष्वेव व्यवस्थापनात्, मानसास्त्वथापीति। गोमयवृश्चिकादिवत् इदानीमपि किं न स्यादिति चेन्न कालविशेषनियतत्वात् कायविशेषाणाम्। न हि वर्षासु गोमयाच्छालूक इति हेमन्ते किं न स्यात्?

२. समयोऽप्येकेनैव मायाविनेव व्युद्यव्युत्पादकभावास्थितनानाकायाधिष्ठा-

प्रलय का बाधक चतुर्थ तथा पञ्चम हेतु भी इसी तरह युक्तिहीन है। जैसे कठपुतली के नाच में सूत्रधार कठपुतली से वस्तु लाने को कहता है तथा सूत्र को इस कौशल से हिलाता डुलाता है कि वह वस्तु ला देता है। उस समय में बालक कठपुतली को चेतन जैसा आचरण करते देखकर उसी तरह व्यवहार करना सीख लेता है। इसी तरह प्रलय मानने पर भी सर्ग के आदि में ईश्वर के व्यवहार से शाब्दिक व्यवहार उपपन्न होगा। उस पद से अमुक अर्थ को समझना चाहिये–ऐसी ईश्वरेच्छा ही शाब्दिक व्यवहार चलाती है। एवं सर्ग के आदि में कुलाल आदि का शरीर धारण करके ईश्वर घट आदि का निर्माण करता है। उस निर्माण को तथा निर्माता ईश्वर को देखकर कुलाल आदि अपने अपने कर्म में प्रवृत्त होते हैं तथा निपुणता लाभ करते हैं। इन विचारों से प्रमाणित होता है कि प्रलय की बाधक प्रत्येक अनुमान युक्तिहीन ही रहा। अतएव प्रलय की सिद्धि होती है।

सर्ग तथा प्रलय के सिद्ध होने पर ही उपर्युक्त विचार में प्रामाण्य आ सकता है। केवल प्रलय के बाधक हेतुओं के निरास से वह सम्भव नहीं है। अतएव पहले सर्ग के साधक अनुमान उपस्थित करके पश्चात् अनुमान के द्वारा ही प्रलय की सिद्धि की जाएगी।

प्रलय के बाधक प्रमाणों के निराकरण हो जाने पर आचार्य उदयन ने 'जन्मसंस्कार विद्यादेः' इत्यादि[१] कारिका के द्वारा प्रलय की सिद्धि में युक्तियाँ उपस्थित की है। अतएव साधक प्रमाण का सद्भाव तथा बाधक प्रमाण का अभाव प्रलय को सिद्ध करता है।

प्रलय के साधक उदयन ने कहा है कि जन्म, संस्कार तथा विद्या आदि का ह्रास के दर्शन से अनुमान होता है कि यह वेद आदि सम्प्रदाय एक दिन अवश्य ही अत्यन्त उच्छिन्न हो जाएगा। क्योंकि दिनानुदिन इसका ह्रास ही देखा जाता है। जैसे प्रतिपल क्षीण होने वाला प्रदोष एक समय अत्यन्त निर्वाण को प्राप्त करता है।

(क) पहले सृष्टि के आदि में मानस प्रजा की उत्पत्ति होती थी। पश्चात् केवल पुत्र प्राप्त के लिये किये गए मैथुन से प्रजा उत्पन्न होने लगी और आजकल कामवासना की तृप्ति के लिए सम्भोग होता है। अनुषंगतः यदि सन्तान की उत्पत्ति होती है तो

नाद् व्यवहारत एव सुकर। यथा हि मायावी सूत्रसंचाराधिष्ठितं दारुपुत्रकमिदमानयेति प्रयुंक्ते, स च दारुपुत्रकस्तथा करोति। तदा चेतनव्यवहारादिवत् तद्दर्शी बालो व्युत्पद्यते तथेहापि स्यात् । क्रियाव्युत्पत्तिरपि तत एव कुलाल कुविन्दादीनाम्। न्या. कु. २/२ की व्याख्या।

१. जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणः
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्। २/३

आपत्ति नहीं–यही प्रवृत्ति मानव में हो गई है। अतएव मानव भी देश, काल तथा व्यक्ति का विचार नहीं करके स्वभाव विवश होकर पशु की तरह सम्भोग में प्रवृत्त होने लगे हैं। इस तरह जन्म में क्रमशः ह्रास हुआ है।[1]

(ख) पहले सहस्र शाखा वाले चारों वेदों का अध्ययन होता था। पश्चात् दो या तीन शाखा बाले वेदों का अध्ययन होने लगा। अनन्तर शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्दस् निरुक्त तथा ज्योतिष रूप षडङ्ग से युक्त एक वेद का अध्ययन होता हुआ देखा गया और आजकल यदि कोई उसके एक शाखा का भी अध्ययन करता है तो वेदाध्ययन का काम चल जाता है। इस तरह विद्या के अध्ययन में ह्रास हुआ। उक्त कारिका में विद्या के साथ आदि शब्द कहा गया है, इससे वृत्ति तथा धर्म आदि का संग्रह होता है। अतएव वृत्ति तथा धर्म में क्रमशः ह्रासता का प्रदर्शन किया जाता है।[2]

(ग) पहले ब्राह्मण खेतों के कट जाने पर उनमें गिरी बालिओं को बीनकर उञ्छवृत्ति से जीवन–यापन करते थे। ये ही ऋत–वृत्तिक कहलाते थे। पश्चात् अयाचित जो मिला उसी से, और आजकल भिक्षा से तथा वार्ता शास्त्रीय रीति से–खेती, लहना, (व्याज पर रुपया देना) व्यापार तथा पशुपालन से एवं सेवावृत्ति से जिस किसी तरह अपना निर्वाह चलाना आरम्भ किये हैं–इस तरह वृत्ति में क्रमशः ह्रास हुआ।[3]

(घ) सत्ययुग में धर्म, तप, ज्ञान, यज्ञ और दान रूप चार पादों से युक्त था। पश्चात् त्रेता में तप के क्षीण होने पर धर्म का तीन चरण स्थिर रहा। द्वापर में ज्ञान तथा तप की म्लानता से क्रमशः वह दो पदों पर खड़ा रहा और अब कलियुग में केवल दान रूप एक चरण पर वह खड़ा है। इसमें भी वह दुष्ट उपाय से आगत चरणरोग से ग्रस्त अश्रद्धा रूप मन से कलंकित, काम तथा क्रोध आदि कंटक शतक के वेध से जर्जर प्रतिदिन क्षीण होता हुआ लड़खड़ाता ही है। इस रीति से धर्म का ह्रास हुआ।[4]

---

१. पूर्वं मानस्यः प्रजाः समभवन्। ततोऽपत्यैकप्रयोजनमैथुनसम्भवाः ततः कामावर्जनीयसन्निधिजन्मानः। इदानीं देशकालाद्यव्यवस्थया पशुधर्मादेव भूयिष्ठाः। न्या.कु. २/३ की व्याख्या।

२. पूर्वं सहस्रशाखो वेदोऽध्यगायि, ततो व्यस्तः ततः षडंग एक, इदानीन्तु क्वचिदेका शाखेति। न्या. कु. २/३ की व्याख्या।

३. पूर्वं ऋतवृत्तयो ब्राह्मणाः प्राद्योतिषत ततोऽमृतवृत्तयः सम्प्रति प्रमृतसत्यानृतकुशीदपशुपाल्यश्ववृत्तयो भूयांसः। न्या.कु. २/३ की व्याख्या।

४. पूर्वं चतुष्पाद् धर्म आसीत् ततस्तनूयमाने तपसि त्रिपात्, ततो म्लायति ज्ञाने द्विपात् सम्प्रति जीर्यति यज्ञे दानैकपात् । सोऽपि पादो दुरागतादिविपादिका शतदुःस्थोऽश्रद्धामलकलंकितः कामक्रोधादिकण्टकशतजर्जरः– प्रत्यहमपचीय मानवीर्यतया इतस्ततः स्खलन्निवोपलभ्यते। न्या. कु. २/३ की व्याख्या।

पहले ब्राह्मण को ब्राह्मण अतिथि मिलना दुर्लभ था। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति यज्ञ का शेष ही भोजन करता था। पश्चात् क्षत्रिय का अतिथि भी ब्राह्मण होने लगा। क्रमशः वैश्य के घर में भी वह भोजन करने लगा। और आजकल शूद्रान्न का भी भक्षण ब्राह्मण करता है। इस तरह भी धर्म का ह्रास हुआ।[१]

(च) मानव में सामर्थ्य क्रमशः क्षीण होता गया है। अतएव वेद के अध्ययन रूप कार्य में भी ह्रासता देखी जाती है। अध्ययन तथा याग आदि कर्म का क्रमशः ह्रास हुआ ही है।[२] इसी तरह एक दिन ब्रह्मण्ड के नाश होने पर उसके अन्तर्गत प्राणियों का नाश भी अवश्य होगा। अतः उपर्युक्त अनुमान से प्रलय की सिद्धि होती है।

परतः प्रामाण्यवाद तथा प्रलय के सिद्ध हो जाने पर वेद के उपदेष्टा रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। यहाँ पुनः पूर्वपक्षी कहता है कि नित्य तथा नैमित्तिक कर्म और चित्तवृति के निरोध रूप योग[३] से सिद्ध एवं इसी से उत्पन्न धर्म के सहकार से मानस् के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थ के दर्शन में समर्थ, अतएव धर्म तथा अधर्म आदि के प्रत्यक्ष द्रष्टा कपिल एवं हिरण्यगर्भ प्रभृति महर्षि ही वेद का उपदेश लोगों को दे सकते हैं। वे ही संसार रूप अंगार में जलते हुए प्राणियों को देखकर करुणा से द्रवित होकर उन्हें प्रिय तथा हित के उपदेश द्वारा अनुगृहीत कर सकते हैं। इसके लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। नैयायिक के अभिमत ईश्वर में इससे अधिक केवल उपदेश के अनपेक्षित कृमि एवं कीट आदि का ज्ञान रहता है।[४] जिससे लाभ हानि की सम्भावना नहीं है। अतएव पूर्वपक्षी का वक्तव्य यह है कि वेद के उपदेशक रूप में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। वह अन्यथा भी उपर्युक्त रीति से उपपन्न हो जाता है।

इसके उत्तर में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि ईश्वर से अतिरिक्त में किसी तरह यह विश्वास ही नहीं होता है कि वह वेद का उपदेशक हो सकता है।[५] अभिप्राय यह है कि अतीन्द्रित पदार्थों का प्रत्यक्ष भावना से होता है-इसे मानने पर भी यह नहीं माना जा सकता है कि वह सत्य का ही साक्षात्कार कराता है। कामातुर व्यक्ति भावना के द्वारा कामिनी का मिथ्या प्रत्यक्ष कर लेता है। अतएव भावना से

---

१. पूर्वं दुःखेन ब्राह्मणैरतिथयोऽलभ्यन्त, ततः क्षत्रियातिथयोऽपि संवृत्ताः ततो वैश्यावेशिनोऽपि, सम्प्रति शूद्रान्नभोजिनोऽपि। न्या. कु. २/३ की व्याख्या।

२. शक्तेः स्वाध्यायकर्मणः। ह्रासदर्शनतो ह्रासः ।।२/३ ।

३. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (यो. सू. १/२।

४. स्यादेतत् सन्तु कपिलादय एव साक्षात्कृतधर्माणः कर्मयोगसिद्धास्त एव संसारांगारेषु पच्यमानान् प्राणिनः पश्यन्तः परमकारुणिकाः प्रियहितोपदेशे नानुग्रहीष्यन्ति कृतं परमेश्वरेणानपेक्षितकीटादिसंख्यापरिज्ञानवतेति चेत्। न्या. कु. २/३ की व्याख्या।

५. न तदन्यस्मिन्ननाश्वासात्। २/३ न्या. कु.।

अतीन्द्रिय पदार्थ का द्रष्टा वस्तु का यथार्थ उपदेश ही करेगा–इसमें विश्वास नहीं होता है।[1] इसका उपदेश भ्रमात्मक भी हो सकता है। फलतः वेद का उपदेष्टा उक्त महर्षि प्रभृति नहीं हो सकते हैं।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणान्तर से सिद्ध वस्तु को भावना के द्वारा साक्षात्कार करने पर वह यथार्थ ही होगा–यह नहीं कहा जा सकता है। प्रत्यक्ष योग्य वस्तु में इसके सम्भव होने पर भी अप्रत्यक्ष वस्तु में यह सम्भव नहीं है। हिंसा अनिष्ट का साधन है–यह ज्ञान, यद्यपि '**मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि**' इत्यादि वैदिक वाक्यगत भावना से होता है। किन्तु अहिंसा हित साधन है–यह बोध भावना से नहीं होता है।[2]

यदि कहा जाए कि अप्रत्यक्ष वस्तु का यथार्थ साक्षात्कार भावना के द्वारा सम्भव है–इसमें आगम प्रमाण होता है। तो इसका उत्तर यह है कि आगम यदि केवल भावनामूलक है तो उसमें प्रामाण्य ही नहीं है और यदि वह ईश्वर मूलक है तो उसके प्रमाण होने पर भी पूर्वपक्षी की इष्टसिद्धि नहीं होती है। आगम का ईश्वर मूलकत्व ही उसका खण्डनीय है।[3]

दृष्ट वस्तु में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणान्तर की गति देखकर उसके साधर्म्य के बल पर यदि कहा जाए कि अप्रत्यक्ष वस्तु का भी भावना से यथार्थ साक्षात्कार हो सकता है। तो इसके उत्तर में कहना होगा कि जैसे स्वप्न में श्रुत कथा तात्कालिक यथार्थता रखती है वस्तुतः मिथ्या रहती है। इसी तरह दृष्ट वस्तु के साधर्म्य के बल पर अप्रत्यक्ष वस्तु का भावना के द्वारा साक्षात्कार यथार्थ नहीं हो सकता है।[4]

दूसरी बात यह है कि भावना साक्षात्कार का कारण हो ही नहीं सकती है। क्योंकि भावना संस्कार रूप है। अतएव वह स्मरण का कारण होती है तथा अनुभव से जन्य होती है। अननुभूत वस्तु में उसकी गति ही सम्भव नहीं है। भीरु व्यक्ति एक बार चोर तथा सर्प का अनुभव कर लेता है। उसके बाद भावना से उसका साक्षात्कार करता रहता है। किन्तु जो वस्तु अननुभूत है, वह भावना के वश का नहीं होता है।[5]

---

१. तथा ह्यतीन्द्रियार्थदर्शनोपायो भावनेत्यभ्युपगमेऽपि नासौ सत्यमेव साक्षात्कारमुत्पादयति। यतः समाश्वसिमः। न्या. कु. २/३ की व्याख्या।

२. प्रमाणान्तरसंवाददिति चेन्न। अहिंसादिहितसाधनमित्यत्र तदभावात्। न्या. कु. २/३ की व्याख्या।

३. आगमोऽस्तीति चेन्न भावनामात्रमूलत्वेन तस्याऽप्यनाश्वासविषयत्वात्। न्या. कु. २/३ की व्याख्या।

४. एकदेशसंवादेनापि प्रवृत्तिरिति चेन्न। स्वप्नाख्यानवदन्यथापि सम्भवात्। न्या. कु. २/३ की व्याख्या।

५. न चानुपलब्धे भावनाऽपि। चौरसर्पादयो ह्युपलब्धा एव भीरुभिः भाव्यन्ते। न्या. कु. २/३ की व्याख्या।

अपि च याग आदि कर्म तथा चित्तवृत्ति के निरोध रूप योग के बल पर कपिल प्रभृति महर्षि सिद्ध होते हैं। किन्तु कर्म तथा योग का अनुष्ठान उनमें हितसाधनता के ज्ञान से होगा और उस ज्ञान का उपाय तत्काल में विद्यमान नहीं है। अतएव कर्म तथा योग में उन महर्षियों की प्रवृत्ति ही नहीं होगी और उसके बल पर अप्रत्यक्ष वस्तु की भावना के द्वारा साक्षात्कार की तो बात ही दूर रही।[१]

अतएव[२] योग एवं कर्म से सिद्ध **कपिल** आदि सर्वज्ञ के द्वारा वेद का उपदेश सम्भव है, इसके लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है–पूर्वपक्षी का यह कथन युक्ति से कट जाता है। उपर्युक्त रीति से **कपिल** आदि के द्वारा वेद का उपदेश असम्भव है।

यदि पूर्वपक्ष हो कि **कपिल आदि** को वेद के उपदेश नहीं होने पर भी ब्रह्माण्डान्तर में स्थित ब्राह्मण ही ब्राह्मण आदि वर्णो का संचार करके वर्ण विशेष धर्म की व्यवस्था करेंगे। इसके लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं होगी। अतएव वेद के उपदेशक रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती है।[३]

इसका उत्तर यह है कि संचार शक्ति विद्यमान नहीं है। वर्षान्तर संचार ही जब सम्भव नहीं है तब लोकान्तर के संचार की तो बात ही दूर रही। इसमें भी यहाँ ब्रह्माण्डान्तर के संचार की बात चल रही है, जो बहुत ही दूर की बात हो जाती है।[४] यदि कहा जाए कि महर्षि कपिल प्रभृति अणिमा आदि ऐश्वर्य से सम्पन्न होते हैं। अतएव उन लोगों के लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है। ब्रह्माण्डान्तर में वर्णों का संचार करा सकते हैं तो उत्तर यह है कि महर्षि **कपिल** प्रभृति अणिमा आदि से सम्पन्न हैं–इसमें प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। सम्भावना के रहने पर भी उसमें विश्वास ही नहीं होता है। यदि कहा जाए कि **कपिल** आदि के ऐश्वर्य से सम्पन्न होने में तात्कालिक महाजनों का परिग्रह ही प्रमाण होता है। क्योंकि इस परिग्रह की अन्यथा उपपत्ति नहीं होती है। तो यहाँ वक्तव्य यह है कि ऐश्वर्य से सम्पन्न एक ही व्यक्ति को मान लिया जाए, अनेक महर्षियों को ऐश्वर्य से सम्पन्न मानने में प्रमाण नहीं मिलता है। यदि कहा जाए कि एक के ऐश्वर्य से सम्पन्न मानने पर भी उसमें विदेह निर्माण शक्ति तथा अणिमा आदि

---

१. न च कर्मयोगयोर्हितसाधनत्वं कुतश्चिदुपलब्धम् । न्या. कु. २/३ की व्याख्या।

२. योगकर्मसिद्धः सर्वज्ञद्वारको वा धर्मसंप्रदायः स्यात् । किं परमेश्वरकल्पनया। न्या. कु. २/३ की व्याख्या।

३. एतेन ब्रह्माण्डान्तरसंचारिवर्णव्यवस्थया सम्प्रदायप्रवर्तनमपास्तम् । न्या. कु. २/३ की व्याख्या ।

४. संचारशक्तेरभावात् वर्षान्तरसंचरणमेव हि दुष्करम्। कुतो लोकान्तरसंचारः कुतस्तरां च ब्रह्माण्डान्तरगमनम् । न्या. कु. २/३ की व्याख्या।

ऐश्वर्य मान्य होगा। इस तरह कल्पना में गौरव होगा तो कहना यह है कि इस गौरव को किसी भी स्थिति में मानना होगा। इस गौरव से उद्धार सम्भव नहीं है। अनेक महर्षियों के मानने पर भी उन्हें विदेह, निर्माणशक्ति से संपन्न तथा अणिमा आदि से सम्पन्न मानना होगा। फलतः **कपिल** आदि महर्षियो में से एक को ही मान लिया जाए जो ब्रह्माण्डान्तर का संचार करा देगा तो इसका उत्तर यह है कि तब ईश्वर को ही क्यों नहीं मान लिया जाए, जिसमें किसी प्रकार की आपत्ति की सम्भावना भी नहीं रहती है। ईश्वर से अतिरिक्त में तो विश्वास ही नहीं होता है।[१] **'न विधान्तरसम्भवः'** इस कारिकांश के द्वारा **आचार्य उदयन** का यही तात्पर्य विवक्षित है।

○

---

१. अणिमादिसंपत्तेरेवमपि स्यादिति चेन्न। अत्रापि प्रमाणाभावात् । संभावनामात्रेण समाश्वासानुपपत्तेः। आद्यमहाजनपरिग्रहान्यथानुपपत्तिरेवात्र प्रमाणमिति चेत् । न एवम्भूतैककल्पनयैवोपपत्तौ भूयः कल्पनायां गौरवप्रसंगात् । विदेहनिर्माणशक्तेरणिमादिविभूतेश्चावश्याभ्युपगन्तव्यत्वात्। अस्त्वेक एवेति चेत् , न तर्हीश्वरमन्तरेणान्यत्र समाश्वासः । न्या. कु. २/३ की व्याख्या।

अनुच्छेद (४)

कार्यायोजन इत्यादि कारिका की पक्षान्तर में उपस्थापित व्याख्या का विशद विवेचन

मीमांसक के ईश्वरविरोधी पूर्वपक्ष के उत्तर में **आचार्य उदयन** ने कार्यायोजन इत्यादि कारिका की दूसरी व्याख्या प्रस्तुत की है, जो सर्वथा वैदिक कर्मकाण्ड पर आधारित है। इसमें रहस्य यह है कि मीमांसादर्शन वैदिक कर्मकाण्ड का विचार ही अपना विषय मानता है। इसलिए **आचार्य उदयन** ने उसी के सिद्धान्त के अनुकूल युक्तियों द्वारा संसार के कर्त्ता ईश्वर का अस्तित्व उपपन्न किया है।

'क्रियते जन्यते शब्दोऽनेन इति कार्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कार्य पद का अर्थ तात्पर्य होता है। और यह तात्पर्यार्थ वेद के प्रामाण्य का निश्चायक है। वक्ता की इच्छा ही तात्पर्य पदार्थ है। अतएव उस वक्ता रूप में ईश्वर सिद्ध होता है।

'आसमन्ताद् योजनम् कथनम् आयोजनम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर आयोजन पद से वेद का व्याख्यान लिया जाता है और उसके व्याख्याता रूप में ईश्वर उपपन्न होता है। धृति पद से अवधारण लिया जाता है। वेदार्थ का अवधारक ईश्वर होता है। धृति के साथ आदि पद कहा गया है, इससे वेद का अध्ययन विवक्षित है। सर्ग के आदि में वेद का प्रथम अध्येता ईश्वर ही होता है। पद शब्द से ईश्वर वाचक पद लिया जाता है। इसके वाच्य रूप में ईश्वर का अस्तित्व माना जाता है। श्रुति के विभिन्न स्थलों में परमेश्वर पद का प्रयोग उपलब्ध है, जो उसे उपपन्न करता है। प्रत्यय पद विध्यर्थ का वाचक है, जो आप्ताभिप्राय रूप है। उस अभिप्राय के आश्रय रूप में ईश्वर प्रमाणित होता है। वाक्य पद से संसर्गविशेष का प्रतिपादक शब्द विवक्षित है। इसके कारण रूप संसर्गज्ञान का आश्रय ईश्वर होता है। संख्या पद दो तरह से ईश्वर की सिद्धि में हेतु होता है। संख्या से वेद में प्रयुक्त उत्तम पुरुष का अभिधेय अभिप्रेत है, वह ईश्वर होता है। तथा कठकलाप आदि संज्ञाविशेष भी उसका अभिप्राय है। कठ आदि का शरीर धारण करके ईश्वर ने वेद का उच्चारण किया था। अतएव शाखाओं का नाम काठक आदि दिया गया।

मीमांसक विशेष (**प्राभाकर**) के मत में कार्यान्वित पदार्थ में पद की शक्ति रहती है और उस कार्य का अन्वय विधियुक्त वाक्य में साक्षात् होता है तथा अन्य वाक्य में परम्परया अर्थात् विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता के द्वारा । जैसे पथ्य

खाओ, अपथ्य नहीं खाओ- इन वाक्यों में विधि का प्रयोग हुआ है। इसलिए साक्षात् कार्यान्वय होने से पथ्य में प्रवृत्ति एवं अपथ्य में निवृत्ति होती है। आम परिणाम में सुरस होता है, पनस परिणाम में विरस होता है-इन वाक्यों में विधि का प्रयोग नहीं है। अतएव पहले आम का भक्षण एवं पनस का अभक्षण कहकर पश्चात् परम्परया-कार्यान्वयन के ज्ञान से आम में प्रवृत्ति तथा पनस में निवृत्ति होती है। फलतः सुरस तथा विरस का तात्पर्य क्रमशः प्रवृत्ति तथा निवृत्ति में ही है।

इसी तरह '**स्वर्गकामो यजेत्**' इस श्रुति में विधि के प्रयोग रहने से साक्षात् प्रवृत्ति कराने का सामर्थ्य निहित है। एवं '**न कलञ्जँ भक्षयेत्**' इस श्रुति में साक्षात् निवृत्ति कराने का सामर्थ्य निहित है। किन्तु **वायुर्वैक्षेपिष्ठाः देवताः** इस श्रुतिवाक्य में विधि के प्रयोग नहीं रहने से साक्षात् प्रवर्तकत्व या निवर्तकत्व नहीं है। अपि तु वायु शीघ्र फलदायक होता है-इस ज्ञान के होने पर '**वायव्यं श्वेतं छागमालभेत**' इत्यादि विधिवाक्य के साथ सम्बद्ध होने पर उसमें प्रवृत्तिजनकता आती है। इससे प्रमाणित होता है कि भूतार्थ बोधक तथा भाव्यर्थ बोधक श्रुति परम्परया अथवा साक्षात् तात्पर्य के द्वारा ही प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का जनक होती है।[२] अतएव '**कार्यायोजन**' इत्यादि कारिका में कार्य पद से यह तात्पर्य ही विवक्षित है, जो वक्ता की इच्छा रूप है। इसके आश्रय रूप में ईश्वर सिद्ध होता है।

'**तत्परस्य भावस्तात्पर्यम्**' इस व्युत्पति के आधार पर तात्पर्य शब्द की निष्पति होती है। यहाँ विकल्प उठता है कि यह तत्पर पदार्थ क्या है? साध्य, प्रतिपाद्य, प्रयोजन, या उद्देश्य।[३]

इसमें प्रथम कल्प सम्भव नहीं है। स्वजन्य प्रमा के विषय रूप पदार्थ या वाक्यार्थ शब्द से उत्पन्न नहीं होता है। वाक्य का फल भी तात्पर्यार्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि वाक्य का फल वाक्यार्थबोध रूप ही होता है। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति भी तात्पर्यार्थ नहीं है। अन्यथा 'गङ्गायां घोषः'' इस वाक्य से लक्षणा के द्वारा गङ्गा पद का तीर रूप तात्पर्यार्थ नहीं होगा। यदि कहा जाए कि गंगा में घोष वसा है-यह वाक्य प्रवृत्ति तथा निवृत्ति परक ही है। यहाँ पहले गंगा पद के तीर रूप तात्पर्य का बोध कराकर पश्चात् प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का बोध करा सकेगा। तो इसका उत्तर यह है कि जहाँ यह वाक्य तीर रूप तात्पर्य का बोध कराने के लिए प्रयुक्त होता है उस स्थल में

---

१. आम्नायस्य हि भाव्यार्थस्य कार्ये पुरुषप्रवृत्तिनिवृत्ती। भूतार्थस्य तु यद्यपि नाहत्य प्रवर्त्तकत्वम् निवर्तकत्वम् वा। तथापि तात्पर्यतस्तत्रैव प्रामाण्यम् । न्या. कु. ५/६ की व्याख्या।

२. तात्पर्यार्थस्तु चिन्त्यते। तदेव परं साध्यं प्रतिपाद्यम् प्रयोजनमुद्देश्यं वा यस्य, तदिदं तत्परम् तस्य भावस्तत्वम् । न्या. कु. ५/६ की व्याख्या।

प्रवृत्ति तथा निवृत्ति तात्पर्यार्थ नहीं हो सकता है।[1] इसलिए साध्य तात्पर्यार्थ नहीं हो सकता है।

प्रतिपाद्य भी तात्पर्यार्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि पदार्थ या वाक्यार्थ ही प्रतिपाद्य होता है और तात्पर्य को इन दोनों से भिन्न होना चाहिए। पदार्थ या वाक्यार्थ का अविनाभूत अर्थ रूप प्रतिपाद्य ही तात्पर्यार्थ है-यह नहीं कहा जा सकता है. अन्यथा गङ्गायां जलम्' इस वाक्य में जल शब्द का तीर रूप तात्पर्यार्थ का होना ही आपत्ति होगी। यदि कहा जाए कि मुख्यार्थ के बाध होने पर पदार्थ या वाक्यार्थ का अविनाभूत अर्थ रूप प्रतिपाद्य तात्पर्यार्थ है।[2] अतएव जल पद से तीर रूप तात्पर्य का बोध नहीं होगा तो इसका उत्तर यह है कि मुख्यार्थ के बाध नहीं होने पर भी तात्पर्यार्थ का बोध देखा गया है। जैसे 'हे स्वामिन् यदि जाते हो तो जाओ। मार्ग में शुभ हो, किन्तु ईश्वर से प्रार्थना है कि मेरा भी जन्म वहीं हो' जहाँ तुम जा रहे हो। इस पदार्थ में मुख्यार्थ के बोध नहीं होने पर भी स्वामी के गमन का निषेध रूप तात्पर्यार्थ का बोध होता है। व्यापक अर्थ ही तात्पर्य होता है यह नहीं कहा जा सकता है। मंच ही हँस रहा है। इसमें मंच पद से मंचस्थित पुरुष समूह लक्ष्य होता है। इस लक्ष्यार्थ के साथ मंच का व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उक्त लक्ष्य तात्पर्यार्थ होता है। अतएव सिद्ध हुआ कि प्रतिपाद्य भी तात्पर्य नहीं हो सकता है।[3]

प्रयोजन तात्पर्यार्थ नहीं हो सकता है। यहाँ प्रश्न होता है कि किसका प्रयोजन तात्पर्यार्थ होगा? श्रोता का या वक्ता का? जिस विषय में वक्ता का तात्पर्य रहता है, उसी विषय में शब्द का प्रामाण्य होता है। यदि श्रोता के प्रयोजन को तात्पर्यार्थ

१.तत्र न प्रथमः प्रमाणेनार्थस्य कर्मणोऽसाध्यत्वात् । फलस्य च तत्प्रतिपत्तितोऽन्यस्याभावात् । प्रशस्तनिन्दितस्वार्थप्रतिपादनद्वारेण प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं साध्यं परमुच्यते इति चेन्न गंगायां घोष इत्यत्र तीरस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपस्यासाध्यस्यापि परत्वात् । तीरविषये प्रवृत्तिनिवृत्ती साध्ये इति तीरस्यापि परत्वम् इति चेत् न स्वरूपाख्यानमात्रेणापि पर्यवसानात्। न्या. कु. ५/६ ।

२. न द्वितीयः। पदवाक्ययोः पदार्थतत्संसर्गौ विहाय प्रतिपाद्यान्तराभावात् । पदशक्तिसंसर्गशक्ती बिना स्वार्थाविनाभावेन प्रतिपाद्यं परमुच्यते इत्यपि न सांप्रतम्। तदा हि गंगायां जलमित्याद्यपि तीरपरं स्यात् । अविनाभावस्य तादवस्थ्यात् । मुख्ये बाधके सति तत्तथा स्यादिति चेन्न । न्या. कु. ५/६ की व्याख्या।

३. तस्मिन्नसत्यपि भावात् । तद्यथा 'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः मुख्यार्थाबाधनेऽपि वारणे तात्पर्यम् । न च परं व्यापकमेव, अव्यापकेऽपि तात्पर्यदर्शनात् तद्यथा-मञ्चाः हसन्तीति पुरुषे तात्पर्यम् । न च मंचपुरुषयोरविनाभावः नापि पुरुषहसनयोः। न्या. कु. ५/६।

माना जाए तो शब्द का प्रामाण्य उसके अधीन के विषय नहीं होने से, होगा ही नहीं। अन्यथा अतिप्रसंग हो जाएगा। प्रकरण के अनुसार प्रयोजन में भेद होने से अब वाक्यभेद होने लगेगा। जैसे सूर्यास्त हुआ इस वाक्य में ब्राह्मण के लिए सन्ध्योपासन, वेश्या के लिए प्रसाधन, व्यापारी के लिए दूकान का उत्सारण, महिला के लिए घर में दीप दान तथा गृहस्थ के लिए अतिथि का परिग्रह आदि अपेक्षित हो जाते हैं। अतएव उक्त विभिन्न प्रयोजन के अनुसार वाक्य भेद का होना सिद्ध होता है।[१]

यदि कहा जाए कि शब्द का जो अर्थ है उसके साध्य तथा प्रतिपाद्य का प्रयोजन तात्पर्यार्थ होता है तो उत्तर यह होगा कि कार्य तथा ज्ञाप्य के भेद से साध्य के भिन्न होने से तात्पर्य भी भिन्न भिन्न होगें। अतएव पुनः वाक्यभेद रूप दोष होगा ही। जैसे धूम से दो कार्य होते हैं–स्थांन का काला होना तथा मशक का हटना। आद्रेन्धन तथा आग उसके ज्ञाप्य होते हैं। अब, प्रश्न होता है कि इस प्रदेश में धूम है–इस वाक्य का तात्पर्यार्थ क्या होगा। यदि प्रश्न हो कि कार्य तथा ज्ञाप्य के भेद से वाक्यार्थ के साध्य के बहुत प्रकारों के होने पर भी प्रतिपाद्य का जो प्रयोजनीय होगा वही तात्पर्यार्थ रूप में लिया जाएगा, अतएव वाक्यभेद रूप दोष नहीं होगा–तो इसके उत्तर में कहना है कि यह तब सम्भव होता. यदि कोई चेतन इसका नियामक होता। किन्तु ऐसी बात नहीं है।[२] इसलिए सिद्ध होता है कि श्रोता का प्रयोजन तात्पर्यार्थ नहीं हो सकता है।

प्रतिपादक का अर्थात् वक्ता का प्रयोजन यदि तात्पर्यार्थ माना जाए तो मीमांसक के मत में वेद का वक्ता ही नहीं होता है। इसलिए उसके प्रयोजन रूप तात्पर्यार्थ की तो बात ही दूर रही।

फलतः उद्देश्य ही तात्पर्यार्थ होता है, जिस उद्देश्य से शब्द प्रवृत्त होता है, वही उस शब्द का तात्पर्यार्थ है। व्यवहार में देखा जाता है कि उपादान के अभिप्राय से प्रशंसावाक्य का प्रयोग किया जाता है। अतः प्रशंसावाक्य का तात्पर्य उपादान होता है। त्याग के अभिप्राय से निन्दा वाक्य का प्रयोग होता है। अतएव त्याग ही उस वाक्य का तात्पर्यार्थ होता है। इसी तरह वेद में भी मानना होगा। 'तरति मृत्युं तरहि ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' इत्यादि स्तुति रूप अर्थवाद वाक्य से अश्वमेध यज्ञ

---

१. नापि तृतीयः। तद्धि प्रतिपाद्यापेक्षितं प्रतिपादकापेक्षितं वा स्यात्। यस्य यदपेक्षितं तं प्रति तस्य परत्वप्रसंगात्। न्या. कु. ५/६ की व्याख्या।

२. तदर्थसाध्यत्वेनापेक्षानियम इति चेन्न, कार्यज्ञाप्यभेदेन साध्यस्य बहुविधत्वे भिन्नतात्पर्यतया वाक्यभेदप्रसंगात्। धूमस्य हि प्रदेशश्यामलतामशकनिवृत्याद्यनेकं कार्यम्। आर्द्रेन्धनदहनाद्यनेकं ज्ञाप्यम्। तथा चेह प्रदेशे धूमोद्गम इत्यभिहिते तात्पर्यतः को वाक्यार्थो भवेत्? चेतनापेक्षाया नियन्तुमशक्यत्वात्। न्या. कु. ५/६ की व्याख्या।

के प्रशंसा होने से यज्ञ के उपादान रूप उद्देश्य की सिद्धि होती है। '**एष वाव प्रथमो यज्ञानाम् । अन्येन हुत्वा योऽन्येन तमः प्रविशति।**' इस निन्दात्मक अर्थवाद वाक्य से हवन के निषेध रूप उद्देश्य की सिद्धि होती है। यह उद्देश्य वक्ता की इच्छा रूप है। अतएव इस इच्छा के आश्रय रूप में ईश्वर सिद्ध होता है।

यहाँ अनुमान इस तरह से होता है:-

(अ) वैदिक प्रशंसावाक्य उपादान रूप अभिप्राय से युक्त है। प्रशंसावाक्य होने से, आम परिणाम में सुरस होता है।-इस लौकिक प्रशंसावाक्य की तरह।

(आ) वैदिक निन्दावाक्य त्याग रूप अभिप्राय से युक्त है, निन्दा वाक्य होने से, पनस परिणाम में विरस होता है इस लौकिक निन्दा वाक्य की तरह।

अपि च वेद को यदि स्वतन्त्र पुरुष के अभिप्राय से युक्त नहीं माना जाए तो श्रुतार्थापत्ति से शब्द की कल्पना रूप मीमांसक का सिद्धान्त भंग होगा। देवदत्त पीन है, किन्तु दिन में भोजन नहीं करता है। श्रोता यह वाक्य सुनकर वक्ता के अभिप्राय रूप रात में अधिक भोजन करता है-इस वाक्य की कल्पना करता है। सुनने के बाद अर्थापत्ति वाक्य की कल्पना ही मीमांसक का श्रुतार्थापत्ति पदार्थ है।

इसी तरह **तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेघेन यजते** इस वाक्य में विधि की कल्पना वक्ता के अभिप्राय के बिना उपपन्न नहीं होगा। अतएव वेद को स्वतन्त्र पुरुष के अभिप्राय से युक्त मानना होगा। यदि कहा जाए कि उक्त श्रुतार्थापति के स्थल में अर्थापत्ति से रात में अधिक भोजन करता है-इसकी उत्पत्ति ही मान ली जाए। कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। कल्पना करने पर वक्ता के अभिप्राय से युक्त मानना होता है, जो इस वाक्य की उत्पत्ति मानने पर नहीं होगी। इसके उत्तर में कहना है कि मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति को प्रमाण माना गया है और प्रमाण वाक्य का ज्ञापक होता है, उत्पादक नहीं। इसलिए उक्त वाक्यशेष की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। यदि कहा जाए कि वाक्य पूर्व से है ही तो प्रश्न यह उठता है कि वाक्यान्तर की तरह वह उपलब्ध क्यों नहीं होता है। चूँकि उपलब्ध नहीं होता है, अतः सिद्ध होता है कि वह वाक्यशेष पूर्व से विद्यमान नहीं है। यदि कहा जाए कि वाक्यशेष की कल्पना नहीं करके उसके अर्थ की ही कल्पना कर ली जाए तो यह सम्भव ही नहीं है। अर्थ की कल्पना करने पर शाब्दबोध ही नहीं होगा। शाब्दबोध में पद का ज्ञान तथा पद से शक्ति ज्ञानाधीन पदार्थ की उपस्थिति (स्मरण) यह दोनों ही अपेक्षित है। जो केवल अर्थ की कल्पना करने पर नहीं हो सकता है। अन्यथा '**गौः कर्मत्वमानयनं कृतिः**' इस वाक्य से भी शाब्दबोध की आपत्ति हो जाएगी। इसलिए वेद में स्वतन्त्र पुरुष का अभिप्राय निहित है-यह मानना होगा। अन्यथा उक्त रीति से श्रुतार्थापति से शब्द की कल्पना रूप मीमांसक का सिद्धान्त भंग अवश्य होगा। वह स्वतन्त्र पुरुष ईश्वर ही है, जिसका अभिप्राय वेद में निहित है।

वेद का व्याख्यान रूप आयोजन ईश्वर की सिद्धि में हेतु होता है। व्याख्या के बिना कोई भी व्यक्ति वेद का अर्थ नहीं जान सकता है। अल्पज्ञ की व्याख्या में विश्वास नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उसे पूर्वापर रूप प्रसंग के ज्ञान नहीं रहने से व्याख्या में अयथार्थता भी रह सकती है। अतएव सकल वेद वेदांगों का प्रत्यक्ष करने वाला एक व्यक्ति मानना होगा, जो श्रोत्र के द्वारा वेद का प्रत्यक्ष करता है, वेद का अध्ययन करता है, सतत अभ्यास के द्वारा उसका दृढ़ संस्कार बनाता है, तथा बिना अध्ययन का भी वेद वेदाङ्गो का अर्थ जानता रहता है, वही ईश्वर है और उसी के व्याख्यान से वेदार्थ का निश्चय होता है। अन्यथा वेद के अर्थ के विषय में अन्य परम्परा हो जाएगी। ईश्वर के अतिरिक्त कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जिसे इस विश्व का तथा इस सांसारिक व्यवहार का प्रत्यक्ष ज्ञान है। अतएव इतना ही सम्पूर्ण वेद है –यह निश्चय ईश्वर ही कर सकता है। ईश्वर के अतिरिक्त कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन या अध्यापन कर सकेगा। अतः अनुमान होता है कि वेद किसी सकल वेद के ज्ञाता के द्वारा व्याख्यात है, अनुष्ठाता की बुद्धि फिर जाने पर भी अनुष्ठान के निश्चल होने से। जो ऐसा है वह सर्वज्ञ का व्याख्यात है, जैसे मनुसंहिता। सम्पूर्ण वेदों का ज्ञाता ईश्वर ही होता है।

यदि कहा जाए कि वेद का अनुष्ठान कर्त्ता ही उसका उपदेश भी देगा–इसके लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। पूर्व अनुष्ठाता का उपदेश अधुनातन अनुष्ठान चला सकता है। तो इसका उत्तर है कि उसका ज्ञान ही अनियत है। यदि कहा जाए कि वेद की तरह उसका अनुष्ठान भी अनादि है तो इसके उत्तर में दो विकल्प होते है–(क) क्या वेद का अनुष्ठान यादृच्छिक है या (ख) आधुनिक व्यक्ति द्वारा व्याख्यात वेदार्थ से सिद्ध होता है। पूर्वकल्प सम्भव नहीं है। क्योंकि वह निर्मूल है। अपरकल्प में अनियम की आपत्ति होती है। प्राचीन असर्वज्ञ द्वारा किया गया वेद का व्याख्यान प्रमाण हो सकता है और आधुनिक असर्वज्ञकृत वेद का व्याख्यान प्रमाण नहीं है– इसी में युक्ति नहीं मिलती है। इसलिए आयोजन पद से वेद का व्याख्यान रूप अर्थ करने पर उसके व्याख्याता रूप में ईश्वर सिद्ध होता है।

ईश्वर सिद्धि के हेतु रूप में कहा गया पद शब्द से ईश्वर बाचक पद विवक्षित है। वेदों के विभिन्न स्थलों में प्रणव,ईशान तथा ईश्वर आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं, जो ईश्वर के साधक हैं। महिम्नस्तोत्र में कहा गया है कि हे शरण देने वाले! ओम् यह पद भी समष्टि या व्यष्टि रूप में तुम्हारा ही बोध कराता है। प्रणव शब्द के ईश्वर वाचक होने में उपर्यक्त स्तुति वचन ही प्रमाण होता है। इसलिए अनुमान होता है कि प्रणव, ईश्वर तथा ईशान आदि पद (पक्ष) सार्थक है (साध्य) वेद, स्मृति तथा इतिहास आदि में इन पदों का अविरोध पूर्वक प्रयोग होने से (हेतु)। यथा घट पट आदि पद सार्थक होते हैं। इससे उक्त शब्दों के सामान्यतः सार्थक सिद्ध हो जाने पर प्रश्न उठता है कि उन पदों का अर्थ क्या है। इसके निराकरण में कहा जाता है कि जैसे '**यत्र दुःखेन सभिन्नम्**'

इत्यादि अर्थवाद वाक्य से स्वर्ग पद का सुखविशेष अर्थ मीमांसक निर्णीत करते हैं। इसी तरह ईश्वर के विषय में भगवद्गीता में कहा गया ईश्वर जीव से भिन्न होता है। उत्तम पुरुष एवं परमात्मा से वही विवक्षित है, जो तीनों लोकों को अपने में समावेश करके सबों की रक्षा करता है।[१] इस अर्थवाद वाक्य से प्रणव तथा ईश्वर आदि पद का अर्थ संसार का कर्त्ता तथा सर्वज्ञ सिद्ध होता है। इस तरह पद से ईश्वर की सिद्धि होती है।

अपि च **शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान** इत्यादि वृद्धवचन से ज्ञात होता है कि वाक्यशेष[२] अर्थ का निर्णायक होता है। जैसे यव शब्द का प्रयोग आर्यगण दीर्घशूक विशेष में करते रहे हैं और म्लेच्छगण कंगु में। किन्तु '**वसन्ते सर्वशस्यानाम्**' इत्यादि वाक्यशेष से दीर्घशूक विशेष में ही पुरातन परम्परा उसका प्रयोग करती चली आ रही है। इसी तरह ईश्वर के विषय में कहा गया है कि उसके छह अंग हैं-सर्वज्ञता, तृप्ति-अनादिबोध, स्वातन्त्र्य, अलुप्तशक्ति तथा अनन्तशक्ति इन धर्मों से युक्त ईश्वर का ध्यान करना चाहिए-यह वाक्यशेष है।[१] इससे ईश्वर में शक्ति का निर्णय होता है। यहाँ नैयायिक का कथ्य है कि जैसे सुखविशेष रूप स्वर्ग में अर्थवाद रूप प्रमाण मिलता है, इसी तरह सर्वज्ञ ईश्वर में भी अर्थवाद रूप प्रमाण मिलता है।

जो शब्द, वृत्त्यन्तर की अनुपस्थिति में जिस अर्थ में वृद्ध से प्रयुक्त होता है, उसी अर्थ का वाचक होता है। जैसे स्वर्ग पर सुखविशेष रूप अर्थ का बोधक होता है। क्योंकि इसी अर्थ में वृद्ध के द्वारा प्रयुक्त होता है। इसी तरह ईश्वर संसार के आदि कर्त्ता अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतएव वह जगत्कर्त्ता का बोध कराता है।

अपि च, लोक में जैसे अस्मत् शब्द वक्ता का बोधक होता है। इसलिए अचेतन के लिए उसका प्रयोग नहीं देखा जाता है, न केवल आत्मा के लिए वह प्रयुक्त होता है। क्योंकि परात्मा के लिए युष्मद् शब्द का प्रयोग देखा जाता है। उसका प्रयोग कहीं भी परात्मा के लिए उपलब्ध नहीं होता है। अपि तु जो स्वतन्त्र होकर कुछ कहता है, उसी का बोधक अस्मत् शब्द है-यह अन्वय तथा व्यतिरेक से निर्णीत है। इसी तरह वेद में भी अस्मत् शब्द का प्रयोग देखा जाता है, जो ईश्वर का वाचक है। ईश्वर ने ही स्वतन्त्र रूप से वेद का प्रथम उपदेश किया है। यह नहीं कहा जा सकता है कि जिस समय जो व्यक्ति वैदिक अहं शब्द का उच्चारण करता है, वही इस अस्मत् शब्द का वाच्य होगा। अन्यथा 'मामुपासीत' इस वाक्य का उच्चारण जितने व्यक्ति करेंगे, सबों को उपास्य मानना होगा। '**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते**' इस गीता के वचन का पढ़ाने वाला अध्यापक भी सर्वज्ञ होने लगेगा। इससे उपासना के प्रति अव्यवस्था हो जाएगी तथा लोकव्यवहार भी उच्छिन्न हो जाएगा। फलतः अनुवक्ता अस्मत्

---

१. प्रकृतवाक्य से अतिरिक्त वाक्य में प्रकृत वाक्य का उपयोगी अर्थवादात्मक पद समूह वाक्यशेष पद से मीमांसा दर्शन में प्रचलित है।

शब्द का वाच्य नहीं होता है। अपि तु वक्ता ही उसका वाच्य होता है। इसी उपर्युक्त कथा के आधार पर अनुमान होता है कि वेद में प्रयुक्त अस्मत् शब्द (पक्ष), स्वप्रयोक्ता का वाचक है (साध्य), अस्मत् शब्द होने से (हेतु), लौकिक अस्मत् शब्द की तरह (दृष्टान्त), इससे पदात्मक हेतु के द्वारा अस्मत् शब्द के वाच्य रूप में ईश्वर सिद्ध होता है।

पहले ही कहा जा चुका है कि 'प्रत्ययतः' इस कारिकांश से विध्यर्थ विवक्षित है। उसी के विषय में विशेष विवेचना करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि '**स्वर्ग कामो यजेत**' इत्यादि विधि वाक्यों के श्रवण के बाद होने वाली प्रवृत्ति की प्रयोजिका जो इच्छा हैः उसका कारण कृतिसाध्यता का ज्ञान एवं इष्टसाधनता का ज्ञान है, जिसका विषय आप्ताभिप्राय है। अतएव सिद्ध होता है कि विध्यर्थ आप्ताभिप्राय है। किन्तु प्राचीनों का मत है कि विधि जन्य ज्ञान से प्रवृत्ति देखी जाती है। वह चिकीर्षा से होती है। उसका कारण कृतिसाध्यता का ज्ञान एवं इष्टसाधनता का ज्ञान है। उस ज्ञान का विषय कृतिसाध्यत्व एवं इष्ट साधनत्व रूप कार्यत्व है यही विध्यर्थ भी है। और नवीनों का मत है कि इष्टसाधनता का अनुमापक आप्ताभिप्राय विधिप्रत्यय का अर्थ होता है। यही मत पश्चात् मान्य भी हुआ। अतएव आप्ताभिप्राय को कहने वाले आप्त के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है।

उपर्युक्त सिद्धान्त को पुष्ट करने के हेतु विभिन्न मतों को उठाकर उसका खण्डन करते हुए ग्रन्थकार **उदयन** ने कहा है कि कर्त्ता का धर्म विध्यर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि इसमें इष्टहानि, अनिष्ट की प्राप्ति, अप्रवृत्ति, परस्पराश्रयता, विरोध, प्रसिद्ध हेतु का परित्याग तथा संकर रूप सात दोष होते है।

स्पन्द रूप कर्तृ धर्म को यदि विध्यर्थ मानकर प्रवृत्ति का प्रयोजक माना जाए तो '**आत्मानं विजानीयात्**' इस वाक्य में ज्ञान के स्पन्द रूप नहीं होने से प्रवृत्ति नहीं होगी। किन्तु यहाँ प्रवृत्ति इष्ट है। अतएव इष्ट हानि रूप दोष स्पष्ट है। '**ग्रामं गच्छति**' इस वाक्य से गति से स्पन्द का ज्ञान होता है। अतएव विधि के बोधक लिङ्, लोट् तथा तव्यत् आदि के प्रयोग नहीं रहने पर भी प्रवृत्ति होगी, जो इष्ट नहीं है। इसी तरह अनिष्ट की प्राप्ति रूप दोष होता ही है। यत्न रूप कर्तृधर्म को विध्यर्थ मानने पर किसी की कहीं भी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। विधि प्रत्यय लिङ् से भिन्न लट् तथा लिट् आदि तिडन्तों से भी '**भावनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः।**' इस नियम के अनुसार यत्न का बोध होने लगेगा। अतः विधि प्रत्यय के अभाव में अन्य आख्यातों से भी यत्न की प्रतीति होने पर प्रवृत्ति होनी चाहिए जो नहीं होती है। इसलिए यत्न विधि का अर्थ नहीं हो सकता है। 'अप्रवृत्तेः' इस हेतु का यही अभिप्राय है।

इच्छा रूप कर्तृधर्म भी विध्यर्थ नहीं हो सकता है। इसमें अन्योन्याश्रय दोष होता है। विध्यर्थ का ज्ञान इच्छा को उत्पन्न करता है। इसलिए इच्छा के ज्ञान को इच्छा का

उत्पादक मानना होगा। इच्छा के ज्ञान का विषय इच्छा है। विषय अपने ज्ञान के प्रति कारण होता है, इसलिए इच्छा के ज्ञान की उत्पत्ति इच्छा से होगी। इस प्रकार इच्छा से ही उसका ज्ञान उत्पन्न होगा और विध्यर्थ रूप इच्छा के ज्ञान से प्रवृत्ति की हेतुभूत इच्छा उत्पन्न होगी जो अन्योन्याश्रय है। '**विरोधतः**' इस कारिकांश से ग्रन्थकार का यही विवक्षित है।

यदि कहा जाए कि केवल लौकिक प्रत्यक्ष स्थल में ज्ञान के प्रति विषय को कारण माना जाता है। अतएव अलौकिक प्रत्यक्ष तथा शाब्दबोध आदि में विषय की कारणता मान्य नहीं है। अन्यथा अतीत तथा अनागत विषय का शाब्दबोध में भान ही नहीं होगा। इसलिए शाब्दबोध स्थल में ज्ञान के प्रति इच्छा रूप विषय कारण नहीं होता है। अपि तु लिङ् के श्रवण के बाद इच्छा का ज्ञान होता है। इसलिए लिङ् से विध्यर्थ रूप इच्छा का ज्ञान अभिप्रेत है और उससे प्रवृत्ति का कारण रूप इच्छा उत्पन्न होगी। इसमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है।

इसके उत्तर में कहना यह है कि ऐसी स्थिति में प्रवृत्ति के पूर्व स्वरूपतः विद्यमान इच्छा ही प्रवृत्ति के प्रति कारण होती है और लिङ् के ज्ञानकाल में इच्छा स्वरूप सती नहीं है। इसलिए इच्छा का ज्ञान हो जाने पर भी प्रवृत्ति नहीं होगी। 'असत्त्वात्:' इस कारिकांश से यही विवक्षित है।

लिङ् को ही यदि इच्छा का जनक मान लिया जाए तो इसका उत्तर यह होगा कि इच्छा का कारण ज्ञान प्रसिद्ध है। उसको छोड़कर लिङ् को यदि उसका कारण माना जाए तो प्रसिद्ध कारण का त्याग रूप व्यभिचार स्पष्ट ही है। 'प्रत्ययत्यागात्' इस हेतु से यही कहा गया है।

यदि कहा जाए कि फलेच्छा का ज्ञान उपायेच्छा के प्रति हेतु होती है। प्रकृत में सुवादि रूप फल की इच्छा लिङ्र्थ है और वह उपायेच्छा का कारण होती है। इसका उत्तर यह है कि उपायेच्छा के हेतु रूप इष्ट साधनता के ज्ञान को अवश्य मानना होगा और उसका अन्य कारण सम्भव नहीं है। अतएव लिङ् पद ही कारण होगा। अब, लिङ् पद में इष्ट साधनता का ज्ञान तथा फलेच्छा रूप दो अर्थों का संकर होने लगेगा। इसलिए फलेच्छा का ज्ञान प्रवृत्ति का हेतु नहीं माना जा सकता है। 'संकरात्' इस हेतु का उपर्युक्त अभिप्राय ही प्रतीत होता है। इस विचारों से फलित होता है कि कर्त्ता का धर्म विध्यर्थ नहीं हो सकता है।

कर्म का धर्म विध्यर्थ नहीं हो सकता है। '**क्रियते इति कर्म**' इस व्युत्पति के अनुसार यदि फलरूप स्वर्ग को कर्म और उसमें रहने वाले धर्म कार्यत्व को विध्यर्थ माना जाए तो स्वर्ग के साधन में कार्यत्व के ज्ञान को सर्वत्र प्रवृत्ति का हेतु माना जाएगा। फलतः स्वर्ग के असाधन में भी उससे प्रवृत्ति होने लगेगी। इसी अतिप्रसंग दोष के होने के कारण स्वर्ग के धर्म कार्यत्व को विध्यर्थ नहीं माना जा सकता है।

यदि कर्म पद से यहाँ अदृष्ट को लिया जाए और उसका धर्म रूप कार्यत्व को विधि का अर्थ माना जाए तो **स्वर्गकामो यजेत** इत्यादि विधिवाक्य के श्रवण काल में उस अपूर्व की सत्ता माननी होगी। विध्यर्थ के ज्ञान होने पर याग आदि में प्रवृत्त होने के बाद अपूर्व उत्पन्न होता है। कर्म से पूर्व विद्यमान नहीं होने से ही उसका नाम अपूर्व हुआ है। यदि विध्यर्थ रूप में विधि के श्रवण काल में उसका अस्तित्व मान लिया जाए तो उसका अपूर्वत्व ही नष्ट हो जाएगा। इससे सिद्ध होता है कि अपूर्व निष्ठ कार्यत्व विध्यर्थ नहीं हो सकता है।

यदि कहा जाए कि विधि के श्रवण काल में अपूर्व विद्यमान नहीं होता है–यह बात ठीक है। किन्तु वह कार्य है इसलिए कार्यत्व रूप से सामान्यतः शक्तिग्रह हो सकता है, और आवश्यकतानुसार सामान्यतः शक्तिग्रह के द्वारा अपूर्व रूप व्यक्ति विशेष में भी शक्तिग्रह हो सकता है। इसलिए अपूर्व में शक्तिग्रह नहीं होने का दोष नहीं दिया जा सकता है।

इसके उत्तर में कहना यह है कि मीमांसा में चार प्रकार के कर्म माने गये हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध। इनमें से काम्य और नैमित्तिक कर्म फल की कामना से किये जाते हैं। अतएव उनसे फलानुकूल अदृष्ट की उत्पत्ति होती है। परन्तु निषिद्ध और नित्यकर्म स्थल में अपूर्व उत्पन्न नहीं होता है। निषिद्ध कर्म से निवृत्ति में तात्पर्य रहता है तथा नित्यकर्म के अनुष्ठान से फल नहीं मिलता है और इसके नहीं करने पर पाप होता है। अतः निषिद्ध और नित्य कर्मस्थल में अपूर्व का नहीं उत्पन्न होना सिद्ध होता है। यदि अपूर्व के धर्म कर्तृत्व को विधि का अर्थ माना जाए तो नित्य तथा निषिद्ध कर्म स्थलों में प्रवर्तक विध्यर्थ के ज्ञान नहीं होने से प्रवृत्ति नहीं होगी। किन्तु नित्य कर्म में प्रवृत्ति आवश्यक है, जो अपूर्व के धर्म कार्यत्व के विध्यर्थ होने से सिद्ध नहीं होती है।

यदि कर्म से याग आदि क्रिया अभिप्रेत है? और उसके धर्म कार्यत्व को विधि का अर्थ कहा जाए तो यह सम्भव नहीं है। क्योंकि याग आदि क्रिया में भी इष्ट साधनता बुद्धि के बिना तथा अनिष्टसाधनता बुद्धि काल में प्रवृत्ति नहीं देखी गयी है। अतएव वह भी विध्यर्थ नहीं हो सकता है।

कारण का धर्म भी विध्यर्थ नहीं हो सकता है। कारण पद से यहाँ दो अर्थ विवक्षित है–(१) शाब्दबोध का कारण शब्द और (२) स्वर्ग आदि का कारण याग आदि। शाब्दबोध के कारण शब्द का धर्म विध्यर्थ नहीं हो सकता हैं। मीमांसा दर्शन का कहना है कि यजेत आदि में आख्यातांश से आर्थी भावना का लिङंश से शाब्दी भावना का बोध होता है। पुरुष को प्रवृत्त कराने वाला प्रेरक व्यापार शाब्दी भावना है। इसे अभिधा भी कहा जाता है। पूर्वपक्ष होता है कि शाब्दी भावना ही विध्यर्थ है और इसका ज्ञान याग आदि में प्रवर्तक होता है।

अभिप्राय यह है कि पुरुष की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है, कभी स्वेच्छा से और कभी किसी की प्रेरणा से। स्वेच्छा जन्य प्रवृत्ति में इष्टसाधनता का ज्ञान प्रवृत्ति का जनक होता है और जहाँ पर प्रेरणा से प्रवृत्ति होती है उस स्थल में प्रवर्तना का ज्ञान प्रवर्तक होता है। प्रवर्तक निष्ठ व्यापारविशेष ही प्रवर्तना पदार्थ है। चेतन प्रवर्तयिता के स्थल में प्रवर्तक पुरुषनिष्ठ इच्छाविशेष रूप है और अपौरुषेय वैदिक वाक्यों में वक्ता नहीं होने के कारण प्रवर्तक अचेतन शब्दनिष्ठ अभिधा रूप है।

इसका उत्तर यह होता है कि अभिघा या शाब्दी भावना के अस्तित्व में प्रमाण नहीं मिलता है। अतः वह विध्यर्थ नहीं हो सकता है। अभिघा शब्द से अभिघा के ज्ञान होने पर भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। यदि कहा जाए कि अन्य के लिङ्र्थ होने में बाधक होने से परिशेषतः अभिघा को ही विध्यर्थ माना जाता है तो इसका उत्तर यह है कि अभिघा के लिङ्र्थ मानने में भी बाध सम्भव है। इसलिए यह विध्यर्थ नहीं हो सकता है।

स्वर्ग आदि का कारण–याग आदि का धर्म इष्टसाधनत्व भी विध्यर्थ नहीं हो सकता है। '**अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्**' अग्नि का जिसे प्रयोजन है, वह दो काष्ठों को रगड़े–यह कहने पर आकांक्षा होती है क्यों? इसके उत्तर में वक्ता कहता है कि दो काष्ठों का मथन अग्नि का साधन है। (इष्ट साधन है) यहाँ विध्यर्थ के रूप में इष्टसाधनत्व का उपयोग हुआ है और विध्यर्थ भी यदि वही हो तो स्वयं ही साध्य एवं साधन दोनों होगा, जो अनुभव विरुद्ध है।

अपि च **तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां** इत्यादि अर्थवाद वाक्यों से अश्वमेध याग में इष्टसाधनता के ज्ञान हो जाने पर अश्वमेघ याग के विधायक किसी प्रत्यक्ष श्रुति के अभाव में इन अर्थवाद वाक्यों के ही आधार पर **मृत्युब्रह्मत्यासन्तरणकामो ऽश्वमेधेन यजेत** इस आशय के विधिवाक्य का अनुमान कर लेता है, जो शास्त्र सम्मत है। अब विषय यह है कि अर्थवाद वाक्य से इष्टसाधनत्व का ज्ञान हो जाने पर उक्त स्थल में अनुमित श्रुति से भी इष्टसाधनत्व का ही बोध करना सिद्धसाधन है, जो अनुमिति का प्रतिबन्धक है, ऐसे स्थल में पक्षता नहीं रहती है।[१] क्योंकि अज्ञात का ज्ञापक प्रमाण होता है। इष्टसाधनत्व तो अर्थवाद वाक्य से ही ज्ञात है। पुनः अनुमान के द्वारा भी उसी का ज्ञान कहना समुचित नहीं प्रतीत होता है। अतएव इष्टसाधनत्व विध्यर्थ नहीं हो सकता है। अपि च, मध्यम पुरुष में तथा उत्तम पुरुष में लिङ् में क्रमशः आज्ञा तथा अनुज्ञा आदि प्रतीत होती है। उनमें इष्टसाधनत्व अर्थ का अभाव है। अपि च, यदि अध्येषण आदि अर्थ से युक्त लिङ् में इच्छा वाचकत्व है तो पुनः विधिलिङ् में भी इच्छा वाचकत्व ही मानना चाहिए।

अपि च **न कलञ्जं भक्षयेत्** इत्यादि निषेधवाक्यस्थल में यदि इष्टसाधनत्व

---

१. सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता ।

विध्यर्थ हो तो नञ्खै उसी का निषेध होगा। अतएव अर्थ होगा कि कलंज भक्षण इष्टसाधन नहीं है। परन्तु वह तृप्ति का इष्टसाधन है। अतएव इष्टसाधनत्व का निषेध बाधित होता है। फलितार्थ यह हुआ कि स्वर्ग आदि का कारण याग आदि का धर्म इष्टसाधनत्व विध्यर्थ नहीं हो सकता है।

प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के विषय में वक्ता का अभिप्राय ही लिङ् आदि विधि प्रत्ययों से ज्ञात होता है। इसलिए वही विध्यर्थ हो सकता है और उस विध्यर्थ से प्रवृत्ति के विषय याग आदि में कर्त्ता की इष्टसाधनता का अनुमान होता है। अतः उपर्युक्त कथा से वेद में विधिवाक्य आप्ताभिप्राय का बोधक है और उस अभिप्राय का आश्रय ईश्वर होता है। इसलिए मीमांसादर्शन के अनुसार भी **प्रत्ययतः** इस हेतु से ईश्वर सिद्ध होता है।

सम्पूर्ण ही वेद परमेश्वर का वाचक है।[1] यथा पुरुषसूक्त में स्रष्टा के रूप में उसका वर्णन आया है। शतरुद्रीय में उसकी विभूतियाँ वर्णित है। शब्द ब्रह्म रूप से मण्डल तथा ब्राह्मण में, **निष्प्रपंच** रूप से उपनिषद् में, यज्ञपुरुष रूप से मन्त्रविधि में तथा अवतार कथा रूप से (मत्स्य एवं कूर्म आदि दशावतार के रूप से) उपाख्यान में-ईश्वर ही प्रतिपादित हुआ है। अतएव शब्द विधया भी श्रुति ईश्वर के अस्तित्व में प्रमाण होती है। **श्रुतेः** इस कारिकांश में ग्रन्थकार का यही अभिप्राय निहित है।

यद्यपि जैसे स्वर्ग आदि सिद्ध पदार्थों के बोधक वाक्यों का विधि आदि में अन्वय होता है। इसी तरह ईश्वर रूप सिद्ध पदार्थ का बोधक वाक्य उपासना आदि विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता करके ही शाब्दबोध में क्षम होता है। तथापि सिद्धार्थ बोधक वाक्य स्वार्थबोध करके ही किसी विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता करता है। अतएव उस स्वार्थबोध के समय ईश्वर उपपन्न होता है।

यह मीमांसादर्शन का सिद्धान्त है कि वेद में किसी सिद्ध पदार्थ का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। उसमें किसी न किसी क्रिया अथवा क्रियासम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन अवश्य रहना चाहिए। समस्त वेद याग आदि क्रिया का ही प्रतिपादक है। स्वर्ग आदि सिद्ध वस्तुओं का जो वर्णन आता है, वह किसी विधिवाक्य का अंग होता है। किन्तु विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता करने से पहले स्वार्थबोध कर लेता है।

संख्याविशेष से यह उत्तम पुरुष में प्रतीत होने वाली एकत्व आदि संख्याविशेष विवक्षित है। **एकोऽहं बहु स्याम्** इत्यादि वैदिक वाक्यों में उत्तम पुरुष के श्रवण होने से इनके उच्चारण करने वाले स्वतन्त्र पुरुष गत संख्या वाच्य है। उन संख्या से उनके आश्रय भूत ईश्वर की सिद्धि होती है।

अपि च, **सम्यक् ख्यायते अनेनेति** संख्या इस व्युत्पत्ति से वह संज्ञापरक सिद्ध

१. द्र. कुसुमाञ्जलि ५/१६।

होती है। वेदों की शाखाओं की काठक कालापक आदि अनेक विशेष संज्ञाएँ प्रसिद्ध है। वह उनके अध्येताओं के कारण उनके नाम पर नहीं हो सकती है। क्योंकि अध्येताओं की संख्या में आनन्त्य है। तथा पूर्व समय में भी किसी अन्य से इन शाखाओं का अध्ययन सम्भव है। अतएव अप्रत्यक्ष अर्थों का साक्षात्कार करने वाले परम कारुणिक परमेश्वर ने ही सृष्टि के आरम्भ में हमलोगों के अदृष्ट का साहाय्य पाकर काठक आदि शरीरविशेष का परिग्रह करके जिस शाखा का उपदेश दिया है, वह शाखा उस नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस तरह संख्याविशेष हेतु से ईश्वर की सिद्धि उपपन्न होती है।

अनुच्छेद (५)
ईश्वर के अभाव साधक प्रमाणों की अनुपलब्धि से उसके अस्तित्व का समर्थन

आचार्य उदयन ने कुसुमाञ्जलि के तृतीय स्तवक में बौद्ध दार्शनिकों के ईश्वर खण्डन मूलक युक्तियों का उल्लेख एवं उनका खण्डन किया है, जिसका विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि ईश्वर के अभाव साधक प्रमाण की सत्ता उसको सिद्ध नहीं होने देती है।[१] अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि-इन छह प्रमाणों से ईश्वर का अभाव सिद्ध करने का प्रयास पूर्वपक्षियों ने किया है। क्रमशः उपर्युक्त प्रत्येक प्रमाण के द्वारा ईश्वर के अस्तित्वाभाव को पूर्वपक्ष के रूप में उठाकर न्यायसिद्धान्त की दृष्टि से उनका सयुक्तिक निराकरण करना ही वर्तमान अनुच्छेद का उद्देश्य है।

पूर्वपक्ष होता है कि जिस वस्तु का अस्तित्व रहता है, वह उपलब्ध भी होता है। यथा दिन में सूर्य का अस्तित्व निःसन्दिग्ध है। क्योंकि वह हमलोगों के प्रत्यक्ष का विषय होता है। ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतएव इसका अस्तित्व नहीं माना जा सकता है। जो वस्तु रहता है, उसकी उपलब्धि अवश्य होती है- इस तर्क से अनुगृहीत प्रत्यक्ष प्रमाण ही ईश्वर के अस्तित्व में बाधक होता है।

इसके विरोध में यदि कहा जाए कि केवल अनुपब्धि किसी वस्तु के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकती है, अपि तु जो प्रत्यक्ष योग्य वस्तु है, उसकी अनुपलब्धि से उसके अभाव का होना प्रामाणिक है। संसार का कर्त्ता ईश्वर प्रत्यक्ष का योग्य नहीं है। अतएव इसकी अनुपलब्धि से ईश्वर का अभाव नहीं सिद्ध हो सकता है। यहाँ पूर्वपक्षी का प्रतिबन्दी उत्तर यह है कि ऐसी स्थिति में शशशृंग का अस्तित्व भी प्रामाणिक हो जाएगा। आसानी से कहा जा सकता है कि शशशृंग प्रत्यक्ष के योग्य नहीं होने से ही अनुपलब्ध है। फलतः ईश्वर के सिद्ध होने में उपर्युक्त रीति से प्रत्यक्ष प्रमाण बाधक होता है।

---

१. तदभावावेदकप्रमाणसद्भावात् । न्या. कु. ३ स्तवक का आरम्भ ।

अब यहाँ सिद्धान्ती नैयायिक कहता है कि जिस वस्तु में उद्भूत रूप और महत्त्व रहता है उसका प्रत्यक्ष अवश्य होता है। बैल के शृंग में दोनों ही पदार्थ विद्यमान है। अतः शृंग को प्रत्यक्ष का योग्य ही मानना होगा। इसकी अनुपलब्धि से इसका अभाव प्रामाणिक सिद्ध होता है। यहाँ उपर्युक्त आपत्ति का प्रदर्शन सर्वथा युक्तिहीन है। क्योंकि ईश्वर किसी का प्रत्यक्ष नहीं होता है। क्योंकि ईश्वर में उद्भूत रूप का अभाव है। उसकी अनुपलब्धि से ईश्वर का अभाव उपपन्न नहीं हो सकता है। अन्यथा पूर्वपक्षी बौद्ध के मत में भी धर्म तथा अधर्म आदि प्रत्यक्ष के अयोग्य वस्तु की अनुपलब्धि से उन वस्तुओं का अभाव उपपन्न हो जाएगा। फलतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर का अभाव सिद्ध नहीं होता है।

प्रत्यक्ष से ईश्वर के अभाव को नहीं सिद्ध होते देखकर अब अनुमान प्रमाण के आधार पर ईश्वर के अस्तित्वाभाव को सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षी कहता है कि शरीर का सम्बन्ध और प्रयोजन–ये दो कर्तृत्व के व्यापक धर्म है। जो कर्त्ता होता है, वह शरीर से युक्त होता है और उस कार्य के करने में उसका प्रयोजन भी अवश्य रहता है। परन्तु ईश्वर न तो शरीरी है और न सृष्टि के निर्माण में उसका कोई स्वार्थ या कारुण्य रूप प्रयोजन ही है। क्योंकि इसमें यदि उसका स्वार्थ रहता तो वह पूर्णकाम नहीं हो सकता था और अन्य आत्मा के उद्धार की कारुण्य भावना इसलिए नहीं बनती है कि दुःखी प्राणी को देखने के बाद ही करुणा हो सकती है, उसके पहले नहीं। और दुःख संसार काल में ही होता है। अतः करुणा भी संसार काल में ही हो सकती है। किन्तु अभी सृष्टि की उत्पत्ति के लिए ही विवाद उपस्थित है। इसलिए उपपन्न होता है कि सृष्टि के निर्माण में उसका कोई प्रयोजन नहीं है और शरीर का सम्बन्ध भी नहीं है। फलतः वह कर्त्ता नहीं हो सकता है। इसी विषय को हृदय में रखकर पूर्वपक्षी ईश्वर के अस्तित्वाभाव की उपपत्ति में अनुमान उपस्थित करता है कि ईश्वर क्षिति आदि का कर्त्ता नहीं है, क्योंकि वह शरीरी नहीं है तथा वह निष्प्रयोजन है।

इसके विरोध में नैयायिक का वक्तव्य है कि उक्त अनुमान का आश्रय ईश्वर है, जो अभी विवाद का विषय बना हुआ है। अतएव उपर्युक्त अनुमान का हेतु आश्रयासिद्ध नामक हेत्वाभास होने से साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। यदि इससे बचने के लिए ईश्वर का अस्तित्व मान लिया जाए तो जिस प्रमाण से उसकी सत्ता मानी जाएगी वही प्रमाण धर्मिग्राहक होने से उसका क्षित्यादिकर्तृकत्व भी सिद्ध कर देगा। उस दशा में हेतु बाधित विषय होने से बाध नामक हेत्वाभास हो जाएगा। फलतः दोनों प्रकारों से हेत्वाभास होता है। अतएव उपर्युक्त हेतुओं से ईश्वर का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

इसी उपर्युक्त विषय को हृदय में रखकर **आचार्य उदयन** ने कहा है कि प्रत्यक्ष के अयोग्य परमात्मा में योग्यानुपलब्धि रूप अभाव साधक प्रमाण कहाँ घटता है?

जिससे ईश्वर का अभाव सिद्ध हो। योग्यानुपलब्धि को अभावसाधिका मानने पर प्रत्यक्ष के अयोग्य होने से शशशृंग का अभाव अनुपलब्धि से सिद्ध नहीं होगा–यह प्रतिबन्धि भी कहाँ बनती है? क्योंकि प्रत्यक्ष के अयोग्य शशशृंग का बाध नहीं किया जाता है। अपि तु केवल शृंग में शश के सम्बन्ध का निषेध करना इष्ट है। शृंग प्रत्यक्ष का योग्य ही है, और आश्रय के अभाव में अनुमान कहाँ होता है। ईश्वर रूप पक्ष के सिद्ध नहीं होने से उक्त अनुमान भी संगत नहीं हो सकता है।[१]

यहाँ पुनः पूर्वपक्ष होता है कि मिथ्याज्ञानवश अथवा भ्रम से जो लोग ईश्वर को मानते हैं उसी के आधार पर ईश्वर को पक्ष बनाकर उक्त अनुमान किया जा सकता है। इसमें आश्रयासिद्धि का निराकरण हो जाता है–इस अनुमान से ईश्वर में कर्तव्य का अभाव सिद्ध किया जा रहा है। जहाँ ईश्वर विशेष्य है और क्षित्यादि कर्तृत्वाभाव विशेषण। विशेष्यता किसी यथार्थ वस्तु में ही रह सकती है, असत् व्याति से सिद्ध वस्तु में नहीं। क्योंकि विशेष्यता का अर्थ है, विशेषण की आश्रयता, जो यथार्थ पदार्थ में रहती है। दूसरी बात यह है कि यदि अनुमान का रूप बदल कर पूर्वपक्षी कहे कि ईश्वर नहीं है, शरीरी नहीं होने से। तो यहाँ समाधान यह है कि जिसका अभाव होता है, वह उस अभाव का प्रतियोगी होता है। प्रतियोगी अभाव का विरोधी रूप है, अतएव भावात्मक ही होता है। असत्ख्याति से सिद्ध ईश्वर भावात्मक नहीं होने से प्रतियोगी भी नहीं हो सकता है। फलतः सिद्ध हुआ कि ईश्वर विरोधी अनुमान नहीं बनता है।[२]

आचार्य उदयन ने 'व्यावर्त्याभाववत्तैव' इत्यादि कारिका में इसी विषय का प्रतिपादन किया है।

पुनश्च पूर्वपक्षी बौद्ध दार्शनिक पूर्वपक्ष करता है कि आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। आत्मत्व रहने से एवं आत्मा क्षिति आदि का कर्त्ता नहीं हो सकता है, आत्मत्व रहने से, अस्मदादि की तरह। इन अनुमानों से संसार का कर्त्ता ईश्वर स्वतः सिद्ध नहीं होता है। इसके उत्तर में **आचार्य उदयन** ने यहाँ दो विकल्प उपस्थित किए हैं–आत्मा को पक्ष बनाकर उपर्युक्त अनुमान किया गया है, यहाँ प्रश्न होता है कि (१) क्या प्रसिद्ध आत्मा (जीवात्मा) को पक्ष बनाया गया है अथवा (२) अप्रसिद्ध आत्मा (परमात्मा) को? यदि पूर्वकल्प है तो यहाँ सिद्धसाधन होता है या इष्टसिद्धि कहिए। क्योंकि जीव में क्षित्यादिकर्तृकत्व का अभाव नैयायिक को भी मान्य ही है। यदि च

---

१. योग्यादृष्टिः कुतो योग्ये प्रतिबन्धिः कुतस्तराम् ।
क्वायोग्यं वाध्यते शृंगम् क्वानुमानमनाश्रयम् । न्या. कु. ३/१।

२. व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकीह विशेष्यता।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता। न्या. कु. ३/२

दूसरा कल्प है तो ईश्वर के नहीं सिद्ध होने से पूर्ववत् आश्रय की असिद्धि रूप दोष होता है। अथ च उसके अतिरिक्त स्वरूपासिद्धि भी होती है। पक्ष में हेतु के अस्तित्व का ज्ञान अनुमान का प्रयोजक होता है। यहाँ पक्ष के प्रसिद्ध नहीं होने से पक्षवृतित्त्व विशिष्ट हेतु के ज्ञान के भी अभाव होने से हेत्वसिद्धि होती है। फलतः आत्मा को पक्ष बनाकर भी बौद्ध दार्शनिक अभिमत सिद्ध नहीं कर सकता है। इन दो प्रकारों से भिन्न किसी प्रकार का आत्मा है ही नहीं, जिसको पक्ष बनाकर इन दोषों से बचाया जा सके। आत्मत्व जाति को भी पक्ष मानने पर पुनः आश्रयसिद्धि दोष होता है। आत्मत्व जाति सर्वज्ञ तथा सकल जगत् के कर्त्ता रूप व्यक्ति में समवेत नहीं है, जातित्व होने से गोत्व की तरह इस अनुमान में भी आश्रयासिद्धि होती है।[१]

सारांश यह है कि बौद्ध दार्शनिक के उपर्युक्त अनुमान के द्वारा ईश्वर का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है। उपर्युक्त अनुमान में आश्रयसिद्धि से बचने के लिए पूर्वपक्षी यदि आगम सिद्ध अर्थात् वेद प्रतिपादित आत्मा को पक्ष बनाकर उसमें क्षित्यादि कर्तृकत्व का अभाव प्रमाणित करना चाहता है तो इसके उत्तर में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि यदि आगम पूर्वपक्षी की दृष्टि से भी प्रमाण है तो उसी से ईश्वर में क्षित्यादि कर्तृकत्व के सिद्ध हो जाने पर अनुमान द्वारा उसमें कर्तृकत्वाभाव का साधन बाधित विषय होने से बाध हेत्वाभास हो जाएगा। यदि च आगम उनकी दृष्टि में प्रमाण नहीं है तब तो पूर्वोक्त आश्रयासिद्धि दुर्निवार ही है।[२]

पूर्वपक्षी **चार्वाक** का कहना है कि जो प्रत्यक्ष नहीं होता है, उसकी सत्ता भी नहीं है। अनुपलब्धि मात्र वस्तु के अभाव का साधक होती है। यहाँ उपर्युक्त दोष नहीं दिखाया जा सकता है। क्योंकि धर्माधर्म आदि बौद्ध एवं न्यायदर्शन सम्मत पदार्थो के अस्तित्वाभाव रूप आपत्ति का प्रदर्शन **चार्वाक** के लिए आपत्ति नहीं होकर इष्ट ही हो जाता है। इसके मत में अदृष्ट वस्तु की सत्ता वस्तुतः होती ही नहीं है। अतएव केवल प्रत्यक्षप्रमाणवादी यह प्रसिद्ध है। अब इस मत में अनुपलब्धि ईश्वर के अस्तित्व का अभाव सिद्ध कर सकती है। यदि कहा जाए कि इस तरह केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने से धूम देखकर आग का अनुमान होना तथा उस अनुमान से वह्नि के लिए प्रवृत्त होना आदि उच्छिन्न हो जाएगा, तो यहाँ **चार्वाक** कहता है कि सम्भावना मात्र से व्यक्ति आग के लिए प्रवृत्त हो सकता है, इसके लिए अनुमान की आवश्यकता नहीं है। इस पूर्वपक्ष के विरोध में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि सम्भावना का अर्थ सन्देह होता है। वह यहाँ असम्भव है। क्योंकि आग का यदि दर्शन हो जाता है तो भाव पक्ष के निश्चय हो जाने पर सन्देह नहीं हो सकता है।

---

१. इष्टसिद्धिः प्रसिद्धेऽशे हेत्वसिद्धिरगोचरे।
नान्या सामान्यतः सिद्धिर्जातावपि तथैव सा। न्या. कु. ३/४।

२. आगमादेः प्रमाणत्वे वाधनादनिषेधनम्।
आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता।।न्या. कु. ३/५।

क्योंकि एक कोटि के प्रामाण्य का निश्चय संशय का प्रतिबन्धक होता है। यदि च दर्शन नहीं होने से आग के अभाव का निश्चय हो जाता है, तो भी उक्त नियम के अनुसार सन्देह नहीं होगा। इस प्रकार अनुपलब्धि से प्रत्यक्ष के कारण अतीन्द्रिय चक्षुष आदि के असिद्ध हो जाने पर प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं बन सकता है। अभिप्राय यह है कि अतीन्द्रिय चक्षुष् आदि इन्द्रियों की सिद्धि अनुमान से होती है। केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने वालों की दृष्टि से उसकी अनुपलब्धि सिद्ध ही है। अब यदि उसकी सत्ता मान ली जाती है तो व्यभिचारिणी होने से अनुपलब्धि अभाव साधन में हेतु नहीं हो सकेगी। और यदि अनुपलब्धि को व्यभिचारिणी नहीं मानते हैं तो चक्षुष् आदि की अनुपलब्धि से प्रत्यक्ष का होना भी दुर्लभ हो जाएगा।[१]

चार्वाक यदि पुनः शंका करे कि अनुपलब्ध के अभाव साधक नहीं होने पर भी प्रत्यक्ष के अयोग्य उपाधि की शंका से धूम और वह्नि के कार्यकारणभाव में भी व्यभिचार की शंका व्याप्ति के निश्चय का बाधक होगी और तब अनुमान ही उच्छिन्न हो जाएगा। इसके समाधान में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि व्याप्तिग्रह के स्थल महानस आदि का तथा व्याप्तिग्रह के काल में स्थित धूम और वह्नि के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है। अतएव उनके सम्बन्ध के विषय में कोई व्यभिचार नहीं हो सकता है। अब, यदि प्रत्यक्ष के अयोग्य उपाधि की शंका होगी तो वह किसी कालान्तर तथा देशान्तर में स्थित धूम और वहि के सम्बन्ध में सम्भव हो सकता है किन्तु उस धूम तथा वहि का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं होता है, अपितु अनुमान ही शरण है। अतएव यहाँ प्रत्यक्ष के अयोग्य उपाधि की शंका हो ही सकती है। क्योंकि उसके लिए आपको अनुमान मानना होगा और यदि शंका नहीं करना चाहते हैं तो कोई बाधा ही नहीं है। फलतः अनुमान का उच्छेद सम्भव नहीं है।

चार्वाक यहाँ कहता है कि इसे मान लेने पर भी पुनः यह जिज्ञासा रह जाती है कि यदि कोई धूम और बह्नि के अनुमान में अतीन्द्रिय उपाधि की शंका करे तो उसका निवारण कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि धूम यदि वह्नि का व्याप्य नहीं होता तो वह्नि से जन्य भी नहीं होता–इस प्रकार के कार्यकारणभाव मूलक विपक्ष बाधक तर्क से शंका की निवृत्ति होती है। यदि पुनः कहा जाए कि उक्त तर्क के मूल में भी कार्यकारणभाव मूलक व्याप्ति ही निहित है। अतः यहाँ भी पूर्वोक्त शंका उठायी जा सकती है तो समाधान में कहना होगा कि जब तक प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से उसका व्याघात नहीं होगा तब तक तो शंका होती रहेगी। परन्तु प्रत्यक्ष आदि के व्याघात होने पर शंका नहीं हो सकती है। अन्यथा तृप्ति के लिए भोजन में प्रवृत्ति भी नहीं होगी।[२]

---

१. दृष्ट्यदृष्ट्योर्न सन्देहो भावाभावविनिश्चयात्।
अदृष्टबाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम् ।। न्या. कु. ३/६।
२. शंका चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम् ।
व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकावधिर्मतः ।।न्या. कु. ३/७।

यहाँ यह विषय ध्यान देने योग्य है कि इस कारिका की **उदयन कृत** व्याख्या में पूर्वपक्षरूप में बौद्ध दार्शनिक **ज्ञानश्रीमित्र** का ईश्वरदूषणप्रकरण का संदर्भ स्पष्टतः परिलक्षित होता है। यथा ईश्वरसाधक अनुमान में व्याप्ति को असिद्ध करते हुए **ज्ञानश्रीमित्र** ने कहा है कि भावि व्यभिचार उस व्याप्ति का प्रतिबन्धक होगा एवं **आचार्य उदयन** ने पूर्वपक्ष में उठाया है कि शंकित व्यभिचार नहीं हो सकता है। क्योंकि निर्बीज शंका सर्वत्र ही सुलभ है।[१] एवं इस कारिका की व्याख्या में विषय वस्तु तो पूर्वपक्ष रूप में **ज्ञानश्रीमित्र** का ही है।

इस अनुच्छेद के आरम्भ में कहा जा चुका है कि पूर्वपक्षी प्रत्येक प्रमाण के द्वारा ईश्वर का अस्तित्वाभाव सिद्ध करना चाहता है। इसमें प्रत्यक्ष तथा अनुमान पूर्वपक्षी के लिए समर्थ नहीं सिद्ध हुआ। अतः वह अब उपमान प्रमाण के द्वारा ईश्वर का अभाव प्रमाणित करना चाहता है। पूर्वपक्ष होता है कि उपमान ईश्वर के अभाव का साधक है। जैसे दिखाई न देने से शशशृंग आदि का अभाव होता है इसी तरह दिखाई नहीं देने से ईश्वर का अभाव होगा। प्रसिद्ध शाशशृंगाभाव के साधर्म्य से ईश्वराभाव रूप साध्य का साधन ही उपमान प्रमाण के द्वारा ईश्वराभाव को सिद्ध करता है। क्योंकि प्रसिद्ध के साधर्म्य से साध्य का साधन ही उमपान पदार्थ है।[२] इसके उत्तर में **आचार्य उदयन** ने दो पक्षों को लिया हैं। एक तो यह कि वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण माने गए हैं। उपमान को अतिरिक्त प्रमाण नहीं माना गया है। अतएव इस पक्ष में उक्त पूर्वपक्ष का बहुत सीधा उत्तर है कि उपमान प्रमाण ही नहीं है। अतः प्रश्न ही नहीं उठता है कि वह ईश्वर का बाधक भी हो सकता है।

दूसरा पक्ष यह है कि संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध की प्रतीति के लिए नैयायिक ने उपमान को प्रमाण माना है।[३] अतएव उपर्युक्त उपमान का लक्षण संगत होता है। किन्तु वह ईश्वर के अभाव का साधक नहीं हो सकता है। चूँकि उपमान केवल वाच्यवाचक भाव का ग्राहक होता है। अतः वह ईश्वर की सिद्धि में बाधक नहीं हो सकता है। ईश्वर के अभाव का साधन उपमान के सामर्थ्य से बहिर्भूत है।

पूर्वपक्षी कहता है कि शब्द प्रमाण ईश्वर का बाधक होता है। गीता में कहा गया है कि बुद्धितत्त्व के सत्त्व आदि गुणों द्वारा सम्पादित कर्मों को अज्ञानवश चेतन (आत्मा) समझता है[४] मैं करता हूँ। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा में केवल

---

१. भाविव्यभिचारदर्शनेष्वपि तथोपलब्धेः। ज्ञानश्री. नि. पृ. २४३ .। न च शंकित व्यभिचारः। निर्बीजशंकायाः सर्वत्र सुलभत्वात् । न्या. कु. ७ की व्याख्या ।

२. प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् १/१/६।

३. समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरूपमानार्थः । न्या. कु. भा. १/१/६।

४. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ।।गीता ३/२७।

आभिमानिक कर्तृव्य है, परमार्थिक नहीं। और परमात्मा को प्रत्येक विषय के यथार्थ ज्ञान होने से उसमें सृष्टि आदि का आभिमानिक कर्तव्य नहीं रहता है। सारांश यह हुआ कि उक्त गीता रूप शब्द प्रमाण के आधार पर सिद्ध होता है ईश्वर क्षिति आदि का कर्त्ता नहीं है।

इसका उत्तर यह है कि ईश्वर में कर्तृत्व के अभाव का बोधक वाक्य यदि आप्तोक्त नहीं है तो उसमें प्रामाण्य ही नहीं आता है अतएव वह अकिंचित्कर है। और यदि वह आप्त का वाक्य है तो अदृश्य अर्थ का यथार्थ वक्ता अस्मदादि जीव नहीं हो सकते हैं। इसलिए इसके वक्ता को अदृश्य वस्तुओं का द्रष्टा मानना होगा और आत्मा जैसे अदृश्य अर्थ के दर्शन होने पर उस अदृश्य अर्थ के द्रष्टा को सर्वज्ञ भी मानना होगा। फलतः उक्त गीतावाक्य के आधार पर ईश्वर का बाध नहीं किया जा सकता है। अतएव वेद के कर्त्ता रूप में ईश्वर को मानना होगा। यदि मीमांसक यहाँ कहे कि वेद अपौरुषेय है उसका कोई कर्त्ता नहीं है। अतएव वह नित्य एवं निर्दुष्ट होने से स्वतः प्रमाण है। तो इसका उत्तर नैयायिक की दृष्टि से यह है कि **उत्पन्नो गकारः** इत्यादि प्रतीति के द्वारा शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है और वेद शब्द की राशि रूप है, अतएव वह नित्य कदापि नहीं हो सकता है।[१] फलतः वेद के कर्त्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है, जो नैयायिक का सिद्धान्त है।

पुनश्च पूर्वपक्ष होता है कि मान लिया कि ईश्वर वेद के कर्त्ता रूप में सिद्ध होता है किन्तु उपर्युक्त भगवद्गीता वाक्य की तरह अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं, जो ईश्वर को संसार का कर्त्ता नहीं सिद्ध करते हैं प्रत्युत उसका विरोध करते हैं, तो इसका समाधान यह है कि '**मुझसे सब उत्पन्न होता है।**'[२] इत्यादि वाक्यों द्वारा ईश्वर की सत्ता का भी बहुत स्थलों में प्रतिपादन हुआ है। अतएव आगम केवल ईश्वर के अभाव पक्ष में ही नहीं है। प्रत्युत आगम से भी ईश्वर का अस्तित्वसिद्ध होता है। जैसा कि पूर्ववर्ती अध्याय के द्वितीयअनुच्छेद में दिखाया जा चुका है। किन्तु अभाव के आवेदक आगम भी उपलब्ध है। अब प्रश्न उठता है कि परस्पर विरोधी आगमों में किसको मुख्यार्थ परक माना जाए और किसको लाक्षणिक। क्योंकि परस्पर विरोधी दो आगमवाक्य मुख्यार्थ नहीं हो सकते हैं, तो समाधान यह है कि विनिगमक के (एकतर पक्ष के निर्णायक हेतु के) विचार करने पर साधक श्रुतियों को अर्थात् ईश्वर के भावावेदक श्रुतियों को मुख्यार्थ परक मानना होगा। क्योंकि कार्यकारणभावात्मक अनुकूल तर्क उसका साहाय्य करता है और उसके अभाव के आवेदक श्रुतियाँ गौणार्थक सिद्ध होती है। वे ईश्वर के निराकार स्वरूप के

---

१. न प्रमाणमनाप्तोक्तिर्नादृष्टे क्वचिदाप्तता।
अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः। न्या. कु. ३/१६ ।
२. मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते-गीता.।

बोध के लिए कही गई है। ईश्वर के अभाव बोध में उन श्रुतियों का तात्पर्य नहीं है।[1]

पुनः पूर्वपक्ष होता है कि अर्थापत्ति प्रमाण ईश्वर की सिद्धि में बाधक होता है। अनुपपद्यमान अर्थ के दर्शन से उसके उपपादकीभूत अर्थान्तर की कल्पना अर्थापत्ति पदार्थ है। यथा देवदत्त दिन में नहीं खाता है, किन्तु निरोग तथा मोटा ताजा है। यहाँ दिन में नहीं खाने का अनुपपद्यमान अर्थ मोटा ताजा होता है, अतएव उसके उपापादकीभूत अर्थ रात्रि में प्रचुर भोजन करना है–इसकी कल्पना की जाती है, जो अर्थापत्ति है। इसी तरह प्रकृत में पूर्वपक्षी का कहना है कि ईश्वर यदि सर्वज्ञ होता तो वेद आदि द्वारा उपदेश दिए बिना भी मनुष्यों को याग आदि में प्रवृत्त करा सकता था। किन्तु ऐसा नहीं करता है। इसलिए उपदेश की अनुपपत्ति से ईश्वर के अस्तित्व का अभाव सिद्ध होता है। वह बिना उपदेश के स्वयं प्रवृत्त करना नहीं जानता है–यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि इस दशा में उसका सर्वज्ञत्व ही नहीं बनेगा। उपदेश की अनुपपत्ति होने से उसके उपपादकीभूत अर्थ असर्वज्ञत्व की कल्पना अर्थापति प्रमाण से करनी पड़ती है।

इसके विरोध में **आचार्य उदयन** ने कहा है कि कारण के बिना कार्य नहीं होता है। इसलिए प्रमाण रूप वेदोपदेश के नहीं होने पर याग आदि में प्रवर्तक इष्ट साधनता ज्ञान रूप प्रमा नहीं हो सकती है। अन्यथा केवल कर्म या अदृष्ट से संसार की उत्पत्ति होती, ईश्वर उसका कारण नहीं होता। मीमांसक के इस सिद्धान्त में भी यही प्रकार होगा अर्थात् कर्म या अदृष्ट से ही प्रवृत्ति के उपपादन सम्भव हो जाने पर उसके अभिमत प्रमाण भूत वेद का मानना व्यर्थ हो जाएगा।[2]

दूसरी बात यह है कि अर्थापति स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हो सकती है। क्योंकि अव्याप्य की अनुपपद्यमानता नहीं होती है। अतएव जिसको अर्थापत्तिवादी अनुपपद्यमान अर्थ कहता है, वह व्याप्य ही होता है। और अव्यापक उपपादक नहीं होता है, जिसको अर्थापत्तिवादी उपपादकीभूत अर्थ कहता है, वह व्यापक अर्थ ही होता है। इसलिए अनुपपद्यमान अर्थ से उपपादकीभूत अर्थ की कल्पना को व्याप्य से व्यापक का ज्ञान रूप अनुमान ही कहा जा सकता है। फलतः अर्थापत्ति को इस रूप में प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि च अर्थापत्ति को प्रमाण मानने में दुराग्रह है तो पुनः अनुमान को ही प्रमाण नहीं मानिए। अनुमान स्थल में भी अनुपद्यमान धूम से उसके उपपादकी भूत आग की कल्पना को अर्थापत्ति कही जा सकती है। अतः उन प्रसिद्ध

१.नवासौ क्वचिदेकान्तः सत्त्वस्यापि प्रवेदनात्।
निरंजनावबोधार्थो न च सन्नपि तत्परः।। न्या. कु. २/१७।

२. न्या. कु. ३/१८।

उदाहरणों में भी वह समान है।[1] फलतः अर्थापत्ति का प्रमाणान्तरत्व खण्डित हो जाता है।

अनुपलब्धि ईश्वर की सिद्धि में बाधक नहीं हो सकती है-इसका प्रतिपादन यद्यपि इस अनुच्छेद के आरम्भ में ही हो चुका है, तथापि यहाँ उसकी चर्चा इसलिए की जाती है कि वह वस्तुतः प्रमाणान्तर नहीं हो सकती है। अतएव उससे ईश्वर सिद्धि का खण्डन तो दूर की बात रही। अभाव के बोध में अनुपलब्धि को प्रमाण माना गया है। यहाँ नैयायिक का कहना है कि इन्द्रिय से ही अभाव का बोध होता है। अतएव उसे पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अभाव का ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान है और जन्य अपरोक्ष ज्ञान इन्द्रिय जन्य ही होता है। फलतः अभाव के बोध में इन्द्रिय ही कारण होती है।

अनुपलब्धिवादी यदि कहे कि घटाभाव के ज्ञान में अधिकरण का ज्ञान भी आवश्यक है और इस अधिकरण के बोध में इन्द्रिय की शक्ति क्षीण हो जाती है, अतएव इससे अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता है। तो इसका समाधान यह है कि अधिकरण के बोध कराने से इन्द्रिय की शक्ति क्षीण नहीं होती है, वह अभाव का ज्ञान करा सकती है। अन्यथा घट के प्रत्यक्ष में भी घटत्व आदि के ग्रहण रूप अवान्तर व्यापार में शक्ति के क्षय हो जाने पर घट का प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय से नहीं होगा।

अपि च अज्ञात करण जन्य ज्ञान इन्द्रिय से ही जन्य होता है-इस अनुमान के आधार पर भी अभाव का ज्ञान इन्द्रिय जन्य सिद्ध होता है। अपि च नियम है कि अस्मदादि का बाह्य अनुभव करण से (चक्षुष आदि बाह्येन्द्रिय से) उत्पन्न होता है, अतः अभाव का ग्रह भी अनुपलब्धि से नहीं अपितु इन्द्रिय से ही होता है।[2]

नियम है कि जिस इन्द्रिय से जिस द्रव्य का ज्ञान होता है उसकी जाति एवं उसका अभाव उसी इन्द्रिय से गृहीत होता है। भावात्मक प्रतियोगी का ज्ञान यदि इन्द्रिय से होता है तो उसके अभाव का ज्ञान भी उसी से होगा। यदि पूर्वपक्षी कहे कि आश्रय के ग्रहण से इन्द्रिय के अन्यथासिद्ध हो जाने पर अभाव के ज्ञान में इन्द्रिय करण नहीं माना जा सकता है। तो इसका उत्तर यह है कि अधिकरण का प्रत्यक्ष रूप अवान्तर व्यापार में संलग्न इन्द्रिय अन्यथासिद्ध नहीं हो सकता है। अन्यथा चक्षुष इन्द्रिय संयोगरूप अवान्तरव्यापार में संलग्न होने से घट आदि भाव पदार्थ के ग्रहण में अन्यथासिद्ध हो जाएगा। अतएव जो दोष पूर्वपक्षी अभाव के प्रत्यक्ष में प्रस्तुत करता है, वही दोष उसके मत से भाव पदार्थ के प्रत्यक्ष में भी हो जाएगा।

---

१. अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः
न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः ।। -न्या. कु. ३/१९.

२. प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यात् इन्द्रियस्यानुपक्षयात् ।
अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः।। -न्या. कु. ३/२०।

अपि च अभाव के भ्रमस्थल में इन्द्रियगत पित्त आदि दोष ही अभाव का कारण होता है। अतएव उस भ्रम को दुष्ट कारण से जन्य माना जाता है। जैसे कामला रोग से ग्रस्त व्यक्ति शुभ्र शंख को भी पीतवर्ण समझकर कहता है कि शंख उजला नहीं है किन्तु पीतवर्ण है। इससे भी सिद्ध होता है कि अभाव का ज्ञान इन्द्रियजन्य होता है। अपि च भूतल और घटाभाव की विशिष्टबुद्धि अर्थात् अधिकरण तथा आधेय की विशिष्टबुद्धि इन्द्रिय से ही गृहीत होती है। अतः अभाव का बोध इन्द्रिय से सिद्ध होता है।[१] इन हेतुओं से यही सिद्ध होता है कि अनुपलब्धि को प्रमाणान्तर मानने की आवश्यकता नहीं है। अभाव के ज्ञान के लिये पूर्वपक्षी उसे मानता था, जो इन्द्रिय से निश्चित रूप से सम्पादित हो जाता है।

थोड़ी देर के लिए ईश्वर के सिद्ध हो जाने पर भी पूर्वपक्ष होता है कि ईश्वर प्रमाण नहीं हो सकता है। उसका ज्ञान प्रमाण नहीं है। क्योंकि नैयायिक ईश्वर का ज्ञान नित्य मानता है। और प्रमा प्रमाण से जन्य ज्ञान को कहा जाता है, जो ईश्वरीय ज्ञान में नहीं है। ईश्वर का ज्ञान किसी से जन्य नहीं होता है। प्रमा के कर्त्ता नहीं होने से ईश्वर प्रमाता भी नहीं है, वह प्रमा का कारण नहीं है। अतएव प्रमाण नहीं हो सकता है। फलतः ईश्वर सिद्ध होकर भी असिद्ध ही रह जाता है।

इसके उत्तर मे **आचार्य उदयन** ने कहा है कि प्रमाण से जन्य होना प्रमा का लक्षण है, जो ईश्वरीय ज्ञान में भी विद्यमान है। अतएव वह प्रमा होता है। एवं प्रमाश्रयत्व ही प्रमातृता है, जिसमें समवाय सम्बन्ध से प्रमा रहे, वह प्रमाता है। उक्त सम्बन्ध से प्रमा का आश्रय ईश्वर होता है। इसलिए वह प्रमाता भी है। एवं ईश्वर प्रमा के साथ सम्बन्धाभाव के अभाव रूप से अर्थात् प्रमासमवायित्व रूप से सम्बद्ध है, अतएव वह प्रमाण भी होता है।[२] सारांश यह हुआ कि उक्त पूर्वपक्ष निर्मूल है तथा नैयायिक का अभीष्ट ईश्वर सिद्ध होता है।

यदि प्रश्न हो कि नैयायिक सम्प्रदाय प्रमाणों को चार भागों में बाँट दिया है– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, तथा शब्द। अब ईश्वर के प्रमाण होने से यह पञ्चम प्रमाण होगा, अतएव प्रमाण का उपर्युक्त विभाजन संगत नहीं है। तो यहाँ कहना होगा कि प्रमा के कारण रूप प्रमाण चार ही है। अतएव उक्त विभाजन संगत है। ईश्वर प्रमाण अवश्य है , किन्तु यह प्रमा का कारण रूप प्रमाण नहीं है अपि तु प्रमासमवायित्व रूप प्रमाण है।

---

१. प्रतियोगिनि सामर्थ्यात् व्यापाराव्यवधानतः।
अक्षाश्रयत्वाद् दोषाणां इन्द्रियाणां विकल्पनात् ।।न्या. कु. ३।२१।
२. मितिः सम्यक् परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते।। न्या. कु. ४/५ की व्याख्या ।

चतुर्थ स्तवक में **आचार्य उदयन** ने ईश्वर के रहने पर भी वह प्रमाण नहीं है[1] इस विप्रतिपत्ति को उठाकर विधिकोटि का समर्थन तथा निषेधकोटि का खण्डन किया है। यहाँ एक विषय ध्यान देने योग्य है कि **आचार्य उदयन** के व्याख्याकार गण उक्त विप्रतिपत्ति को निषेध कोटि को जैनमत कहते है। किन्तु उपलब्ध जैनग्रन्थों में यह मत नहीं मिलता है, इस स्तबक का प्रतिपाद्य भी मीमांसासिद्धान्त का खण्डन ही प्रतीत होता है। यथा ज्ञातता आदि पदार्थो का सयुक्तिक खण्डन इस स्तवक में किया गया है। वह मीमांसादर्शन का विषय है।

O

---

१. सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात् ।

अनुच्छेद (६)
ईश्वरवाद में आचार्य उदयन की देन- पर्यालोचना

आचार्य **उदयन** का **आत्मतत्त्वविवेक** बौद्धदर्शन के क्षणभंगवाद सिद्धान्त का खण्डन करता है तथा नित्य आत्मवाद का स्थापन करता है। यह ग्रन्थ **ज्ञानश्रीमित्र** के क्षणभंगाध्याय आदि का खण्डनमुखी प्रत्युत्तर है। इसमें प्रसंगवश ईश्वर की चर्चा की गयी है। किन्तु न्यायकुसुमाञ्जलि प्रकरण (कारिका) तथा (गद्य भाग) परमात्मा के स्थापन के लिए ही लिखा गया है। अतएव प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी को आधार मानकर ईश्वर विषयक युक्तियाँ उपस्थित की गई है। ईश्वर के प्रसंग में उससे भिन्न या विशेष विवरण आत्मतत्त्वविवेक में नहीं मिलता है। अतएव पिष्टपेषण जानकर उसका समावेश यहाँ नहीं किया गया है।

न्यायकुसुमाञ्जलि में ईश्वरस्थापन के समय **आचार्य उदयन** ने क्रमशः **चार्वाक**, मीमांसक, बौद्ध, जैन, तथा सांख्य की विप्रतिपत्तियाँ उठायी है, तथा नैयायिक की दृष्टि से प्रत्येक का सयुक्तिक समाधान भी किया है। बौद्धों के ईश्वरवाद के ऊपर नैयायिक का विचार संक्षेपतः इसके तृतीय स्तबक में उपनिबद्ध है। कारिका तथा गद्यभाग में **आचार्य उदयन** ने प्रत्यक्षतः किसी बौद्धदार्शनिक का नाम नहीं कहा है किन्तु विषयचर्चा से विदित होता है कि **ज्ञानश्रीमित्र** का मत ही यहाँ पूर्वपक्ष रूप में स्वीकृत है। इस अध्याय के पञ्चम अनुच्छेद में इसका दिग्दर्शन भी किया गया है।

उदयन के दोनों प्रकरण ग्रन्थों में आत्मतत्त्वविवेक चिरकाल से नैयायिक समाज में अप्रचलित हो गया। इसके ऊपर टीकाग्रन्थ की रचना तथा इसका अध्ययन अध्यापन विगत कितने शताब्दियों में नहीं के बराबर हुआ। किन्तु न्यायकुसुमाञ्जलि अविच्छिन्न रूप से प्रचलित है। इसकी असंख्य व्याख्याएँ हुई। इसका कारिकांश अधिक प्रचलित हुआ। आत्मतत्त्वविवेक अतिशय महत्वपूर्ण ग्रन्थ है तथापि इसके अप्रचलन का कारण यह हुआ कि आत्मा के अस्तित्व को लेकर बौद्धों के साथ नैयायिक का जो मतद्वैध था, दार्शनिक क्षेत्र से बौद्धों के उन्मूलन के साथ ही वह समाप्त हो गया। अपर निरात्मवादी चार्वाक सम्प्रदाय प्राचीन होने पर भी दार्शनिक रूप में विशेष महत्त्व का नहीं रहा। जैन सम्प्रदाय आत्मा का अस्तित्व मानता है। अतएव बौद्धों के उन्मूलन होते ही नैरात्म्यवादियों से लड़कर आत्मस्थापन की आवश्यकता नहीं रही। तथापि आत्मतत्त्वविवेक के ऊपर व्याख्या की रचना कितनी बार हुई है, जो

हमलोगों के समक्ष प्रस्तुत है। यथा शांकरी, दीधिति एवं नारायणी आदि। इसका कारण विषय का गाम्भीर्य तथा **आचार्य उदयन** के प्रति स्वाभाविक श्रद्धा ही है। वस्तुतः परवर्ती काल में आत्मस्थापन का ऐतिहासिक प्रयोजन नहीं रहा।

पक्षान्तर में बौद्ध सम्प्रदाय के उन्मूलित होने पर भी ईश्वरवाद की निषेध कोटि के पोषक कितने सम्प्रदाय विद्यमान रहे। अतएव कुसुमाञ्जलि का ऐतिहासिक प्रयोजन अवशेष रहा। विगत कितने शताब्दियों में ईश्वरवाद के ऊपर प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में **आचार्य उदयन** कृत न्यायकुसुमाञ्जलि की ईश्वरसिद्धि तथा **गंगेश उपाध्याय** कृत ईश्वरानुमानचिन्तामणि आदि ग्रन्थों का भी प्रचार रहा है तथापि युक्ति के गौरव की दृष्टि से न्यायकुसुमाज्जलि का आदर अनुचित नहीं प्रतीत होता है।

तुलना मूलक दृष्टि से अध्ययन करने पर विदित होता है कि कुसुमाञ्जलि की युक्तियों में मौलिकता बहुत स्थलों में सन्दिग्ध है। **उदयन** से पहले भी ईश्वरवाद को लेकर अत्यधिक विचार विमर्श हुआ है। प्रस्तुत प्रबन्ध के पूर्ववर्ती अध्यायों में इसका विवरण दिया गया है। उपलब्ध विभिन्न ग्रन्थों के सन्दर्भ से **आचार्य उदयन** की पंक्तियाँ मिलती है। यह प्रमाणित करता है कि कुसुमाज्जलि में **आचार्य उदयन** ने तत्काल में उपलब्ध युक्तियों का समावेश निपुणता से किया है। कुसुमाञ्जलि में मौलिकता की अपेक्षा संग्रहगत वैशिष्ट्य ही अधिक है। उपलब्ध प्राचीन मतों के साथ कुसुमाञ्जलि की तुलना से यह विषय स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

पहले कहा जा चुका है कि कुसुमाञ्जलि में मुख्यतः तीन दृष्टियों से ईश्वर की सिद्धि की गई है। जगत् के निर्माता रूप में, अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में तथा वेद के उपदेष्टा रूप में। **आचार्य उदयन** ने ईश्वर की सिद्धि में आठ हेतुओं को प्रस्तुत किया है।-

कार्य, आयोजन, धृति, पद, प्रत्यय, श्रुति वाक्य तथा संख्याविशेष। इनमें कार्य, आयोजन, धृति तथा संख्याविशेष रूप हेतुओं से जो ईश्वर की सिद्धि की जाती है, उसका मूल वार्त्तिककार **उद्योतकर** द्वारा प्रतिपादित ईश्वर साधक निम्न निर्दिष्ट अनुमान में उपलब्ध है:-

परमाणुओं की क्रिया, प्रवृत्ति से पहले बुद्धिमान् कारण से अधिष्ठित है, अचेतन होने से।

अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में ईश्वर की सिद्धि में भी वार्त्तिककार की अधमर्णता **आचार्य उदयन** को माननी होगी। क्योंकि वार्त्तिककार कहते हैं। धर्म और अधर्म बुद्धिमान् कारण से अधिष्ठित होकर पुरुष को सुख एवं दुःख का उपभोग कराता है।

प्रत्यय, श्रुति तथा वाक्य रूप हेतुओं से जो अनुमान प्रस्तुत किया गया है तथा ईश्वर की सिद्धि की गई है, उसका मूल **वाचस्पति** की तात्पर्यटीका को कहा जा सकता है। क्योंकि '**मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्**'[१] इस सूत्र का

---

१. न्याय सूत्र २।१।६८

तात्पर्य टीका में प्रतिपादित है कि वर्णाश्रम धर्म तथा इसके आचार आदि की व्यवस्था करने वाला वेद ईश्वर की रचना है, आप्तोक्त होने से, हित एवं अहित की क्रमशः प्राप्ति एवं परिहार के उपाय का उपदेशक रूप में ईश्वर की चर्चा उक्त सूत्र की व्याख्या में **वाचस्पति मिश्र** ने की है। जिसे व्यवहार से ईश्वर की सिद्धि रूप **आचार्य उदयन** के अनुमान का मूल माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त यहाँ और एक विषय द्रष्टव्य है कि बहुत स्थलों में **उदयन** ने कुसुमाञ्जलि की कारिका तथा गद्यभाग में प्राचीन आचार्यों की पंक्तियाँ सामान्य आक्षरिक परिवर्त्तन मात्र करके उद्धृत की है। यह भी उनपर प्राचीनों के प्रभाव का द्योतक है। यहाँ उन पंक्तियों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

(क) यद्येकं निमितं स्यात् वैचित्र्यं न भवेत्। नहि अभिन्नात् कारणात् कार्य-वैचित्र्यमुपपद्यते। तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्।[२] नहि एकरूपात् कारणात् कार्यभेदं पश्यामः।[३]

तुलनीय-एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यं च समस्य न।[४]

(ख) यागादि क्रिया तु आशुतरविनाशिनी न चिरभाविनी स्वर्गाय कल्पते।[५]

तुलनीय-चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना।[६]

(ग) एषा तावत् प्रमेयगतिः। भावाभावौ परस्परविरहात्मानौ भावनिवृत्तेरेववाभावः अभावनिवृत्तेरेव वा भावः न तु भावाभावाभ्यामन्या तयोर्निवृत्तिः।[७]

तुलनीय-परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थिति :।

नहि भावाभावाभ्यामन्यः प्रकारः सम्भावनीयः। परस्परविधिनिषेधरूपत्वात् ।

न भाव इति निषेधमात्रेणैवाभावविधिः। एवं नाभाव इति निषेध एव भावविधिः।[८]

(घ) याऽसौ संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः स उपमानार्थः।[९] गवा गवयसारूप्यप्रतिपत्तेस्तु संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यत इति सूत्रार्थः।।[१०]

तुलनीय- सम्बन्धस्यपरिच्छेद : संज्ञाया : संज्ञिना सह-

प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वात् उपमानफलं बिदुः।[११]

(ङ) अन्य दृष्टमन्यो न स्मरति।[१२] नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति।[१३]

तुलनीयः-नान्यदृष्टं स्मरत्यन्योः---।[१४]

(च) अनादिः संसार इति प्रतिपादितम् ।[१५]

तुलनीयः - सापेक्षत्वात् अनादित्वात्।[१६]

---

१. न्या. सू. २।१।६८। २. तात्पर्य टीका पृ. ५५ ३. न्या. वा. पृ. ९५०।
४. न्या. कु. १।६। ५. ता. टी. पृ. ५५। ६. न्या. कु. १।८
७.ता. टी. पृ. ४७६। ८. न्या. कु. ३।८ उसका गद्य भाग।
९. न्या. वा. पृ. ५३१ १०. वही पृ. १७३। ११. न्या. कु. ३।१०।
१२. न्या.भा, कु. पृ. १८८। १३. वही पृ. ७२७, ८५१, ८७६।
१४. न्या. कु. १।१४। १५. न्या. वा. पृ. ७७, २२१, ७४१। १६. न्या. कु. १।४।

(छ) तथा हि यत्र दुःखेनेत्यादिभिः पदैः स्मारिताः पदार्थाः गुणप्रधानभावेनावस्थिताः संसर्गवन्तः आकांक्षायोग्यतासत्तिमत्वे सत्ति पदैः स्मारितत्वात् । गामभ्याजेति पदस्मारितपदार्थवत्।[1]

तुलनीय– यद्वा एतानि पदानि स्मारितार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणि, आकांक्षादिमत्तत्त्वे सति तत्स्मारकत्वात् । गामभ्याजेति पदवत्।[2]

---

१. ता.टी. पृ. ५३७।

२. न्या. कु. ३।१२ का गद्य भाग।

उदयन के परवर्ती साहित्य में ईश्वरवाद

उपलब्ध प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर न्यायशास्त्र की उत्पत्ति तथा विकास के क्रम की आलोचना में देखा जाता है कि **उदयन** में आकर यह विषय पूर्ण होता है। उदयन के बाद न्यायसाहित्य में ईश्वरवाद की गति तथा प्रकृति का निर्धारण करना यद्यपि स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है। तथापि इस विषय की सामान्य सूचना विहङ्गम दृष्टि से यहाँ प्रस्तुत की जाती है।

उदयन के पश्चात् न्याय ग्रन्थों में ईश्वरवाद प्रधानतः न्यायकुसुमाञ्जलि के व्याख्या ग्रन्थों में एवं सारसंक्षेप ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। परिशुद्धि प्रभृति न्यायग्रन्थों की व्याख्या में ईश्वरवाद का अवतरण हुआ है। **प्रमाणप्रमोद** आदि सारसङ्कलन ग्रन्थों में भी ईश्वरवाद का उल्लेख तथा इस विषय की पुष्टि में युक्तियाँ देखी जाती है।

न्यायकुसुमाञ्जलि के व्याख्या ग्रन्थों को विभिन्न भागों में बाँटा जा सकता है। मूल **कुसुमाञ्जलि** का स्वरूप गद्यपद्यात्मक है। पद्यभाग में युक्तियों का संक्षिप्त उल्लेख तथा गद्यभाग में उल्लिखित विषयों का विचारपूर्वक समर्थन है। जनश्रुति यह है कि प्राचीन मैथिल आचार्य **कुसुमाञ्जलि** मूलग्रन्थ मैथिलेतर छात्रों को पढ़ाते थे किन्तु ग्रन्थ अथवा उसकी प्रतिलिपि अन्यत्र ले जाना निषिद्ध था। फलतः आरम्भिक काल में **कुसुमाञ्जलि** का अध्ययन-अध्यापन प्रधानतः मिथिला में ही सीमाबद्ध रहा। **हरिदास भट्टाचार्य** न्यायालङ्कार ने **कुसुमाञ्जलि** की कारिकाओं को कण्ठस्थ करके मिथिला से नवद्वीप ले गये तथा इसके ऊपर अपनी व्याख्या लिखी। कालक्रम से **कुसुमाञ्जलि** ग्रन्थ के व्याख्यान की एक नवीन धारा चली, जिसमें केवल इसके कारिकाभाग की व्याख्या आती है। साथ ही गद्यपद्यात्मक मूलग्रन्थ के व्याख्यान की धारा भी समान रूप से चलती रही।

मूल धारा के सभी व्याख्या ग्रन्थों का मिलना सम्भव नहीं है। कितने स्थलों में विशिष्ट प्राचीन नैयायिकों की **कुसुमाञ्जलि** व्याख्याओं का उल्लेख मिलता है। किन्तु ग्रन्थ मातृका (MSS) अथवा मुद्रित रूप में उपलब्ध नहीं है। उदाहरणस्वरूप **तन्त्व उपाध्याय** का **कुसुमाञ्जलि-मकरन्द**, जो कि **रुचिदत्त** कृत कुसुमाञ्जलि **प्रकाश** की व्याख्या **मकरन्द** से भिन्न था-उल्लेखनीय है। **पक्षधर जयदेव** ने इस ग्रन्थ के सन्दर्भों को उठाया है।[1] नैयायिक **प्रभाकर** की **कुसुमाञ्जलिव्याख्या** भी अनुपलब्ध है। इसका

---

१. द्रष्टव्य-हिष्ट्री औफ नव्य न्याय इन मिथिला पृ. १३० तथा १३३।

उल्लेख **प्रगल्भाचार्य** के उपमानसंग्रह ग्रन्थ की मातृका में उपलब्ध है।[1] **शङ्कर मिश्र** ने अपनी व्याख्या **कुसुमाञ्जलि**-आमोद में उपर्युक्त **मकरन्द वर्धमान** कृत **प्रकाश** तथा **परिमल** नामक न्यायकुसुमाञ्जलि की अपर प्राचीन व्याख्याग्रन्थ का उल्लेख किया है। यह परिमल भी उपलब्ध नहीं है। इस परिमल के लेखक **दिवाकर उपाध्याय**[2] थे। इस ग्रन्थ का सन्दर्भ **वासुदेव सार्वभौम** की **अनुमानमणिपरीक्षा** तथा **रुचिदत्त कृत मकरन्द** में उठाया गया है। पत्तनभण्डार (गुजरात) के मातृकाविवरण में इस **परिमल** की खण्डित मातृका की चर्चा है।[3]

कुसुमाञ्जलि के उपलब्ध व्याख्या ग्रन्थों में **वरदराज** (खृ. ११८५) की **बोधनी** का नाम प्रथम आता है। इसका प्रथम तीन स्तबक पहले सरस्वती भवन ग्रन्थमाला (काशी) से प्रकाशित हुआ और पश्चात् मिथिला विद्यापीठ (दरभंगा) से सम्पूर्ण व्याख्या **डा. महाप्रभु लाल गोस्वामी** ने प्रकाशित की है। **उदयन** के आशय को समझाने में यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। **वर्द्धमान उपाध्याय** (खृ. १२५०) का कुसुमाञ्जलि **प्रकाश** सबसे अधिक प्रचलित हुआ। यह पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ है। नव्यन्याय की शैली में **वर्द्धमान** ने इसको लिखा है। इसमें इन्होंने अपने पिता **गङ्गेश उपाध्याय** के **चिन्तामणि** ग्रन्थ का सन्दर्भ समूह यत्र तत्र उठाया है। **भगीरथ ठक्कुर** ने इस **प्रकाश** के ऊपर प्रकाश परीक्षा नामक उपव्याख्या का निर्माण किया। इन्हीं का अपर नाम **मेघ** था। अतएव इनका ग्रन्थ भी मेघ तथा उसके पर्याय **जलद** आदि नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रकाश की अपर उपव्याख्या **मकरन्द रुचिदत्त** की है। यह दोनों ही **चौखम्बा संस्कृत** ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है। **शङ्करमिश्र** ने कुसुमाञ्जलि की **आमोद** व्याख्या लिखी जिसका परवर्ती व्याख्या ग्रन्थों में विशिष्ट स्थान है।कलकत्ता विश्वविद्यालय से आशुतोषग्रन्थमाला में इसका प्रकाशन हुआ है। मैथिलेतर आचार्यों में **गुणानन्द विद्यावागीश** की मूलकुसुमाञ्जलि की व्याख्या **तात्पर्यविवेक** विशेष उल्लेखनीय है। यह भी आमोद के साथ ही कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। आजकल मूलग्रन्थ का अध्ययन तथा प्रचलन बढ़ रहा है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र **धर्मदत्त (बच्चा) झा** की कुसुमाञ्जलि **टिप्पणी** तथा दक्षिणात्य पण्डित आचार्य **वीरराधव कृत कुसुमाञ्जलि** व्याख्या उक्तकथा के साक्षी रूप में उपस्थित है। पण्डित **तारानाथ तर्कतीर्थ** तथा पण्डित **सतीन्द्रनाथ तर्कतीर्थ** भी कुसुमाञ्जलि की व्याख्या लिखी हैं। इसका प्रचार तथा प्रसार विभिन्न आधुनिक भाषाओं के द्वारा भी हो रहा है। काशिराज के पण्डित **श्यामाकान्त तर्कपञ्चानन** ने वरदराज की टीका के आधार पर कुसुमाञ्जलि का **बङ्ला अनुवाद** किया। इसका प्रथम स्तवक **त्रिशूल पत्रिका** में प्रकाशित हुआ था। अँग्रेजी भाषा में **रवितीर्थ** ने इसका अनुवाद करके आद्यार लाइब्रेरी से प्रकाशित

१, द्रष्टव्य वही पृ. ७५।   २. द्रष्टव्य वही पृ.७२।

३. द्रष्यव्य उक्त ग्रन्थ का भाग १ भूमिका पृ. ४४।

किया है। हिन्दी भाषा में कुसुमाञ्जलि का **अनुवाद** पण्डित **दुर्गाधर झा** ने किया है। इस हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन **संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी** से हुआ है।

कारिका भाग के व्याख्याग्रन्थों में **हरिदास भट्टाचार्य** न्यायालङ्कार के ग्रन्थ की चर्चा की जा चुकी है। इसके ऊपर आधुनिक काल में **म. म. चन्द्रकान्ततर्कालङ्कार तथा म.म. कामाख्यानाथ तर्कवागीश** ने उपव्याख्याएँ लिखी है, जो प्रकाशित है। हरिदासी व्याख्या का प्रचार प्रायः भारत के प्रत्येक प्रान्त में तथा इसके बाहर भी है। इसका अंग्रेजी अनुवाद **इ. वी. कावेल महोदय** तथा **पारेख** महाशय ने किया है। **आचार्य विश्वेश्वर** तथा **डा. श्री नारायण मिश्र** ने इसकी हिन्दी व्याख्या की, जो चौखम्बा वाराणसी से प्रकाशित है। **म.म. रामकृष्ण तर्कतीर्थ** ने इसका मर्मार्थ **कुसुमाञ्जलि सौरभ** में उद्‌घाटित किया है। **रामभद्र सार्वभौम** की कुसुमाञ्जलि कारिका व्याख्या एक समय में वङ्गाल में अधिक प्रसिद्ध हुई थी। इसका प्रकाशन **आशुतोष ग्रन्थमाला में कलकत्ता विश्वविद्यालय** से हुआ है। **रघुदेवन्यायालङ्कार** की कुसुमाञ्जलि कारिका व्याख्या सरस्वतीभवन काशी में तथा जम्मू के मातृकाभवन में सुरक्षित है। **रुद्रन्यायवाचस्पति** की कुसुमाञ्जलि कारिका व्याख्या सरस्वती भवन काशी में मातृका रूप में उपलब्ध है। **जयराम न्यायपञ्चानन** कृत व्याख्या की पाण्डुलिपि काशी तथा तन्जोर में उपलब्ध है।[१] वासुदेव सार्वभौम कृत व्याख्या एक समय में अधिक प्रसिद्ध हुई थी।[२] **भेनिश** महाशय ने अपने **मातृका** विवरण में **रघुनाथ शिरोमणि** कृत व्याख्या का उल्लेख किया है।[३] **कीलहौर्न** महोदय ने **गदाधर भट्टाचार्य** कृत व्याख्या का विवरण दिया है।[४] **चन्द्रनारायण न्याय ननकृत** व्याख्या की मातृका मिरजापुर (उत्तरप्रदेश) में मिली थी।[५] **शिवचन्द्र सार्वभौम** की व्याख्या का अंश विशेष **विद्योदय**[६] पत्रिका में प्रकाशित हुआ था।

न्याय सम्प्रदाय में ईश्वरवाद के विषय में **उदयन** की युक्तियाँ **गङ्गेश उपाध्याय** की ईश्वरानुमान चिन्तामणि में नवीनरूप धारण करके आविर्भूत हुई किन्तु तत्त्वचिन्तामणि के अन्यान्य भागों की अपेक्षा इसका प्रचलन सीमित रहा। काशी तथा नवद्वीप के प्रसिद्ध विद्वान् **जयनारायण तर्कपञ्चानन** के **तर्करत्नावली** नाम के स्वतन्त्र ग्रन्थ में ईश्वर साधक युक्तियों का संकलन किया है। **चित्रधर शर्मा** मैथिल नैयायिक ने **प्रमाणप्रमोद** नामक ग्रन्थ में ईश्वर साधक युक्तियाँ प्रदर्शित की है। उपर्युक्त ईश्वरवाद मूलक ग्रन्थों की सूची प्रधानतः बङ्गाल तथा मिथिला में प्रचलित ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत हुई है। इति

---

१. द्रष्टव्य कैटलाग औफ मैनस्क्रिप्ट पृ. १६०।

२. द्रष्टव्य सर्वे औफ मैनस्क्रिप्टस सेन्ट्रल प्रोभिन्स (१८७८) पृ. १४४।

३. कलकत्ता से प्रकाशित।

४. द्रष्टव्य हिस्ट्री औफ इण्डियन लौजिक पृ. ४८१।

५. द्रष्टव्य वही पृ. ४७८ ।

६. कलकत्ता से प्रकाशित।

उद्धृत आचार्य

सन्दर्भ ग्रन्थ

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन	समय
अणुभाष्य	आचार्य वल्लभ	निर्णय सागर प्रेस (बम्बई)	संवत् १९८४
अथर्ववेद			
अथर्वशिरस् उपनिषद्			
अनुमान गादाधारी	गदाधर भट्टाचार्य	काशी	
अनुमान जागदीशी	जगदीश तर्कालंकार	काशी	
आत्मतत्त्वविवेक	आचार्य उदयन	एशियाटिक सोसाइटी	१९३९ ई.
ईश्वर भंगकारिका	शुभगुप्त	म.म. विधुशेखर भट्टाचार्य कृत तिब्बती से संस्कृत अनुवाद की पाण्डुलिपि	
उत्तररामचरितम्	महाकवि भवभूति	निर्णयसागर प्रेस	
उपस्कार	शंकर मिश्र	एसियाटिक सोसाइटी	शक १८६१
ऋग्वेद (पुरुषसूक्त)			
कौण्डिन्य भाष्य	राशीकर	त्रिवेन्द्रम संस्कृत सिरीज	१९४० ई.
गणकारिका व्याख्या रत्न,	भासर्वज्ञ	बड़ोदा	
छान्दोग्य उपनिषद्		गीता प्रेस	सं. २०१३
ज्ञानश्रीमिश्र,निबन्धावली	ज्ञानश्री मित्र	पटना, जायसवाल इन्टीच्यूट	१९५९
तत्त्ववैशारदी	वाचस्पति मिश्र	बम्बई भारतीय विद्याभवन	
तत्त्व संग्रह	शान्तिरक्षित	जी.ओ.ए. बडोदा	१९२६
तत्त्वसंग्रहपंजिका	कमलशील	जी.ओ. एस. बड़ोदा	१९२६ –४४ ई.
तात्पर्यटीका	वाचस्पति मिश्र	कलकत्ता	१९२६ –४४ ई.
तात्पर्यपरिशुद्धि	उदयन	प्रो. श्रीअनन्तलाल ठाकुरकृत सम्पादन	६७ ई.

तात्पर्यविवरणपंजिका	अनिरुद्ध	प्रो. श्री अनन्तलाल ठाकुरकृत पाण्डुलिपि	
धर्मोत्तरप्रदीप	दुर्वेक मिश्र	जायसवाल इन्स्टीच्यूट पटना	१९५५
निम्बार्कभाष्य	आचार्यनिम्बार्क		
न्यायकन्दली	श्रीधर भट्ट	विजयनगर संस्कृत सिरीज	१९५१
न्यायकुसुमांजलि	उदयन	काशी	
न्यायकुसुमांजलि	वरदराज	काशी	
न्यायकुसुमांजलि बोधिनी प्रकाशमकरन्द	वर्धमान तथा रुचिदत	काशी	
न्यायकुसुमांजलि आमोद	शंकर मिश्र	कलकत्ता संस्कृत सिरीज	१९५४ -६४ ई.
न्यायकुसुमांजलि विवेक	गुणानन्द	कलकत्ता संस्कृत सिरीज	१९५४ -६४ ई.
न्यायकुसुमांजलि	हरिदास	चौखम्भा काशी	
न्यायभाष्य	वात्स्यायन	कलकत्ता	१९३६ -४४ई.
न्यायभाष्य का अंग्रेजी अनुवाद	डां. गंगानाथ झा	इलाहाबाद	
इसका बंगानुवाद	म.म. फणिभूषण	तर्कवागीश वंगीय साहित्य परिषद	१३३३ वंगाब्द
न्यायमंजरी	जयन्त भट्ट	चौखम्भा काशी	१९३६
न्यायवार्तिक	उद्योतकर	कलकत्ता	१९३६-४४
न्यायविनिश्चयविवरण	प्रभाचन्द्र		
न्यायसूत्र	गौतम	कलकत्ता	१९३६-४४
न्यायसूत्रवृत्ति	विश्वनाथ	कलकत्ता	१९३६-४४
न्यायागमानुसारिणी	सिंहसूरि	लब्धिसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला	११४८
न्यायालंकार	अभयतिलक	प्रो. श्री अनन्तलाल ठाकुर कृत पाण्डुलिपि	
पदार्थधर्मसंग्रह	प्रशस्तपाद	विजयनगर संस्कृत ग्रन्थमाला	१९५१
पाणिनि सूत्र	आचार्य पाणिनि	काशी	
पाशुपत सूत्र	त्रिवेन्द्रस	संस्कृत सिरीज	१९४०

प्रभाकरविजय	नन्दिकेश्वर	संस्कृत साहित्य परिषद कलकत्ता	
प्रमाणवार्तिक	धर्मकीर्ति	के.पी. जायसवाल इन्स्टीच्यूट पटना	१९५२
प्रमाणवार्तिकव्याख्या	प्रज्ञाकरगुप्त	के.पी. जायसवाल इन्स्टीच्यूट पटना	१९५३
प्रमाणवार्तिकव्याख्या	कर्णकगोमिन्	इलाहाबाद	१९४३
प्रमेयकमलमार्तण्ड	प्रभाचन्द्र	निर्णयसागर	१९४१
बुद्धचरित	महाकवि	अश्वघोष	
वृहदारण्यक उपनिषद्		गीता प्रेस	
भारतीय तत्त्वविद्या	पं. सुखलालजी	संघवी अहमदाबाद	१९६०
भारतीय दर्शन का इतिहास मनुस्मृति	डा. दासगुप्त		
महाबोधिजातकमहाभारत	पतञ्जलि	काशी	
माण्डूक्य कारिका	गौड़पाद		
मध्वभाष्य	आचार्य मध्व	वासुमती प्रकाशन कलकत्ता	१३४५, १३४८. (बंगाब्द)
युक्तिदीपिका	लेखक अज्ञात	कलकत्ता	१९३८
योगभाष्य	महर्षि व्यास	बम्बई	
योगसूत्र	पतंजलि	बम्बई	
रघुबंश	महाकवि कालिदास	बम्बई	
रत्नकीर्ति निबन्धावली	के.पी. जायसवाल	इन्स्टीच्यूट पटना	
बंगे नव्यन्याय चर्चा	दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य	बंगीयसाहित्य परिषद् कलकत्ता	
वादन्याय	जर्नल,	बिहार ओरिसा रिसर्च सोसाइटी पटना	१९३३,३६
विधिविवेक	मण्डन मिश्र	पण्डित पत्रिका, काशी	
विपचितार्था व्याख्या	शान्तरक्षित	जर्नल वि ओ. रिसर्च सोसाइटी	१९३३,३३
वेदान्तसूत्र	व्यास	निर्णयसागर प्रेस	१९१७

वैशेषिकदर्शन	मुनिजम्बु	विजय का संपादन	१९६१
वैशैषिकसूत्र	कणाद	एसियाटिक सोसाइटी	१८६१ (शक.)
व्योमवती	व्योमशिव	चौखम्बा, काशी	१९२४
शारीरक भाष्य (शांकरभाष्य)	आचार्य शंकर	निर्णय सागर प्रेस	१९१७ ई.
शास्त्रवार्तासमुच्चय	हरिभद्र सूरि	निर्णयसागर प्रेस	वि.सं. १९८५
श्री भाष्य	आचार्य रामानुज		
श्रौत उपनिषद् गीता प्रेस			
श्रीमद्भागवत् गीता		कलकत्ता वंगाब्द	१३४५
मधुसूदनी सहित			२००९
श्वेताश्वतर उपनिषद्			
सम्मति टीका की व्याख्या			
तत्त्व बोधविधायिनी	पूना		१९५१
सर्वदर्शन संग्रह			
सर्वदर्शन संग्रह	चौखम्बा प्रकाशन	वाणारसी	
सुश्रुतसंहिता	कलकत्ता		शक. १८४८
सेश्वरमीमांसा	वेदान्तदेशिक		
सांख्यतत्त्व कौमुदी	वाचस्पति मिश्र	(पंचाननतर्करत्न संपादित, कलकत्ता)	१३१६ (वंगाब्द)
सांख्यप्रवचनभाष्य	विज्ञानभिक्षु		
सांख्यसूत्र			
स्याद्वादमंजरी	मल्लिषेण सूरि	रामचन्द्र जैन ग्रन्थमाला	१९३५ ई.
षड्दर्शन समुच्चय	गुणरत्न सूरि	एसियाटिक सोसाइटी	
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लौजिक,	शतीशचन्द्र विद्याभूषण	कलकत्ता	वि.सं. १९२१
हिस्ट्री ऑफ नव्यन्याय इन मिथिला	दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य	दरभंगा	१९५८

संकेत सूची

कन्दली. न्यायकन्दली
का. कारिका
कौ. ब्रा. कौषीतकी ब्राह्मण
कौ. भा. कौण्डिन्यभाष्य
गण का. व्या. गणकारिका व्याख्या
छा. उ. छान्दोग्य उपनिषद्
जी. ओ. एस. गायकवाड ओरिएन्टल सिरीज
जे. ओ. एस. बी. जर्नल औफ एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल
त. सं. का. तत्त्वसंग्रहकारिका
ता.प. तात्पर्यपरिशुद्धि
तृ. अ. तृतीय अध्याय
न. प. द. नकुलीश पाशुपत दर्शन
नि. निबन्धावली
नि. भा. निम्बार्कभाष्य
न्या. कु. न्याय कुसुमाञ्जलि
न्या. कु. आ. न्यायकुसुमाञ्जलि आमोद
न्या. ता. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका
न्या. भा. न्यायभाष्य
न्या. म. न्यायमञ्जरी
न्या. वा. न्यायवार्त्तिक
न्या. सू. न्यायसूत्र
न्या. सू. ता. टी. न्यायसूत्रतात्पर्यटीका
पा. सू. पाणिनिसूत्र
पात. सू. पातञ्जलसूत्र
पा. महाभाष्य. पातञ्जलमहाभाष्य
पाशु. सू. पाशुपतसूत्र
प्र. वा. प्रमाण वार्त्तिक

प्र. वा. प्र. प्रमाण वार्त्तिक की प्रज्ञाकर गुप्त कृत व्याख्या
म. भा. महाभारत
मा. का. माण्डूक्यकारिका
मी. सू. मीमांसासूत्र
यु. दी. युक्तिदीपिका
वि. वृ. विश्वनाथ वृत्ति
वे. सू. वेदान्तसूत्र
वै. द. वैशेषिकदर्शन
वै. सू. वैशेषिकसूत्र
व्यो. व्योमवती (प्रशस्तपाद भाष्य की व्याख्या)
शा. भा. शाङ्करभाष्य
श्वेता. उप. श्वेताश्वतर उपनिषद्
स. द. सं. सर्वदर्शनसंग्रह
सां. का. सांख्यकारिका
सां. सू. सांख्यसूत्र
सा. सु. सारस्वती सुषमा